श्रीमातृवाणी

शिक्षा

श्रीअरविन्द आश्रम, पांडिचेरी

श्रीमातृवाणी

शिक्षा

श्रीअरविन्द आश्रम
पांडिचेरी

प्रथम संस्करण : १९८०
द्वितीय आवृत्ति : २०००

मूल्य : १५०.००

खंड १२

ISBN 81-7058-584-8

© श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट, पांडिचेरी २०००

प्रकाशक : श्रीअरविन्द आश्रम प्रकाशन विभाग, पांडिचेरी - २
मुद्रक : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पांडिचेरी - २

माताजी

प्रकाशकीय वक्तव्य

इस खंड में माताजी के शिक्षाविषयक लेखों, संदेशों, पत्रों और वार्तालापों का संग्रह है। 'श्रीअरविन्द अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा-केंद्र' के वार्षिकोत्सवों पर मंचित किये जाने के लिये लिखे गये तीन नाटकों का भी इसमें समावेश है।

पहला भाग : लेख

ये लेख पहले-पहल १९४९ से १९५५ के बीच 'शारीरिक शिक्षण पत्रिका' (जो बाद में 'श्रीअरविन्द अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा केंद्र' की पत्रिका बन गयी) में छपे थे। माताजी पहले फ्रेंच में लिखती थीं, बाद में उन्होंने कुछ का पूरा और कुछ का आंशिक अनुवाद अंग्रेजी में किया था।

दूसरा भाग : संदेश, पत्र और वार्तालाप

१. **श्रीअरविन्द अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा-केंद्र**—इस भाग में मुख्य रूप से माताजी का शिक्षा-केंद्र के विद्यार्थियों और अध्यापकों के साथ पत्र-व्यवहार और वार्तालाप है। कुछ अन्य संस्थाओं और व्यक्तियों को दिये गये संदेश भी इसमें हैं। अधिकतर वक्तव्य फ्रेंच में थे। इनमें से कुछ आश्रम की पत्रिकाओं और पुस्तकों में छप चुके हैं, और कुछ यहां पर पहली बार छप रहे हैं।

जिन वक्तव्यों की तारीख मिल जाती है उन्हें तारीखवार रखा गया है, बाकी जो जहां ठीक लगे बिठा दिये गये। एक ही व्यक्ति को एक के बाद एक लिखे गये पत्रों के बीच में बस खाली जगह छोड़ी गयी है; और अलग-अलग लोगों को लिखे गये पत्रों के बीच * यह निशानी रखी गयी है।

२. **श्रीअरविन्दाश्रम शारीरिक शिक्षण विभाग**—इस विभाग का परिचय देते हुए नौ छोटे-छोटे लेख पहले 'शारीरिक शिक्षण पत्रिका' में १९४९ और १९५० में छपे थे। बीच के उप-विभागों में शारीरिक शिक्षण के वार्षिक समारोहों और प्रतियोगिताओं के समय दिये गये लिखित और ध्वन्यांकित संदेश हैं, अगले में सामान्य संदेश और व्यक्तिगत पत्र हैं और अंतिम विभाग में नारी-शरीर के बारे में एक लेख है जो पहले-पहल १९६० में पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ था।

३. **न्यू एज एसोसिएशन**—ये इस सभा के सेमिनारों को दिये गये संदेश हैं।

४. **विद्यालय में माताजी के काम की झांकी**—ये पत्र और टिप्पणियां हैं। ये हमारे विद्यालय की एक अध्यापिका के प्रश्नों के उत्तर हैं, इसका काल १९६० से १९७२ है।

५. कक्षा के मुखिया को उत्तर—यह शारीरिक शिक्षा-विभाग की एक कप्तान के साथ पत्र-व्यवहार है।

६. कक्षा के मुखिया को उत्तर—इस विभाग में एक युवा कप्तान को लिखे गये पत्रों से शिक्षासंबंधी पत्रों का संकलन है।

७. वार्तालाप—इस भाग में १९६७ के दो वार्तालाप तथा फरवरी १९७३ के छः वार्तालाप हैं। ये शिक्षा के बारे में माताजी के अंतिम वक्तव्य हैं।

तीसरा भाग : नाटक

आश्रम विद्यालय के वार्षिकोत्सव के सिलसिले में हर वर्ष पहली दिसम्बर को नाटक हुआ करता है जिसमें यहां के विद्यार्थी और अध्यापक भाग लेते हैं। माताजी ने इस अवसर के लिये तीन नाटक लिखे थे। 'भविष्य की ओर' १९४९ में, 'महान् रहस्य' १९५४ में और 'सत्य की ओर आरोहण' १९५७ में मंच पर खेले गये थे। 'महान् रहस्य' के बारे में माताजी का एक पत्र भी छापा जा रहा है।

यह माताजी के शताब्दी-ग्रंथ-संग्रह का बारहवां खंड है। जैसा कि हम हमेशा कहते आये हैं, माताजी के शब्दों का अनुवाद करना एक असंभव काम है। जो लोग मूल नहीं पढ़ सकते उनके लिये 'श्रीअरविन्द अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा-केंद्र' के हिन्दी विभाग ने यह अनुवाद तैयार किया है।

सूची

भाग १ : लेख

जीवन-विज्ञान	३
शिक्षा	९
शारीरिक शिक्षा	१२
प्राण की शिक्षा	१८
मन की शिक्षा	२३
आंतरात्मिक और आध्यात्मिक शिक्षा	२९
एक अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय-केंद्र	३७
चतुर्विध तपस्या और चतुर्विध मुक्ति	४४
छोटे-बड़े विद्यार्थियों से	६५
भविष्य-दृष्टि	६९
रूपांतर	७२
मृत्यु का भय और उसपर विजय प्राप्त करने के चार साधन	७४
इस लेख पर किये गये प्रश्नों का उत्तर	८०
एक स्वप्न	८४
मानव-जाति का उपकार	८६
स्त्रियों की समस्या	९२

भाग २ : संदेश, पत्र, बातचीत

१. श्रीअरविन्द अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा-केंद्र	९९
संदेश	१०१
उद्देश्य	१०६
विद्यार्थी	१११
अध्ययन	११७
पढ़ना	१२९
आचरण	१३६
छुट्टियां	१४६
अन्यत्र पढ़ाई	१४८
अध्यापक	१५२
अध्यापन	१५४
अनुशासन	१७५

गृहकार्य १७९
परीक्षाएं १८१
पाठ्यक्रम १८५
माताजी और श्रीअरविन्द के ग्रंथों का अध्ययन १८५
भाषाएं १९६
भिन्न-भिन्न भाषाओं में माताजी की हस्तलिपियां २०३
कला २११
अन्य विषय २२३
राष्ट्रीय शिक्षा २२६

२. श्रीअरविन्दाश्रम शारीरिक शिक्षण विभाग २३१

यौवन २३३
एकाग्रता और विक्षेप २३४
हमारा मुखपृष्ठ और हमारा झंडा २३६
शक्ति का अक्षय भंडार २३७
यथार्थ निर्णय २३९
ऑलिम्पिक रिंग्ज़ २४१
चैम्पियनशिप पदक २४३
साम्मुख्य या "टूर्नामेंट" २४४
शारीरिक शिक्षा के दलों की प्रार्थनाएं और माताजी के उत्तर २४५
प्रतियोगिताओं के लिये संदेश २४९
शारीरिक व्यायामों के वार्षिक प्रदर्शन के लिये संदेश २५६
सामान्य संदेश और पत्र २५९
नारियों से—उनके शरीर के बारे में २६५

३. न्यू एज ऐसोसिएशन (नव युग संघ) २७३

४. स्कूल में माताजी के काम की झलक २९१
आश्रम और स्कूल में फ्रेंच २९३
फ्रेंच की कक्षाओं में काम की व्यवस्था २९४
फ्रेंच सिखानेवाले भारतीयों को फ्रेंच सिखाने के विषय में २९५
विद्यार्थियों को फ्रेंच पढ़ाना २९७
'चुनी हुई पुस्तकों का पुस्तकालय' ३००
दस से बारह वर्ष के बच्चों की कक्षा में माताजी की क्रिया ३०२
सात से नौ वर्ष के बच्चों की कक्षा में माताजी की क्रिया ३०४

१६ से १८ वर्ष के विद्यार्थियों की कक्षा में माताजी की क्रिया ३११

५. कक्षा की मुखिया को उत्तर ३१८

सूत्र ३२१
पत्रव्यवहार ३२३

६. कक्षा के मुखिया को उत्तर ३५५

७. बातचीत ३६९

५ अप्रैल, १९६७ ३७१
११ नवंबर, १९६७ ३७६
८ फरवरी, १९७३ ३९५
१४ फरवरी, १९७३ ३९८
१८ फरवरी, १९७३ ४००
२४ फरवरी, १९७३ ४०४
२६ फरवरी, १९७३ ४०८
१४ मार्च, १९७३ ४०९

भाग ३ : नाटक ४११

भविष्य की ओर ४१३
महान् रहस्य ४२९
सत्य आरोहण ४५७

भाग १

शिक्षा-विषयक लेख

मैं इन लेखों में सारी यौगिक परिभाषा को साधारण शब्दों में रखने की कोशिश कर रही हूं, क्योंकि ये 'बुलेटिन' अधिकतर ऐसे लोगों के लिये हैं जो सामान्य जीवन बिताते हैं, साथ ही योग के शिक्षणार्थियों के लिये भी हैं—मेरा मतलब ऐसे लोगों से है जिन्हें मूलतः शुद्ध भौतिक जीवन में रस है लेकिन जो अपने भौतिक जीवन में, सामान्य जीवन की अपेक्षा अधिक पूर्णता प्राप्त करना चाहते हैं। यह बहुत कठिन काम है पर है एक तरह का योग। ये लोग अपने-आपको "भौतिकवादी" कहते हैं और अगर योग की परिभाषाओं का उपयोग किया जाये तो वे उत्तेजित या क्षुब्ध हो उठते हैं। इसलिये हमें उनके साथ उन्हीं की भाषा बोलनी चाहिये और ऐसे शब्दों से बचना चाहिये जो उन्हें धक्का दें। लेकिन मैंने अपने जीवन में ऐसे लोगों को देखा है जो अपने-आपको "भौतिकवादी" कहते तो थे, फिर भी, योग-साधना का दावा करनेवालों की अपेक्षा कहीं अधिक कठोर आत्मसंयम का पालन करते थे।

हम चाहते यही हैं कि मानवजाति प्रगति करे; चाहे वह योग-साधना का दावा करे या न करे, इसका महत्त्व नहीं है, बशर्ते कि वह प्रगति के लिये आवश्यक प्रयास करे।[१]

(२५-१२-१९५०) —माताजी

[१] प्रश्न और उत्तर १९५०-५१, 'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ० ७-८

जीवन-विज्ञान

अपने-आपको जानना और संयत करना

लक्ष्यहीन जीवन दुःखी जीवन होता है।

तुम में से प्रत्येक का अपना लक्ष्य होना चाहिये। परंतु यह कभी न भूलना कि तुम्हारे लक्ष्य के गुणों पर जीवन के गुण निर्भर होंगे।

तुम्हारा लक्ष्य होना चाहिये उच्च और विशाल, उदार और निष्काम। तब तुम्हारा जीवन तुम्हारे अपने लिये और दूसरों के लिये भी बहुमूल्य हो जायेगा।

परंतु तुम्हारा आदर्श चाहे जो भी हो, तुम उसे तबतक पूर्ण रूप से नहीं प्राप्त कर सकते जबतक कि तुम अपने अंदर पूर्णता नहीं पा लेते।

अपनी पूर्णता प्राप्त करने के लिये सबसे पहला पग है अपने विषय में सचेतन होना, अपनी सत्ता के विभिन्न अंगों और उनकी अलग-अलग क्रियाओं के विषय में सचेतन होना। तुम्हें इन सब अंगों को एक-दूसरे से अलग करके देखना और पहचानना सीखना चाहिये ताकि तुम स्पष्ट रूप से यह पता लगा सको कि तुम्हारे अंदर जो सब क्रियाएं होती हैं, तुम्हें कर्म में जोतनेवाले जो अनेक प्रकार के आवेग-प्रवेग, प्रतिक्रियाएं और परस्पर-विरोधी इच्छाएं तुम्हारे अंदर उठती हैं, उन सबका मूल कहां है। यह एक श्रमसाध्य अध्ययन होगा और इसके लिये बहुत अधिक लगन और सच्चाई की आवश्यकता है। क्योंकि मानव स्वभाव की, विशेषकर मन के स्वभाव की यह एक सहज-प्रवृत्ति है कि हम जो कुछ सोचते, अनुभव करते, कहते और करते हैं उसकी हम एक अनुकूल व्याख्या दे डालते हैं। जब हम बहुत अधिक सावधानी के साथ इन सब क्रियाओं को देखेंगे, मानों इन्हें अपने उच्चतम आदर्श के न्यायालय में पेश करेंगे और उसके निर्णय के सामने झुक जाने को एक सच्चा संकल्प बनाये रखेंगे, केवल तभी हम यह आशा कर सकते हैं कि हमारे अंदर एक ऐसा विवेक उत्पन्न होगा जो कभी भूल न करे। अगर हम सचमुच उन्नति करना और अपनी सत्ता के सत्य को जानने की क्षमता प्राप्त करना चाहते हैं, अर्थात्, उस एक बात को जान लेना चाहते हैं जिसके लिये वास्तव में हमने जन्म लिया है, जिसे हम इस पृथ्वी पर अपना उद्देश्य कह सकते हैं, तो फिर, जो चीजें हमारी सत्ता के सत्य का खंडन करती हैं, जो चीजें उसका विरोध करती हैं, उन सबको हमें खूब नियमित रूप से और निरंतर होनेवाली एक क्रिया के द्वारा अपने अंदर से निकालते रहना होगा अथवा उन्हें अपने अंदर नष्ट करते रहना होगा। बस, इसी तरह धीरे-धीरे हमारी सत्ता के सभी भाग, सभी अंग संघटित होकर हमारे चैत्य केंद्र के इर्द-गिर्द एक पूर्ण सुसमंजस वस्तु का रूप ग्रहण कर सकेंगे। इस एकीकरण के कार्य को एक हदतक पूर्णता प्राप्त कराने के लिये एक लंबे समय की आवश्यकता होती है। इसीलिये, इसे सिद्ध करने के लिये,

हमें धैर्य और सहनशीलता-रूपी अस्त्रों से सुसज्जित होना चाहिये और यह निश्चय कर लेना चाहिये कि अपने प्रयास को सफल बनाने के लिये जितने दिनों तक अपना जीवन बनाये रखने की आवश्यकता होगी उतने दिनों तक बनाये रखेंगे।

और इस पवित्रीकरण और एकीकरण का प्रयास करने के साथ-ही-साथ हमें अपनी सत्ता के यंत्रवत् काम करनेवाले बाहरी भाग को पूर्ण बनाने की ओर भी बहुत अधिक ध्यान देना चाहिये। जब उच्चतर सत्य अभिव्यक्त होना चाहे तब उसे तुम्हारे अंदर एक ऐसी मनोमय सत्ता मिलनी चाहिये जो पर्याप्त रूप में सूक्ष्म और समृद्ध हो, जो प्रकट होने की चेष्टा करनेवाली भावना कों विचार का एक ऐसा रूप देने में समर्थ हो जो उसकी शक्ति और स्पष्टता की रक्षा कर सके। फिर, वह विचार जब शब्दों का जामा पहनने की चेष्टा करे तब तुम्हारे अंदर उसे अपने को व्यक्त करने की यथेष्ट शक्ति प्राप्त हो ताकि शब्द उस विचार को प्रकाशित कर सकें और उसे विकृत न कर डालें। और जिस सिद्धांत के अंदर तुम सत्य को मूर्तिमान करते हो, उसे तुम्हारे सभी मनोभावों, तुम्हारी सभी इच्छाओं और क्रियाओं, तुम्हारी सत्ता के सभी क्रिया-कलापों में झलकते रहना चाहिये। और अंत में, निरंतर प्रयास के द्वारा, स्वयं इन सब क्रियाओं को भी अपनी उच्चतम पूर्णता प्राप्त करनी चाहिये।

यह सब एक चतुर्विध साधना के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, जिसकी साधारण रूप-रेखा हम यहां दे रहे हैं। इस साधना के ये चारों रूप एक-दूसरे से अलग-अलग नहीं हैं, इनका अनुसरण मनुष्य एक साथ ही कर सकता है; वास्तव में, ऐसा करना ही अधिक अच्छा है। इस साधना का जहां से आरंभ होता है उसे हम चैत्य साधना कह सकते हैं। हम अपनी सत्ता की अंतश्चेतना के केंद्र को अपने जीवन के उच्चतम सत्य के आंतर धाम को "चैत्य" नाम से पुकारते हैं, यही वह केंद्र है जो इस सत्य को जान सकता है और अभिव्यक्त कर सकता है। अतएव, हमारे लिये सबसे प्रधान बात यह है कि हम अपने अंदर इसकी उपस्थिति के ऊपर ध्यान एकाग्र करें और अपने लिये इसे एक जीवंत सत्य बना लें और इसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लें।

इस सचेतनता को प्राप्त करने के लिये और अंत में इस तादात्म्य को सिद्ध करने के लिये देश और काल के अंतर्गत बहुत-सी पद्धतियां निश्चित की गयी हैं और कुछ यांत्रिक भी हैं। सच पूछा जाये तो प्रत्येक मनुष्य को वह पद्धति ढूंढ निकालनी होगी जो उसके लिये सबसे अधिक उपयुक्त हो। और अगर साधक में सच्ची और सुदृढ़ अभीप्सा हो, अटूट और सक्रिय संकल्प-शक्ति हो तो यह निश्चित है कि वह एक-न-एक तरीके से, बाहर से अध्ययन और उपदेश के द्वारा, भीतर से एकाग्रता, ध्यान, अनुभव और दर्शन के द्वारा उस सहायता को अवश्य पायेगा जो लक्ष्य तक पहुंचने के लिये उसके लिये आवश्यक है। केवल एक ही चीज है जो पूर्ण रूप से अनिवार्य है और वह है उसे खोज निकालने और प्राप्त करने का संकल्प। यह खोजने और प्राप्त

करने का प्रयास ही जीव का सबसे पहला कार्य होना चाहिये, यही वह बहुमूल्य मोती है जिसे हमें चाहे किसी मूल्य पर प्राप्त करना चाहिये। तुम चाहे जो कुछ करो, तुम्हारा व्यवसाय और कार्य जो भी हो, अपनी सत्ता के सत्य को पाने और उसके साथ युक्त होने का तुम्हारा संकल्प बराबर ही जीवंत बना रहना चाहिये, जो कुछ तुम करते हो, जो कुछ तुम अनुभव करते हो और जो कुछ तुम विचार करते हो, उस सबके पीछे उसे सदा विद्यमान रहना चाहिये।

आंतरिक खोज की इस क्रिया को पूरा करने के लिये यह अच्छा है कि मानसिक विकास की उपेक्षा न की जाये। क्योंकि हमारा मनोमय यंत्र एक समान ही हमारा बहुत बड़ा सहायक या बहुत बड़ा बाधक हो सकता है। अपनी सबसे स्वाभाविक स्थिति में मानव मन बराबर ही अपनी दृष्टि में सीमित होता है, अपनी समझ में संकीर्ण और अपनी परिकल्पनाओं में कठोर। और इसे विशाल, गभीर और नमनीय बनाने के लिये कुछ प्रयास की आवश्यकता होती है। इसलिये यह बहुत आवश्यक है कि मनुष्य प्रत्येक बात पर जितने दृष्टिकोण से विचार करना संभव हो उतने दृष्टिकोणों से विचार करे। इस विषय से संबंधित एक अभ्यास ऐसा है जो विचार में बहुत अधिक नमनीयता और ऊंचाई ला देता है। वह इस प्रकार है: स्पष्ट रूप से प्रकट की गयी एक प्रतिज्ञा—एक प्रतिपाद्य मत सामने रख देना चाहिये, फिर उसके मुकाबले में उसका विरोधी मत भी ला उपस्थित करना चाहिये जो वैसी ही सूक्ष्मता के साथ प्रकट किया गया हो। फिर, सावधानी के साथ सोचते-विचारते हुए उस समस्या को विस्तारित करना चाहिये अथवा उसका अतिक्रम करना चाहिये, ताकि एक ऐसा समन्वय प्राप्त हो जाये जो उन अत्यंत विरोधी मतों को भी एक विशालतर, उच्चतर और अधिक व्यापक भावना के अंदर युक्त कर दे।

इसी तरह के बहुत-से अभ्यास काम में लाये जा सकते हैं; ऐसे कुछ अभ्यासों का चरित्र के ऊपर लाभदायी प्रभाव पड़ता है और इसलिये वे द्विविध लाभ प्रदान करते हैं—एक ओर तो वे मन को विकसित करते हैं और दूसरी ओर मनुष्य के अनुभवों और उनके परिणामों के ऊपर संयम स्थापित करते हैं। उदाहरणार्थ, तुम्हें वस्तुओं और लोगों के विषय में अपने मन को कोई निर्णय नहीं करने देना चाहिये, क्योंकि मन ज्ञान का यंत्र नहीं है—यह तो ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है—बल्कि इसे स्वयं ज्ञान के द्वारा चालित होना चाहिये। ज्ञान तो उस क्षेत्र की चीज है जो मानव मन के क्षेत्र से बहुत ऊपर है, यहां तक कि वह शुद्ध भावनाओं के क्षेत्र से भी परे है। मन को निश्चल-नीरव और सतर्क बनाना होगा ताकि वह ऊपर से ज्ञान को ग्रहण कर सके और उसे अभिव्यक्त कर सके, क्योंकि वह रूप देने, संघटन करने और कार्य करने का यंत्र है। वास्तव में, इन्हीं कार्यों के अंदर वह अपने पूरे मूल्य और यथार्थ उपयोगिता को प्राप्त करता है।

एक दूसरा अभ्यास है जो चेतना की प्रगति में बहुत अधिक सहायक हो सकता है।

जब कभी किसी विषय पर मतभेद हो, जैसे कि कोई निर्णय करने के समय अथवा कोई कार्य पूरा करने के समय, तब हमें कभी अपनी धारणा या दृष्टिकोण से चिपके नहीं रहना चाहिये। बल्कि, इसके विपरीत, हमें दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयास करना चाहिये, अपने-आपको उसके स्थान पर रख देना चाहिये और तर्क-वितर्क या, यहांतक कि, लड़ाई-झगड़ा करने के बदले, एक ऐसा समाधान ढूंढ निकालना चाहिये जो दोनों पक्षों को युक्तिसंगत ढंग से संतुष्ट कर सके; सदिच्छा-संपन्न मनुष्यों के लिये बराबर ही ऐसा एक समाधान तैयार रहता है।

यहां पर अब प्राण को विकसित करने की चर्चा भी अवश्य करनी चाहिये। हमारे अंदर यह प्राणमय सत्ता ही आवेग-प्रवेग और कामना-वासना का, उत्साह और तीव्रता का, क्रियात्मक शक्ति और निराशापूर्ण अवसाद का, उत्तेजना और विद्रोह का घर है, यह प्रत्येक चीज को गति प्रदान कर सकती, गढ़ सकती और सिद्ध कर सकती है, साथ ही यह प्रत्येक चीज को तोड़-फोड़ और नष्ट भी कर सकती है। ऐसा मालूम होता है कि मनुष्य के अंदर यही भाग ऐसा है जिसे उन्नत करना सबसे अधिक कठिन है। इसे उन्नत करना दीर्घ परिश्रम का कार्य है और इसके लिये महान् धैर्य की आवश्यकता है, और यह पूर्ण सच्चाई की अपेक्षा रखता है। क्योंकि सच्चाई न होने पर मनुष्य एकदम आरंभ से ही अपने-आपको धोखा देने लगेगा और उन्नति का उसका सारा प्रयास व्यर्थ चला जायेगा। अगर प्राण का सहयोग प्राप्त हो तो कोई भी सिद्धि असंभव नहीं मालूम होती, किसी प्रकार का रूपांतर असाध्य नहीं प्रतीत होता। परंतु निरंतर उसका यह सहयोग प्राप्त करना बड़ा कठिन है। प्राण एक अच्छा कार्यकर्ता है, परंतु अधिकांश में वह अपनी तुष्टि की चेष्टा करता है। अगर उसकी कामना पूरी नहीं की जाती है, चाहे वह पूर्ण रूप में या आंशिक रूप में भी, तो वह झुंझला जाता है और नाराज हो जाता है और हड़ताल कर बैठता है। फलस्वरूप, कम या अधिक पूर्ण रूप से, शक्ति विलीन हो जाती है और अपने स्थान में मनुष्यों और वस्तुओं के प्रति विराग, निरुत्साह या विद्रोह, अवसाद और असंतोष छोड़ जाती है। ऐसे मौकों पर मनुष्य को स्थिर-अचंचल बने रहना चाहिये और क्रिया करना अस्वीकार कर देना चाहिये, क्योंकि ऐसे ही समय में लोग मूर्खतापूर्ण कार्य कर बैठते हैं और जिस चीज को उन्होंने महीनों निरंतर प्रयास करके प्राप्त किया होता है उसको, उसके द्वारा प्राप्त की हुई सारी उन्नति को, वे कुछ मिनटों में ही बिगाड़ या चौपट कर सकते हैं। ये सब कठिन परिस्थितियां उन सब लोगों के लिये कम टिकाऊ और कम खतरनाक होती हैं जिन्होंने अपने हृत्पुरुष के साथ ऐसा संस्पर्श स्थापित कर लिया है जो उनके अंदर अभीप्सा की ज्योति को सजीव रखने के लिये और जिस आदर्श को सिद्ध करना है उसका बोध बनाये रखने के लिये पर्याप्त है। वे लोग इस चेतना की सहायता से, धैर्य और लगन से अपने प्राण के साथ एक विद्रोही बच्चे की तरह व्यवहार कर सकते हैं, उसे सत्य और ज्योति दिखा सकते हैं, उसमें विश्वास जमाने का और जो सदिच्छा कुछ

समय के लिये आच्छादित हो गयी थी, उसे उसमें जगाने का प्रयास कर सकते हैं। ऐसे धैर्यपूर्ण हस्तक्षेप की सहायता से प्रत्येक कठिन परिस्थिति को एक नयी प्रगति के रूप में, लक्ष्य की ओर बढ़े हुए एक नये पग के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। प्रगति धीमी हो सकती है, पतन बार-बार हो सकता है, पर यदि साहसपूर्ण संकल्प बनाये रखा जाये, तो यह निश्चित है कि हम एक दिन विजयी होंगे और यह देखेंगे कि सभी कठिनाइयां सत्य की जाज्वल्यमान चेतना के सामने गल गयी या विलीन हो गयी हैं।

अंत में, एक युक्तिसंगत और स्पष्टदर्शी शारीरिक शिक्षण के द्वारा हमें अपने शरीर को सुदृढ़ और सुकोमल अवश्य बनाना चाहिये ताकि जो सत्य-शक्ति हमारे अंदर अभिव्यक्त होना चाहती है उसके लिये हमारा शरीर इस जड़ जगत् के अंदर एक उपयुक्त यंत्र बन सके।

वास्तव में, शरीर को कभी हुक्म नहीं चलाना चाहिये, उसे तो हुक्म मानना चाहिये। अपने सहज-स्वभाव में वह एक अनुगत और विश्वासपात्र सेवक है। दुर्भाग्यवश, अपने प्रभुओं के—मन और प्राण के—विषय में विवेक-विचार करने की क्षमता बहुधा उसमें नहीं होती। वह अंध-भाव से, अपने निजी हित का बलिदान देकर भी, उनकी आज्ञा का पालन करता है। मन अपने मतवादों, अपने कठोर और मनगढंत सिद्धांतों के द्वारा, प्राण अपनी उत्तेजनाओं, अपनी ज्यादतियों और दुर्वृत्तियों के द्वारा शरीर की स्वाभाविक समतोलता नष्ट करने के लिये और उसमें थकान, दुर्बलता और रोग उत्पन्न करने के लिये शीघ्र सब कुछ कर डालेंगे। इस अत्याचार से शरीर को अवश्य मुक्त करना होगा, और चैत्य केंद्र के साथ सत्ता का निरंतर एकत्व स्थापित करने पर ऐसा करना संभव हो सकता है। हमारे शरीर में मेल बैठाने और सहन करने की अद्भुत क्षमता है। हम साधारणतया जितना अनुमान कर सकते हैं उससे बहुत अधिक कार्य करने की क्षमता उसमें है। अभी जो अज्ञानी और स्वेच्छाचारी प्रभु इस पर शासन कर रहे हैं उनके स्थान में यदि सत्ता के केंद्रीय सत्य का शासन इस पर हो जाये तो उस समय इसकी कार्यक्षमता को देखकर मनुष्य दंग रह जायेगा। तब शांत और स्थिर, दृढ़ और अचल रहते हुए हम जितना चाहें उतना प्रयास वह प्रत्येक मुहूर्त करेगा, क्योंकि उस समय वह सीख चुका होगा कि काम के अंदर किस तरह विश्राम लिया जाता है, जिस शक्ति को वह ज्ञानपूर्वक और लाभ के लिये खर्च कर रहा है उसकी पूर्ति वह विश्वशक्तियों के साथ संस्पर्श स्थापित करके किस प्रकार कर सकता है। इस स्वस्थ और संतुलित जीवन में शरीर के अंदर एक नया सामंजस्य अभिव्यक्त होगा जो उच्चतर क्षेत्रों के सामंजस्य को प्रतिबिंबित करेगा और यह उच्चतर सामंजस्य शरीर को पूर्ण अंगसौष्ठव और आदर्श सौंदर्य प्रदान करेगा। और यह सामंजस्य क्रमशः बढ़ता रहेगा, क्योंकि सत्ता का सत्य कभी अचल-अटल नहीं होता। वह निरंतर एक वर्द्धनशील, एक अधिकाधिक सर्वांगीण और सर्वग्राही परिपूर्णता की ओर खुलता रहता

है। जैसे ही शरीर एक क्रमवर्द्धमान सामंजस्य की गति का अनुसरण करना सीख लेगा, वैसे ही उसके लिये, रूपांतर-सिद्धि की लगातार होनेवाली एक प्रक्रिया के द्वारा, भंग और विनष्ट होने की आवश्यकता से बच जाना संभव हो जायेगा। इस तरह मृत्यु के अटल विधान के बने रहने के लिये कोई कारण नहीं रह जायेगा।

जब हम पूर्णता की इस मात्रा को प्राप्त हो जायेंगे, जो कि हमारा लक्ष्य है, तब हम देखेंगे कि जिस सत्य की खोज हम कर रहे हैं वह चार प्रधान चीजों से बना है—प्रेम, ज्ञान, शक्ति और सौंदर्य। सत्य के ये चारों रूप अपने-आप हमारी सत्ता के अंदर अभिव्यक्त होंगे। चैत्य पुरुष होगा सच्चे और शुद्ध प्रेम का वाहन, मन होगा अभ्रांत ज्ञान का यंत्र, प्राण प्रकट करेगा एक अदम्य शक्ति और सामर्थ्य; और शरीर बन जायेगा पूर्ण सौंदर्य और पूर्ण सामंजस्य की प्रतिमा।

('बुलेटिन', नवम्बर १९५०)

शिक्षा

मनुष्य की शिक्षा उसके जन्मकाल से ही आरंभ हो जानी चाहिये और उसके समूचे जीवन चलती रहनी चाहिये। बल्कि, सच पूछा जाये तो, यदि शिक्षा को अत्यधिक मात्रा में फलदायक होना हो तो उसे जन्म से पहले ही आरंभ हो जाना चाहिये। वास्तव में, स्वयं माता ही इस शिक्षा का प्रारंभ द्विविध क्रिया के द्वारा करती है : सबसे पहले यह अपनी निजी उन्नति के लिये उसे स्वयं अपने ऊपर आरंभ करती है, और फिर उसे बच्चे के ऊपर आरंभ करती है जिसे वह अपने अंदर स्थूल रूप में गढ़ती है। यह बात निश्चित है कि जन्म लेनेवाले बच्चे का स्वभाव बहुत कुछ उसे उत्पन्न करनेवाली माता पर, उसकी अभीप्सा और संकल्प पर निर्भर रहता है, और जिस भौतिक वातावरण में वह निवास करती है उसका प्रभाव तो पड़ता ही है। जो शिक्षा मां को प्राप्त करनी है उसके लिये यह बात ध्यान में रखनी होगी कि उसके विचार सदा सुंदर और शुद्ध हों, भाव उच्च और सूक्ष्म तथा चारों ओर का वातावरण यथासंभव सुसमंजस और अत्यंत सादगी से भरा हुआ हो। और अगर इसके साथ ही वह चेतन और निश्चित रूप में यह इच्छा भी रखे कि वह जिस ऊंचे-से-ऊंचे आदर्श को धारण कर सकती है उसी के अनुसार वह बच्चे को बनायेगी तो बच्चे को संसार में आने के लिये खूब उत्तम अवस्थाएं प्राप्त करनी होंगी और उसके लिये अधिक-से-अधिक संभावनाएं खुल जायेंगी। भला ऐसी अवस्था में कितने अधिक कठिन प्रयासों और निरर्थक जटिलताओं से बचा जा सकता है!

शिक्षा के पूर्ण होने के लिये उसमें पांच प्रधान पहलू होने चाहिये। इनका संबंध मनुष्य की पांच प्रधान क्रियाओं से होगा—भौतिक, प्राणिक, मानसिक, आंतरात्मिक और आध्यात्मिक। साधारणतया, शिक्षा के ये सब पहलू व्यक्ति के विकास के अनुसार, एक के बाद एक, कालक्रम से आरंभ होते हैं। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि एक पहलू दूसरे का स्थान ले ले, बल्कि सभी पहलुओं को जीवन के अंत काल तक, परस्पर एक-दूसरे को पूर्ण बनाते हुए जारी रहना चाहिये।

हम यहां शिक्षा के इन पांचों पहलुओं पर एक-एक करके विचार करेंगे और उनका पारस्परिक संबंध भी समझने का प्रयत्न करेंगे। परंतु इस विषय के विस्तार में जाने से पहले मैं माता-पिताओं को एक सलाह देना चाहती हूं। इनमें अधिकतर लोग विभिन्न कारणों से बच्चों की सच्ची शिक्षा के विषय में बहुत कम सोचते हैं। जब उन्होंने संसार में एक बच्चे को जन्म दे दिया, उसके भोजन का प्रबंध कर दिया तथा उसका स्वास्थ्य बनाये रखने के लिये लगभग काफी अच्छे ढंग से देखभाल रखते हुए उसकी विभिन्न भौतिक आवश्यकताएं पूरी कर दीं तब वे समझ लेते हैं कि उन्होंने अपना कर्तव्य पूरी तौर से निभा दिया है। कुछ दिन बाद वे उसे स्कूल में प्रविष्ट करा देंगे और उसकी मानसिक शिक्षा का भार अध्यापक के हाथों में सौंप देंगे।

कुछ माता-पिता ऐसे भी हैं जो यह जानते हैं कि उनके बच्चे को शिक्षा मिलनी चाहये और वे उसे शिक्षा देने की चेष्टा भी करते हैं। पर उनमें से बहुत थोड़े लोग—जो इस विषय में अत्यंत तत्पर और सच्चे होते हैं उनमें से भी बहुत थोड़े लोग—यह जानते हैं कि बच्चे को शिक्षा देने की योग्यता प्राप्त करने के लिये सबसे पहला कर्तव्य है अपने-आपको शिक्षा देना, अपने विषय में सचेतन होना और अपने ऊपर प्रभुत्व स्थापित करना, ताकि हम अपने बच्चे के सामने कोई बुरा उदाहरण न पेश करें। क्योंकि एकमात्र उदाहरण के द्वारा ही शिक्षा फलदायी बनती है। यदि हम अपने जीवंत उदाहरण के द्वारा अपनी सिखायी बातों का सत्य उसे न दिखा दें तो केवल अच्छी बातें कहने और बुद्धिमानी का परामर्श देने का, बच्चे पर बहुत थोड़ा प्रभाव पड़ता है। सच्चाई, ईमानदारी, स्पष्टवादिता, साहस, निष्काम-भाव, निःस्वार्थता, धैर्य, सहनशीलता, अध्यवसाय, शांति, स्थिरता, आत्म-संयम आदि सभी ऐसे गुण हैं जो सुन्दर भाषणों की अपेक्षा अनन्तगुना अधिक अच्छे रूप में अपने उदाहरण के द्वारा सिखाये जाते हैं। माता-पिताओ ! एक ऊंचा आदर्श अपने सामने रखो और उसी आदर्श के अनुकूल सर्वदा कार्य करो। तुम देखोगे कि तुम्हारा बच्चा भी धीरे-धीरे उस आदर्श को अपने अंदर ला रहा है, और जो-जो गुण तुम उसके स्वभाव में देखना चाहते हो उन्हें वह अपने-आप अभिव्यक्त कर रहा है। यह अत्यंत स्वाभाविक है कि बच्चे अपने माता-पिता के प्रति आदर और भक्ति-भाव रखते हैं; अगर वे एकदम अयोग्य ही न हों तो वे अपने बच्चों को देवता जैसे प्रतीत होते हैं और बच्चे यथाशक्ति उत्तम-से-उत्तम रूप में उनका अनुकरण करने की चेष्टा करते हैं।

बहुत थोड़े लोगों को छोड़कर, प्रायः सभी माता-पिता इस बात का विचार नहीं करते कि उनके दोषों, आवेगों, दुर्बलताओं और आत्म-संयम के अभाव का उनके बच्चों पर कितना बुरा प्रभाव पड़ता है। अगर तुम चाहते हो कि तुम्हारा बच्चा तुम्हारा आदर करे तो अपने लिये आदर-भाव रखो और प्रत्येक मुहूर्त सम्मान के योग्य बनो। कभी स्वेच्छाचारी, अत्याचारी, असहिष्णु और क्रोधित मत होओ। जब तुम्हारा बच्चा तुमसे कोई प्रश्न पूछे तब तुम, यह समझकर कि वह तुम्हारी बात नहीं समझ सकता, उसे जड़ता और मूर्खता के साथ कोई उत्तर मत दो। अगर तुम थोड़ा कष्ट स्वीकार करो तो तुम सदा ही उसे अपनी बात समझा सकोगे। इस प्रसिद्ध उक्ति के होते हुए भी कि सत्य बोलना सदा अच्छा नहीं होता, मैं दृढ़तापूर्वक कहती हूं कि सत्य बोलना सदा अच्छा होता है। चतुराई केवल इस बात में है कि उसे इस ढंग से कहा जाये कि सुननेवाले का मस्तिष्क उसे ग्रहण कर ले। जीवन के प्रारंभिक काल में बारह से चौदह वर्ष की अवस्था तक, बच्चों का मन सूक्ष्म भावनाओं और सामान्य विचारों तक नहीं पहुंच पाता। फिर भी, तुम ठोस उपमा, रूपक या दृष्टांत द्वारा ये सब चीजें समझने का अभ्यास उसे करा सकते हो। काफी बड़ी उम्र तक और जो लोग मानसिक रूप से सदा छोटे ही बने रहते हैं उन लोगों के लिये सैद्धांतिक विवेचन के एक ढेर की

अपेक्षा, एक आख्यान, एक कथानक, यदि अच्छे ढंग से कहा जाये तो, अधिक शिक्षाप्रद होता है।

एक और भूल से तुम्हें बचना होगा: जबतक कोई निश्चित उद्देश्य न हो और एकदम अनिवार्य न हो जाये तबतक कभी अपनी बच्चे को बुरा-भला मत कहो। बार-बार डांट-फटकार खाने से बच्चा उसके प्रति कुंद हो जाता है और फिर वह शब्दों और स्वर की कठोरता को बहुत अधिक महत्त्व नहीं देता। विशेषकर इस बात की सावधानी रखो कि ऐसे अपराध के लिये, जिसे तुम स्वयं करते हो, उसे कभी मत डांटो। बच्चों की दृष्टि बड़ी पैनी और साफ होती है, वे बहुत जल्दी तुम्हारी दुर्बलताओं का पता लगा लेते हैं और उन्हें बिना किसी दयाभाव के नोट कर लेते हैं।

जब बच्चा कोई भूल कर बैठे तो अपनी ओर से ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दो कि वह अपने-आप सरलता और सच्चाई के साथ उसे स्वीकार कर ले। और जब वह स्वीकार कर ले तब तुम दयालुता और प्रेम के साथ उसे समझा दो कि उसके कार्य में क्या भूल थी और फिर उसे दुबारा वैसा नहीं करना चाहिये। किसी भी हालत में उसे बुरा-भला मत कहो, स्वीकार किये हुए अपराध को अवश्य क्षमा कर देना चाहिये। तुम्हें अपने और अपने बच्चे के बीच किसी प्रकार का भय नहीं घुसने देना चाहिये, भय के द्वारा शिक्षा देना बड़ा खतरनाक तरीका है, यह सदा ही छल-कपट और असत्य को उत्पन्न करता है। स्पष्टदर्शी, सुदृढ़ पर साथ ही कोमल प्रेम और पर्याप्त व्यावहारिक ज्ञान विश्वास का बंधन पैदा करते हैं जो तुम्हारे बच्चे की शिक्षा को फलदायी बनाने के लिये अत्यंत आवश्यक होता है। और फिर, यह कभी न भूलो कि तुम्हें अपने कर्तव्य के शिखर पर स्थित रहने तथा उसे वास्तविक रूप में निभाने के लिये सदा और निरंतर ऊपर उठना होगा। बच्चे को जन्म देने के नाते ही तुम्हें उसके प्रति अपना कर्तव्य निभाना चाहिये।

('बुलेटिन', फरवरी १९५१)

शारीरिक शिक्षा

मानव चेतना के जितने भी स्तर हैं उनमें भौतिक स्तर एक ऐसा स्तर है जो पूरी तरह से पद्धति, व्यवस्था, अनुशासन और प्रणाली के द्वारा नियंत्रित होता है। जड़-तत्त्व में जो नमनीयता और ग्रहणशीलता का अभाव है उसके स्थान पर हमें पूरे ब्योरे के साथ एक ऐसा सुसंगठन ले आना होगा जो सच्चा भी हो और व्यापक भी। इस सुसंगठन को लाते हुए, अवश्य ही, हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि हमारी सत्ता के सभी लोक-लोकांतर परस्पर-संबद्ध, एक-दूसरे पर आश्रित और एक-दूसरे में प्रवेश किये हुए हैं। फिर भी, यदि किसी मानसिक या प्राणिक आवेग को शरीर के अंदर व्यक्त होना हो तो उसे एक अनुचित और सुनिश्चित प्रणाली का अनुसरण करना होगा। यही कारण है कि शरीर की समस्त शिक्षा को, अगर उसे फलोत्पादक होना हो तो, कठोर और सविस्तार, पूर्वदर्शी और प्रणालीबद्ध होना होगा। उसे आदतों का रूप ग्रहण कर लेना होगा, क्योंकि शरीर सचमुच अभ्यासों से गठित एक सत्ता है। परंतु वे सब अभ्यास संयमित और नियमित होने चाहियें और साथ ही उनमें इतनी पर्याप्त मात्रा में लोच होनी चाहिये कि वे सभी परिस्थितियों और मानव आधार की वृद्धि और विकास की आवश्यकताओं के अनुकूल अपने को ढाल सकें।

शरीर की समस्त शिक्षा एकदम जन्म के साथ ही आरंभ हो जानी चाहिये और जीवन-भर चलती रहनी चाहिये। उसके विषय में ऐसा कभी नहीं कहा जा सकता कि उसका आरंभ बहुत जल्दी हो गया है अथवा वह बहुत देर तक चल रही है।

शरीर की शिक्षा के तीन प्रधान रूप हैं : १. शारीरिक क्रियाओं को संयमित और नियमित करना, २. शरीर के सभी अंगों और क्रियाओं का सर्वांगपूर्ण, प्रणाली-बद्ध और सुसमंजस विकास करना और ३. अगर शरीर में कोई दोष या विकृति हो तो उसे सुधारना।

यह कहा जा सकता है कि जीवन के एकदम आरंभिक दिनों से ही, बल्कि करीब-करीब आरंभिक घंटों से ही, बच्चे को भोजन, नींद, मलत्याग इत्यादि के विषय में पहले प्रकार की शिक्षा देनी चाहिये। अगर बच्चा अपने जीवन के एकदम प्रारंभ से अच्छी आदतें डाल ले तो वह जीवन-भर बहुत-सी तकलीफों और असुविधाओं से बचा रहेगा, साथ ही उसके जीवन के आरंभिक वर्षों में उसकी देखभाल का भार जिन लोगों पर होगा उनका काम भी बहुत अधिक आसान हो जायेगा।

लोगों की यह मान्यता है कि अगर इस शिक्षा को युक्तिपूर्ण, उन्नत और फलदायी होना हो तो यह अवश्य ही मानव शरीर के सरसरे ज्ञान पर, उसकी रचना और उसकी क्रियाओं के ज्ञान पर आश्रित होनी चाहिये। जैसे-जैसे बच्चा बड़ा हो, वैसे-वैसे उसे अपने अंग-प्रत्यंगों की क्रियाओं को देखने का अभ्यास कराना चाहिये ताकि वह उन्हें अधिकाधिक नियमित कर सके, इस बात का ध्यान रख सके कि उनकी क्रियाएं

स्वाभाविक और सुसमंजस हों। जहांतक उठने-बैठने, हिलने-डुलने एवं अन्य चेष्टाओं के ढंग का प्रश्न है, बुरी आदतें बहुत कम उम्र में और बहुत जल्दी ही बन जाती हैं और वे सारे जीवन के लिये बड़े खतरनाक परिणाम उत्पन्न कर सकती हैं। जो लोग शिक्षा के प्रश्न पर गंभीरतापूर्वक विचार करते हैं, अपने बच्चों को स्वाभाविक ढंग से विकसित होने के लिये उत्तमोत्तम सुविधाएं देना चाहते हैं, उन सबको आवश्यक सूचनाएं और उपदेश आसानी से प्राप्त हो सकते हैं। आज इस विषय का अध्ययन अधिकाधिक सावधानी के साथ किया जा रहा है और बहुत-सी पुस्तकें प्रकाशित हुईं और हो रही हैं जो इस विषय पर आवश्यक सभी प्रकार के निर्देश और ज्ञान प्रदान करती हैं।

यहां मेरे लिये यह संभव नहीं कि इस विषय के समाधान के लिये पूरे ब्योरे के साथ इसकी कार्य-प्रणाली में प्रवेश करूं, और फिर प्रत्येक समस्या ही अन्यों से भिन्न है और समाधान भी प्रत्येक व्यक्ति के प्रसंग में अलग और समुचित होना चाहिये। भोजन के प्रश्न का अध्ययन खूब विस्तार और सावधानी के साथ किया गया है; बच्चों के विकास में सहायता देनेवाले खाद्य पदार्थों को साधारणतया लोग जानते हैं और उनका उपयोग कर लाभ उठा सकते हैं। परंतु यहां यह याद रखना बहुत आवश्यक है कि शरीर की सहज-बुद्धि, जबतक कि वह ज्यों-की-त्यों बनी रहती है, सभी सिद्धांतों से अधिक जानती है। यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारे बच्चे स्वाभाविक ढंग से विकसित हों तो तुम्हें उन्हें ऐसा भोजन खाने के लिये बाध्य नहीं करना चाहिये जिससे वे ऊब गये हों, क्योंकि शरीर में प्रायः एक सुनिश्चित सहज-बोध होता है जिससे वह जान लेता है कि उसके लिये कौन-सी चीज हानिकारक है। अवश्य ही, अगर बच्चा चंचल और मनमौजी हो तो बात दूसरी है।

अपनी साधारण स्थिति में, अर्थात्, मानसिक धारणाओं या प्राणिक आवेगों का कोई हस्तक्षेप न हो तो, शरीर यह भली-भांति जानता है कि उसके लिये कौन-सी चीज अच्छी और आवश्यक है; पर इस प्रकार की स्थिति सामान्य रूप से केवल तभी आ सकती है जब कि बच्चे को खूब सावधानी के साथ शिक्षा दी गयी हो और वह वासनाओं को, आवश्यकताओं को पृथक् करना सीख गया हो। जो भोजन सादा और स्वास्थ्यप्रद हो, सार-तत्त्व से भरपूर और भूख बढ़ानेवाला हो, सब प्रकार की व्यर्थ की जटिलताओं से खाली हो, उसका स्वाद उसे पड़ना चाहिये। उसे अपने रोज के भोजन में उन सब चीजों से अवश्य परहेज रखना चाहिये जो महज पेट को भर देती और भारीपन ले आती हैं; विशेषकर उसे यह सिखाना चाहिये कि वह अपनी भूख के अनुसार भोजन करे, न अधिक, न कम, और न अपने लोभ और पेटुपन को तृप्त करने का एक अवसर समझकर भोजन करे। बिलकुल बचपन से ही हमें यह जान लेना चाहिये कि हम अपने शरीर को सबल और स्वस्थ रखने के लिये भोजन करते हैं, रसना के सुखों का उपभोग करने के लिये नहीं। बच्चे को वही भोजन देना चाहिये जो उसके स्वभाव के अनुकूल हो, स्वास्थ्य और स्वच्छता-संबंधी नियमों के अनुसार

बना हो, जो खाने में स्वादिष्ट हो और फिर भी बहुत सादा हो और यह भोजन बच्चे की उम्र और उसके नियमित कार्यों के अनुसार चुना और नपा होना चाहिये, इसमें वे सभी रासायनिक और शक्तिशाली तत्त्व होने चाहियें जो शरीर के सभी अंगों के विकास और संतुलित वृद्धि के लिये आवश्यक हैं।

क्योंकि बच्चे को वही भोजन दिया जायेगा जो उसके स्वास्थ्य की रक्षा करने और आवश्यक शक्ति प्रदान करने के लिये आवश्यक होगा; हमें इस विषय में खूब सावधान रहना चाहिये कि बच्चे को परेशान करने या दण्ड देने के एक उपाय के रूप में भोजन का उपयोग न किया जाये। बच्चे को यह कहने की आदत कि तुम अच्छे बच्चे नहीं हो, तुम्हें तीसरे पहर का कलेवा नहीं दिया जायेगा इत्यादि, बहुत हानिकारक है। ऐसा कहकर तुम उसकी नन्हीं-सी चेतना में यह संस्कार उत्पन्न करते हो कि भोजन उसे मुख्यतः अपनी लोभ-लालसा को तृप्त करने के लिये दिया जाता है, न कि इसलिये कि वह उसके शरीर के अच्छे ढंग से कार्य करते रहने के लिये अनिवार्य है।

उसके बाद, एक दूसरी बात बच्चे को एकदम बाल्यकाल में ही सिखानी चाहिये और वह है—स्वच्छता और स्वस्थ आदतों के प्रति अनुराग। अगर तुम चाहते हो कि स्वच्छता के लिये यह अनुराग स्वास्थ्य के नियमों के लिये आदर-भाव बच्चे में दिखायी दें तो तुम्हें बड़ी सावधानी के साथ यह ख्याल भी करना चाहिये कि कहीं तुम उसके अंदर बीमारी का भय न भर दो। भय शिक्षा के लिये सबसे बुरा साधन है, क्योंकि भय अपने विषय को खींच ले आने का सबसे अधिक निश्चित पथ है। फिर भी, जहां एक ओर बीमारी का भय नहीं होना चाहिये, वहां दूसरी ओर उसमें किसी प्रकार की रुचि होनी भी उचित नहीं। यह एक प्रचलित विश्वास है कि तीक्ष्ण बुद्धिवाले लोगों का शरीर दुर्बल होता है। यह भ्रम है और इसका कोई आधार नहीं। संभवतः कभी एक युग था जब कि शारीरिक अस्तव्यस्तता के प्रति लोगों की एक विचित्र और गंदी रुचि थी, पर सौभाग्य की बात है कि वह प्रवृत्ति अब दूर हो गयी है। आजकल लोग सुगठित, सुदृढ़, मांसल, बलिष्ठ और पूर्ण सुडौल शरीर की प्रशंसा करते हैं और उसका सच्चा मूल्य समझते हैं। पर, जो हो, बच्चों को यह शिक्षा देनी चाहिये कि वे स्वास्थ्य को आदर की दृष्टि से देखें, उस स्वस्थ मनुष्य की प्रशंसा करें जिसका शरीर बीमारी के आक्रमण को दूर फेंक देने की कला जानता है। बहुत बार बच्चे बीमारी का बहाना करते हैं ताकि वे किसी आवश्यक, किंतु कष्टपूर्ण कार्य से बच जायें, उस कार्य से बच जायें जिसमें उनकी रुचि नहीं, अथवा उनके माता-पिता का हृदय पसीज जाये और वे उनकी इच्छा को तृप्त कर दें। बच्चे को यथासंभव शीघ्र-से-शीघ्र यह भी सिखा देना चाहिये कि यह पद्धति बहुत लाभदायी नहीं है और बीमार हो जाने पर लोग तुम में अधिक दिलचस्पी नहीं दिखलायेंगे, बल्कि उससे विपरीत अवस्था में दिखलायेंगे। दुर्बल लोगों में यह विश्वास करने की प्रवृत्ति होती है कि उनकी दुर्बलता

उन्हें विशेष रूप से लोगों का प्रिय बना देती है और वे लोग, यदि आवश्यक हो, अपने साथ और इर्द-गिर्द रहनेवाले लोगों का ध्यान, सहानुभूति अपनी ओर आकर्षित करने के एक साधन के रूप में अपनी इस दुर्बलता का और, यहां तक कि, अपनी बीमारी का उपयोग करते हैं। किसी भी कारण से इस घातक प्रवृत्ति को प्रोत्साहित नहीं करना चाहिये। बच्चों को सिखाना चाहिये कि बीमार होना दोष-त्रुटि और हीनता का सूचक है, न कि किसी गुण या त्याग का।

इसके लिये उत्तम बात यह है कि जब बच्चा अपने अंगों का व्यवहार करने योग्य हो जाये तब प्रतिदिन कुछ समय अपने शरीर के सभी भागों को विधिपूर्वक और नियमित रूप से विकसित करने में लगाये। प्रत्येक दिन २० से ३० मिनट तक—अगर संभव हो तो सवेरे बिछौने से उठने के बाद का समय अधिक अच्छा होगा—यदि लगाये जायें तो वे मांसपेशियों में अच्छी गति और संतुलित वृद्धि ले आने के लिये पर्याप्त होंगे। साथ ही, उससे जोड़ों और रीढ़ की हड्डी का सख्त पड़ जाना भी रुक जाता है जो कि, साधारणतया, अपने समय से पहले ही आ जाता है। बच्चों की शिक्षा के साधारण कार्यक्रम के अंदर खेल-कूद को काफी अच्छा स्थान देना चाहिये, इससे उसे समस्त औषध-जगत् की अपेक्षा, कहीं अधिक अच्छा स्वास्थ्य प्राप्त होगा। अगर धूप में एक घंटा व्यायाम किया जाये (शारीरिक हरकतें की जायें), तो कमजोरी या खून की कमी दूर करने में वह बलवर्धक दवाओं (टॉनिकों) के समूचे भंडार से कहीं अधिक काम करता है। मैं तो तुम्हें यह सलाह दूंगी कि जबतक दूसरी तरह से काम चलाना पूर्ण रूप से असंभव न हो जाये तबतक कभी औषध मत ग्रहण करो; और इस "पूर्ण रूप से असंभव" के विषय में भी तुम्हें पूर्ण रूप से कठोर होना चाहिये—इस स्थिति को सहज ही स्वीकार नहीं करना चाहिये। यद्यपि शरीर-चर्या के इस प्रोग्राम के अंदर कुछ प्रसिद्ध साधारण पद्धतियां हैं जिनके द्वारा शरीर का उत्तमोत्तम विकास किया जा सकता है; फिर भी, यदि किसी पद्धति को पूर्ण रूप से फलदायी बनाना हो तो प्रत्येक व्यक्ति के लिये स्वतंत्र रूप से विचार करना चाहिये और उसके लिये कोई पद्धति निश्चित करने के लिये यदि संभव हो तो किसी सुयोग्य व्यक्ति की सहायता लेनी चाहिये, अथवा इस विषय से संबंधित पुस्तकों का अवलोकन करना चाहिये। ऐसी पुस्तकें काफी छप चुकी हैं अथवा छप रही हैं।

पर, हर हालत में, बच्चों को, चाहे वह जो कुछ भी करता हो, सोने के लिये काफी समय मिलना चाहिये। यह समय उम्र के अनुसार अलग-अलग हो सकता है। पालने के बच्चे को जगने की अपेक्षा, सोना अधिक चाहिये। पर जैसे-जैसे बच्चा बढ़ता जायेगा, वैसे-वैसे सोने का समय कम होता जायेगा। परंतु युवा अवस्था आने तक, यह समय ८ घंटे से कम नहीं होना चाहिये और फिर सोने का स्थान खूब शांत और हवादार होना चाहिये। और कभी व्यर्थ में बच्चे को प्रारंभिक रात की नींद से वंचित नहीं करना चाहिये। स्नायुओं को आराम पहुंचाने के लिये आधी रात से पहले का

समय सबसे उत्तम है। फिर जगने के समय भी, प्रत्येक आदमी के लिये, जो अपनी स्नायुओं में समतोलता बनाये रखना चाहता है, विश्राम करना अत्यंत आवश्यक है। मांसपेशियों और स्नायुओं को विश्राम देने की विधि जानना एक कला है और बिलकुल छोटी अवस्था में ही बच्चे को इसकी शिक्षा देनी चाहिये। पर बहुतेरे माता-पिता ऐसे होते हैं जो इसके विपरीत अपने बच्चों को निरंतर कार्य करते रहने के लिये बाध्य करते हैं। जब बच्चा चुपचाप बैठता है तब वे समझते हैं कि वह बीमार हो गया है। यहांतक कि, ऐसे माता-पिता भी हैं जिन्हें अपने बच्चों से घरेलू काम कराने की बुरी आदत होती है, और इस तरह वे बच्चों के आराम करने का समय ले लेते हैं। एक बढ़ते हुए स्नायुमंडल के लिये इससे अधिक बुरी चीज और कोई नहीं। अत्यंत लगातार होनेवाले प्रयास का दबाव अथवा उसके ऊपर लादे हुए, स्वेच्छापूर्वक पसंद किये गये कार्य का भार सहने में वह असमर्थ होता है। समस्त प्रचलित भावनाओं और धारणाओं के विरुद्ध मेरा तो मत यह है कि बच्चों से सेवा की मांग करना उचित नहीं है, यह समझना अनुचित है कि माता-पिता की सेवा करना बच्चे का कर्तव्य है। बल्कि अधिक बड़ा सत्य इसके विपरीत है : निश्चय ही यही स्वाभाविक है कि माता-पिता अपने बच्चों की सेवा करें, कम-से-कम उनकी अधिकतम देखभाल करें। यदि बच्चा स्वतंत्रतापूर्वक परिवार के लिये काम करना स्वयं पसंद करे और कार्य को खेल के रूप में करे तभी उसे ऐसा करने देना उचित है। और उस हालत में भी हमें इस विषय में सावधान रहना चाहिये कि किसी तरह उसके आराम का समय कम न हो जाये जो उसके शरीर के समुचित रूप से कार्य करने के लिये अत्यंत आवश्यक है।

मैं कह चुकी हूं कि बिलकुल छोटी उम्र से ही बच्चों को शारीरिक स्वास्थ्य, शक्ति-सामर्थ्य और संतुलन का आदर करना सिखाना चाहिये। सौंदर्य की महान् आवश्यकता के ऊपर भी खूब जोर देना चाहिये। छोटे-छोटे बच्चों में सौंदर्य की अभीप्सा होनी चाहिये, इसलिये नहीं कि दूसरे उससे प्रसन्न होंगे या उससे उनका नाम होगा, बल्कि स्वयं सौंदर्य के प्रेम के लिये सौंदर्य की चाह होनी चाहिये। क्योंकि, सौंदर्य वह आदर्श है जिसे भौतिक जीवन में सिद्ध करना है। प्रत्येक मनुष्य के अंदर यह संभावना निहित है कि वह अपने शरीर की विभिन्न गतियों में सामंजस्य स्थापित करे। मनुष्य का शरीर, यदि वह अपने जीवन के आरंभ से ही शरीर-चर्या की किसी युक्तिपूर्ण पद्धति का अनुसरण करे तो वह अपना सामंजस्य स्थापित कर सकता है और इस तरह सौंदर्य अभिव्यक्त करने के योग्य हो सकता है। जब हम सर्वांगपूर्ण शिक्षा के अन्यान्य पहलुओं की चर्चा करेंगे तब हम देखेंगे कि एक दिन, यदि इस सौंदर्य को अभिव्यक्त होना है तो उसके लिये हमें किन भीतरी शर्तों को पूरा करना होगा।

अबतक मैंने केवल बच्चों को दी जानेवाली शिक्षा की बात कही है क्योंकि उचित

समय पर दिये जानेवाले उन्नत शारीरिक शिक्षण के द्वारा बहुत-से शरीरिक दोषों को, कुरूपताओं को दूर किया जा सकता है। पर अगर किसी कारणवश किसी को यह शिक्षा बचपन में न दी गयी हो तो इसका आरंभ किसी भी उम्र में किया जा सकता है और फिर सारे जीवन इसका अनुसरण किया जा सकता है। परंतु जितनी ही देर से हम आरंभ करेंगे उतना ही अधिक हमें बुरी आदतों का मुकाबला करना, उन्हें सुधारने, जड़ता-कठोरता को दूर कर कोमलता-नमनीयता लाने और विकृत अंगों को दुरुस्त करने के लिये तैयार रहना होगा। इस तैयारी के काम के लिये बहुत अधिक धैर्य और लगन की आवश्यकता होगी और तब कहीं वह अवस्था आयेगी जब हम शरीर के आकार और उसकी गतियों में सामंजस्य स्थापित करने के लिये किसी क्रियात्मक प्रोग्राम को आरंभ कर सकेंगे। परंतु जिस सौंदर्य को प्राप्त करना है उसके जीवंत आदर्श को अगर तुम अपने अंदर धारण करो तो अपने लक्ष्य पर पहुंचना तुम्हारे लिये सुनिश्चित है।

('बुलेटिन', अप्रैल १९५१)

प्राण की शिक्षा

सब प्रकार की शिक्षाओं में संभवतः प्राण की शिक्षा सबसे अधिक आवश्यक है। फिर भी इसका ज्ञानपूर्वक तथा विधिवत् आरंभ और अनुसरण बहुत कम लोग करते हैं। इसके कई कारण हैं : सबसे पहले, इस विशेष विषय का जिन बातों से संबंध है उनके स्वरूप के विषय में मानव बुद्धि को कोई सुस्पष्ट धारणा नहीं है; दूसरे, कार्य बड़ा ही कठिन है और इसमें सफलता प्राप्त करने के लिये हमारे अंदर सहनशीलता, अनंत अध्यवसाय और सुदृढ़ संकल्प होने आवश्यक हैं।

निःसंदेह, मनुष्य की प्रकृति में प्राण एक स्वेच्छाचारी और जोर-जबर्दस्ती करनेवाला अत्याचारी है। और, क्योंकि इसमें बल-वीर्य, शक्ति-सामर्थ्य, उत्साह और अमोघ क्रियाशीलता निहित है, बहुत लोग इसके प्रति भयमिश्रित सम्मान का भाव रखते हैं और इसे सदा प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं। परंतु यह एक ऐसा मालिक है जो किसी चीज से संतुष्ट नहीं होता, इसकी मांगों की कोई सीमा नहीं। दो भावनाएं जो बहुत प्रचलित हैं, विशेषकर पश्चिम में, इसके प्रभुत्व को और अधिक सुदृढ़ बनाने में सहायता कर रही हैं : एक—जीवन का लक्ष्य सुखी होना है; दो—तुम एक विशिष्ट स्वभाव लेकर उत्पन्न हुए हो और उसे बदलना असंभव है।

पहली भावना एक बहुत गभीर सत्य की वीभत्स विकृति है : वह सत्य यह है कि जो कुछ भी है वह सत्ता के आनंद पर आधारित है और सत्ता के आनंद के बिना जीवन का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। परंतु सत्ता का यह जो आनंद है भगवान् का एक गुण है और इसलिये किसी भी शर्त से बंधा नहीं है, उसे जीवन में सुख की खोज के साथ मिला-जुला नहीं देना चाहिये, क्योंकि यह तो अधिकांश में, परिस्थितियों पर निर्भर करती है। जो दृढ़ विचार हमें यह विश्वास प्रदान करता है कि हमें सुखी होने का अधिकार है, वह स्वभावतः ही, हमें अपना जीवन हर अवस्था में अपनी इच्छा के अनुसार बिताने की ओर ले जाता है। यह मनोभाव अपने अंधकारपूर्ण और आक्रमणकारी अहंभाव के कारण सब प्रकार का विरोध और दुःख-कष्ट, धोखा और अनुत्साह तथा अंत में प्रायः भयंकर हानि पैदा करता है।

वास्तव में जगत् जैसा है, इसमें जीवन का लक्ष्य व्यक्तिगत सुख प्राप्त करना नहीं, बल्कि व्यक्ति को उत्तरोत्तर सत्य-चेतना के प्रति जाग्रत् करना है।

दूसरी भावना इस बात से उत्पन्न होती है कि स्वभाव में कोई मूलगत परिवर्तन ले आने के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य अपनी अवचेतना के ऊपर लगभग पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करे, और साथ ही निश्चेतना से जो कुछ भी उठता है—जो, सामान्य प्रकृति में, वंशानुक्रम के या जिस पारिपार्श्विक अवस्था में मनुष्य जन्मा होता है उसके परिणामों का प्रकाश होता है—उसे बड़ी कठोरतापूर्वक संयमित करे। पर वह भगीरथ कार्य केवल चेतना की प्रायः असामान्य वृद्धि तथा भगवत्कृपा की निरंतर सहायता के

द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, इस कार्य का प्रयास बहुत कम ही किया गया है, बहुत-से विख्यात गुरुओं ने इसे असाध्य और आकाश-कुसुम ही घोषित किया है। फिर भी यह असाध्य नहीं है। सच पूछा जाये तो स्वभाव का रूपांतर सिद्ध किया जा चुका है एक स्पष्टदर्शी साधना और अध्यवसाय के द्वारा जो इतना दृढ़ होता है कि कोई भी चीज, यहांतक कि, अत्यंत स्थायी असफलताएं भी उसे निरुत्साहित नहीं कर सकतीं।

इसके लिये अत्यंत आवश्यक प्रारंभ यह है कि मनुष्य उस स्वभाव का पूरे ब्योरे के साथ और पूर्ण रूप से निरीक्षण करे जिसे रूपांतरित करना है। अनेक मनुष्यों के लिये, स्वयं यह कार्य भी बड़ा कठिन और प्रायः चकरा देनेवाला होता है। परंतु एक बात है जिसे प्राचीन परंपराएं जानती थीं और जो आंतर अन्वेषण की भूल-भुलैया के अंदर पथ-प्रदर्शक सूत्र का कार्य कर सकती है। वह यह है कि प्रत्येक मनुष्य के अंदर काफी मात्रा में, और विशिष्ट व्यक्तियों में कहीं अधिक सुनिश्चितता के साथ, स्वभाव की दो विरोधी प्रवृत्तियां होती हैं, जो प्रायः समान अनुपात में और एक ही चीज की प्रकाशित आकृति और छाया के समान होती हैं। इसी कारण जो मनुष्य असाधारण रूप में उदार होने की क्षमता रखता है वही अकस्मात् देखता है कि उसकी प्रकृति में एक तरह की कठोर कंजूसी घुस आयी है, साहसी मनुष्य कहीं पर डरपोक बन जाता है और भला मनुष्य सहसा बुरी प्रवृत्तियां ग्रहण कर लेता है। मालूम होता है कि जीवन प्रत्येक व्यक्ति को एक आदर्श की अभिव्यक्ति की संभावना के साथ-साथ उसके विरोधी तत्त्व प्रदान करता है। ये तत्त्व उसे ठोस रूप में दिखा देते हैं कि सिद्धि को सुलभ बनाने के लिये वह कौन-सा युद्ध है जो लड़ना है और वह कौन-सी विजय है जो उसे प्राप्त करनी है। इस तरह देखने से, समूचा जीवन ही एक शिक्षा-क्रम है जो कम या अधिक सचेतन रूप में, कम या अधिक स्वेच्छापूर्वक चलता रहता है। कुछ व्यक्तियों में यह शिक्षा प्रकाश को प्रकट करनेवाली क्रियाओं को सहायता पहुंचाती है, दूसरों में, इसके विपरीत, छाया को प्रकट करनेवाली क्रियाओं को। अगर परिस्थितियां और पारिपार्श्विक अवस्था अनुकूल हो तो छाया को हानि पहुंचाकर प्रकाश बढ़ता है, अन्यथा इसके विपरीत होता है। यदि एक उच्चतर तत्त्व का, एक सज्ञान संकल्प-शक्ति का ज्योतिर्मय हस्तक्षेप न हो जो प्रकृति को अपनी मनमौजी प्रक्रिया का अनुसरण न करने दे, बल्कि उसके स्थान में एक युक्तिसंगत और स्पष्टदर्शी साधना को ला बिठाये तो व्यक्ति का स्वभाव प्रकृति की मनमौज के अनुसार और भौतिक तथा प्राणिक जीवन के कठोर नियमों के अधीन गठित होता है। हम जब शिक्षा की युक्तिपूर्ण पद्धति की बात कहते हैं तब हमारा मतलब इस सज्ञान संकल्प-शक्ति से ही होता है।

इसी कारण, यह अत्यंत आवश्यक है कि बच्चे की प्राण की शिक्षा यथासंभव शीघ्र-से-शीघ्र, निःसंदेह, ज्यों ही वह अपनी इंद्रियों का व्यवहार करने के योग्य हो

जाये त्यों ही, आरंभ हो जानी चाहिये। इस तरह वह बहुत-सी बुरी आदतों से बच जायेगा और हानिकारक प्रभावों को दूर कर सकेगा।

प्राण की शिक्षा के दो प्रधान रूप हैं। वे दोनों ही लक्ष्य और पद्धति की दृष्टि से एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं, पर हैं दोनों ही एक समान महत्त्वपूर्ण। पहला इंद्रियों के विकास और उनके उपयोग से संबंध रखता है और दूसरा है अपने चरित्र के विषय में सचेतन होना और धीरे-धीरे उस पर प्रभुत्व स्थापित कर अंत में उसका रूपांतर साधित करना।

फिर इंद्रियों के शिक्षा के भी कई रूप हैं, जैसे-जैसे सत्ता वर्द्धित होती है वैसे-वैसे वे रूप एक-दूसरे के साथ जुड़ते चले जाते हैं; निश्चय ही, यह शिक्षा बंद कभी नहीं होनी चाहिये। इंद्रियों को इस प्रकार सुशिक्षित किया जा सकता है कि वे अपनी क्रिया में, साधारणतया उनसे जैसी आशा की जाती है उससे बहुत अधिक निर्दोषता और शक्ति प्राप्त कर सकें।

किसी प्राचीन गुह्य ज्ञान ने घोषणा की थी कि मनुष्य जिन इंद्रियों को विकसित कर सकता है उनकी संख्या पांच नहीं, बल्कि सात है और कुछ शेष क्षेत्रों में बारह तक हैं। विभिन्न जातियों ने विभिन्न युगों में इन अतिरिक्त इंद्रियों में से किसी को भी कम या अधिक पूर्णता के साथ आवश्यकतावश विकसित किया था। अगर एक समुचित साधना का लगातार अनुसरण किया जाये तो जो लोग सच्चे दिल से इनके विकास तथा उसके परिणामों में रूचि रखते हैं वे सभी इन्हें प्राप्त कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, जिन अनेक शक्तियों की लोग प्रायः ही चर्चा किया करते हैं, उनमें से एक है—अपनी शरीर-चेतना को विस्तारित कर देना, अपने से बाहर इस प्रकार फैला देना कि उसे किसी एक निश्चित बिंदु पर एकाग्र किया जा सके और इस तरह दूर की चीजों को देखा, सुना, सूंघा, चखा और यहांतक कि छुआ जा सके।

इंद्रियों और उसके व्यापार की सामान्य शिक्षा के साथ ही यथाशीघ्र विवेक और सौंदर्य-बोध के विकास की शिक्षा भी देनी होगी। अर्थात्, जो कुछ सुंदर और सामंजस्यपूर्ण है, सरल, स्वस्थ और शुद्ध है, उसे चुन लेने और ग्रहण करने की क्षमता—क्योंकि शारीरिक स्वास्थ्य के समान ही मानसिक स्वास्थ्य भी होता है, जिस तरह शरीर और उसकी गतियों का एक सौंदर्य होता है उसी तरह इंद्रियानुभवों का भी एक सौंदर्य और सामंजस्य है। जैसे-जैसे बच्चे की सामर्थ्य और समझ बढ़े वैसे-वैसे उसे अध्ययनकाल में ही यह सिखाना चाहिये कि वह शक्ति और यथार्थता के साथ-साथ सौंदर्य-विषयक सुरुचि और सूक्ष्म वृत्ति का भी विकास करे। उसे सुन्दर, उच्च, स्वस्थ और महत् चीजें, चाहे वे प्रकृति में हों या मानव सृष्टि में, दिखानी होंगी, उन्हें पसंद करना और उनसे प्रेम करना सिखाना होगा। वह एक सच्चा सौंदर्यानुशीलन होना चाहिये और वह पतनकारी प्रभावों से उसकी रक्षा करेगा। मालूम होता है कि गत महायुद्धों के तुरंत बाद और उन द्वारा उद्दीपित भयानक स्नायविक उत्तेजना के

फलस्वरूप, मानों मानव सभ्यता के पतन और समाज-व्यवस्था के भंग होने के चिह्न के रूप में, एक प्रकार की बढ़ती हुई नीचता ने मनुष्य-जीवन को, व्यक्तिगत रूप से और सामूहिक रूप से भी, अधिकृत कर लिया है, विशेषकर सौंदर्य-लक्षी जीवन और इंद्रियों के जीवन के स्तर में। अगर इंद्रियों का विधिवत् और ज्ञानपूर्वक संस्कार किया जाये तो बच्चे में संसर्ग-दोष के कारण जो निकृष्ट, सामान्य और असंस्कृत चीजें आ गयी हैं वे धीरे-धीरे दूर की जा सकती हैं, और साथ ही, यह संस्कार उसके चरित्र पर भी सुखद प्रतिक्रियाएं उत्पन्न करेगा। क्योंकि जिस व्यक्ति ने सचमुच एक समुन्नत रुचि विकसित की है वह, स्वयं उस सुरुचि के कारण ही, भद्दे, बर्बर या हीन ढंग से कार्य करने में अपने को असमर्थ अनुभव करेगा। यह सुरुचि, अगर यह सच्ची हो तो, व्यक्ति के अंदर एक प्रकार की महानता और उदारता ले आयेगी जो उसके कार्य करने की पद्धति में सहज-स्वाभाविक ढंग से प्रकट होंगी और उसे बहुत-सी नीच और उल्टी क्रियाओं से अलग रखेगी।

इससे स्वभावतः ही हम प्राण की शिक्षा के दूसरे पहलू पर पहुंच गये हैं, उस पहलू पर जिसका संबंध चरित्र और उसके रूपांतर से है।

साधारणतया, साधना की जो विधियां प्राण, उसकी शुद्धि और उस पर प्रभुत्व-प्राप्ति से संबंध रखती हैं, वे दमन, संयम, त्याग और संन्यास के द्वारा अग्रसर होती हैं। यह प्रक्रिया निश्चिय ही अधिक आसान और शीघ्र फल देनेवाली है, यद्यपि, गभीरतर दृष्टि से देखने पर, सच्ची और सांगोपांग शिक्षा की अपेक्षा, कम टिकाऊ और कार्यकारी है। इसके अतिरिक्त, यह प्राण के हस्तक्षेप, सहायता और सहयोग की समस्त संभावना को ही बहिष्कृत कर देती है। परंतु, यदि कोई व्यक्ति का और उसके कार्य का सर्वांगीण विकास करना चाहता हो तो प्राण की यह सहायता प्राप्त करनी अत्यंत आवश्यक है।

अपने अंदर की बहुत-सी क्रियाओं के विषय में सचेतन होना, यह देखना कि हम क्या करते हैं और क्यों करते हैं, अत्यंत आवश्यक आरंभ है। बच्चे को सिखाना चाहिये कि वह आत्म-निरीक्षण करे, अपनी प्रतिक्रियाओं तथा आवेगों और उनके कारणों को समझे, अपनी वासनाओं का, उग्रता और उत्तेजना की अपनी क्रियाओं का, अधिकार जमाने, अपने उपयोग में लाने और शासन करने की सहज प्रेरणा का तथा मिथ्याभिमान-रूपी आधार-भूमिका—जिस पर ये चेष्टाएं अपनी परिपूरक दुर्बलता, अनुत्साह, अवसाद और निराशा के साथ स्थित होती हैं—स्पष्टदर्शी साक्षी बने।

स्पष्ट ही प्रक्रिया तभी लाभदायी होगी जब निरीक्षण करने की शक्ति बढ़ने के साथ-साथ प्रगति करने और पूर्णता पाने का संकल्प भी बढ़ता जाये। ज्यों ही बच्चा इस संकल्प को धारण करने की योग्यता प्राप्त कर ले त्यों ही, अर्थात्, साधारण विश्वास के विपरीत, बहुत कम उम्र में ही यह उसके अंदर भर देना चाहिये।

प्रभुत्व और विजय-प्राप्ति के इस संकल्प को जाग्रत् करने की विधियां विभिन्न व्यक्तियों के लिये विभिन्न प्रकार की होती हैं। कुछ व्यक्तियों के लिये युक्तिपूर्ण तर्क

सफल होता है, दूसरों के लिये भावुकता और शुभ कामना को व्यवहार में लाना पड़ता है, फिर अन्यों के लिये मर्यादा और आत्म-सम्मान का भाव ही पर्याप्त होता है। परंतु सभी लोगों के लिये अत्यंत शक्तिशाली उपाय है—उसके सामने निरंतर और सच्चाई के साथ दृष्टांत उपस्थित करना।

अगर एक बार संकल्प दृढ़ता से स्थापित हो जाये तो फिर विशेष कुछ करना नहीं रह जाता। बस, इतना ही पर्याप्त है कि सच्चाई और लगन के साथ मनुष्य आगे बढ़ता जाये और हार को कभी अंतिम चीज न मान बैठे। अगर तुम समस्त दुर्बलता और पीछे हटने से बचना चाहो तो एक महत्त्वपूर्ण बात तुम्हें अवश्य जाननी चाहिये और उसे कभी नहीं भूलना चाहिये : मनुष्य अपने संकल्प को अपनी मांसपेशियों की तरह विधिबद्ध और वर्द्धमान अभ्यासों के द्वारा उन्नत और विकसित कर सकता है। जो चीज तुम्हें महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होती उसके लिये भी अधिक-से-अधिक प्रयास अपने संकल्प से मांगने में तुम्हें हिचकिचाना नहीं चाहिये; क्योंकि प्रयास के द्वारा ही क्षमता बढ़ती है, उसे अत्यंत कठिन कार्यों में भी व्यवहार में लाने की शक्ति धीरे-धीरे प्राप्त होती है। जो कुछ करने का निर्णय तुमने किया है वह तुम्हें अवश्य करना चाहिये चाहे कुछ भी क्यों न हो जाये, यहांतक कि चाहे तुम्हें कितनी ही बार नये सिरे से अपना प्रयास क्यों न आरंभ करना पड़े। प्रयास के द्वारा तुम्हारा संकल्प सुदृढ़ होगा और अंत में तुम्हें इससे अधिक कुछ भी नहीं करना पड़ेगा कि तुम स्पष्ट दृष्टि से वह लक्ष्य चुन लो जिसके लिये तुम इसका व्यवहार करोगे।

सार-रूप में कह सकते हैं : हमें अपने स्वभाव का पूरा ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और फिर अपनी क्रियाओं पर ऐसा संयम प्राप्त करना चाहिये कि हमें पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त हो जाये और जिन चीजों को रूपांतरित करना है उनका रूपांतर साधित हो जाये।

अब, बाकी सब कुछ निर्भर करता है उस आदर्श पर जिसे प्रभुत्व और रूपांतर के प्रयास के द्वारा प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है। प्रयास और उसके फल का मूल्य उस आदर्श के मूल्य पर निर्भर करेगा। इस विषय की चर्चा हम मन की शिक्षा के संबंध में आलोचना करते हुए अपने अगले लेख में करेंगे।

('बुलेटिन', अगस्त १९५१)

मन की शिक्षा

सब प्रकार की शिक्षाओं में सबसे अधिक प्रचलित है मन की शिक्षा। तो भी कुछ एक अपवादों को छोड़कर, साधारणतः, इसमें ऐसे छिद्र रह जाते हैं जो इसे बहुत ही अपूर्ण और अंत में एकदम निरर्थक बना देते हैं।

मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि शिक्षा का अर्थ लोग समझते हैं मन की आवश्यक शिक्षा। बच्चे को कुछ वर्ष एक कठोर शिक्षा पद्धति के अनुसार शिक्षा दे चुकने पर, जो उसके मस्तिष्क को प्रबुद्ध करने की अपेक्षा कहीं अधिक उसमें ज्ञान-सामग्री को ठूंस देती है, हम समझ लेते हैं कि उसके मानसिक विकास के लिये जो कुछ करना आवश्यक था वह पूरा हो गया। पर बात ऐसी नहीं है। अगर शिक्षा समुचित मात्रा में और विचार-विमर्श के साथ भी दी जाती है और वह मस्तिष्क को कोई हानि नहीं पहुंचाती तो भी वह मानव मन को वे सब क्षमताएं नहीं दे पाती जो उसे एक अच्छा और उपयगी यंत्र बनाने के लिये आवश्यक है। साधारणतया जो शिक्षा बच्चों को दी जाती है वह, अधिक-से-अधिक, शारीरिक व्यायाम की तरह मस्तिष्क की नमनीयता को बढ़ा सकती है। इस दृष्टिकोण से देखें तो, मानवी विद्या की प्रत्येक शाखा ही एक विशेष प्रकार का मानिसक व्यायाम होती है, और इन सब शाखा-प्रशाखाओं में से प्रत्येक के अंदर जिस शब्दावलि का प्रयोग किया जाता है वह उस शाखा की अपनी विशेष और सुनिश्चित भाषा होती है।

मन की सच्ची शिक्षा के, उस शिक्षा के जो मनुष्य को एक उच्चतर जीवन के लिये तैयार करेगी, पांच प्रधान अंग हैं। साधारणतया ये अंग एक के बाद एक आते हैं, पर विशेष व्यक्तियों में वे अदल-बदल कर या एक साथ भी आ सकते हैं। वे पांचों अंग, संक्षेप में, इस प्रकार हैं :

१. एकाग्रता की शक्ति का, मनोयोग की क्षमता का विकास करना।

२. मन को व्यापक, विशाल, बहुविध और समृद्ध बनाने की क्षमताएं विकसित करना।

३. जो केंद्रीय विचार या उच्चतर आदर्श या परमोज्ज्वल भावना जीवन में पथ-प्रदर्शन का काम करेगी उसे केंद्र बनाकर समस्त विचारों को सुसंगठित, व्यवस्थित करना।

४. विचारों को संयमित करना, अनिष्ट विचारों का त्याग करना, ताकि मनुष्य अंत में, जैसा चाहे वैसा और जब चाहे तब विचार कर सके।

५. मानसिक निश्चलता का, परिपूर्ण शांति का और सत्ता के उच्चतर क्षेत्रों से आनेवाली अंतःप्रेरणाओं को अधिकाधिक पूर्णता के साथ ग्रहण करने की क्षमता का विकास करना।

शिक्षा के इन अंगों को कार्यान्वित करने के लिये भिन्न व्यक्तियों के लिये जिन

पद्धतियों का व्यवहार किया जा सकता है उन सबका पूरा ब्योरा देना तो यहां संभव नहीं है, पर फिर भी कुछ व्याख्यात्मक सूचनाएं दी जा सकती हैं।

यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि बच्चे की मानसिक उन्नति को जो चीज सबसे अधिक बाधा पहुंचाती है वह है उसके विचारों का निरंतर विक्षिप्त होते रहना। बालक का विचार तितली की तरह इधर-उधर उड़ता रहता है और उसे एकाग्र करने के लिये उसे अपनी ओर से महान् प्रयास करने की आवश्यकता होती है। फिर भी यह क्षमता उसमें गुप्त रूप से विद्यमान है। क्योंकि जब तुम किसी चीज में उसकी दिलचस्पी पैदा कर पाते हो तब वह काफी हद तक ध्यान जमाने में समर्थ हो जाता है। अतएव, यह शिक्षा की चतुराई पर निर्भर करता है कि वह धीरे-धीरे बच्चे के अंदर ध्यान जमाने के लिये निरंतर एक समान प्रयास करने और कोई कार्य करते समय उसमें अधिकाधिक पूर्णता के साथ डूब जाने की क्षमता और योग्यता पैदा करे। ध्यान एकाग्र करने की इस क्षमता को विकसित करनेवाले सभी साधन अच्छे हैं; आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार खेल से आरंभ कर पारितोषिक तक, सभी काम में लाये जा सकते हैं। पर अत्यंत महत्त्वपूर्ण चीज है मनोवैज्ञानिक क्रिया। सर्वप्रथम साधन यह है कि जो चीज हम बच्चे को सिखाना चाहते हैं उसमें उसकी दिलचस्पी उत्पन्न कर दें, कार्य करने की रुचि, उन्नति करने की इच्छा जगा दें। बच्चे को देने योग्य सबसे मूल्यवान उपहार यही है कि हम उसमें सीखने का अनुराग, सर्वदा और सर्वत्र सीखने का अनुराग पैदा कर दें ताकि उसके लिये जीवन की सभी परिस्थितियां, सभी घटनाएं अधिक और सदा अधिकाधिक सीखते रहने के लिये नित्य नवीन अवसर बन जायें।

इसके लिये सजगता और एकाग्रता के अतिरिक्त निरीक्षण, यथार्थ अंकन तथा विश्वस्त स्मरणशक्ति भी पैदा करनी चाहिये। निरीक्षण की क्षमता का विकास विभिन्न प्रकार के और स्वाभाविक अभ्यासों के द्वारा, बच्चे के विचार को सजग, सतर्क और स्फूर्तिमान बनाये रखने में सहायता देनेवाले सभी सुअवसरों का उपयोग करके किया जा सकता है। स्मरण-शक्ति की अपेक्षा उसकी बोध-शक्ति को बढ़ाने पर बहुत अधिक बल देना चाहिये। मनुष्य केवल वही जानता है जिसे वह समझता है। जो चीज मनुष्य यंत्र की तरह रट लेता है वह धीरे-धीरे धुंधली होती जाती है और अंत में विलीन हो जाती है। जो कुछ तुम समझ जाते हो उसे तुम कभी नहीं भूलते। कोई भी चीज कैसे और क्यों होती है यह बच्चे को समझाने में तुम्हें कभी आनाकानी नहीं करनी चाहिये। अगर तुम स्वंय न समझा सको तो तुम्हें उसे किसी ऐसे व्यक्ति के पास भेज देना चाहिये जो उसका उत्तर देने योग्य ज्ञान रखता हो अथवा उस प्रश्न से संबंध रखनेवाली पुस्तकें दे देनी चाहिये। बस, इसी तरह तुम धीरे-धीरे बच्चे में सच्चे अध्ययन की रुचि तथा ज्ञान-प्राप्ति के लिये अथक यत्न करने की आदत जगा सकते हो।

इस तरह स्वभावतः हम विकास के दूसरे स्तर में आ जायेंगे जहां पर मन अपने को विस्तारित और समृद्ध बनायेगा।

जैसे-जैसे बच्चा उन्नति करे वैसे-वैसे तुम उसे यह दिखलाओगे कि किस प्रकार प्रत्येक चीज अध्ययन का सुन्दर विषय बन सकती है, बशर्ते कि प्रश्न पर ठीक ढंग से विचार किया जाये। प्रत्येक दिन, प्रत्येक मुहूर्त का जीवन समस्त पाठशालाओं से बढ़कर होता है; वह होता है बहुविध और जटिल, अदृष्टपूर्व अनुभवों से, समाधान के लिये प्रस्तुत समस्याओं से, स्पष्ट और प्रभावक उदाहरणों से तथा प्रत्यक्ष परिणामों से भरा-पूरा। अगर तुम बच्चों के पूछे हुए असंख्य प्रश्नों का बुद्धिमानी तथा स्पष्टता के साथ उत्तर दे सको तो उनमें बड़ी आसानी से एक स्वस्थ-सुन्दर खोज की वृत्ति जगायी जा सकती है। कोई भी मजेदार उत्तर अपनी शृंखला में अन्यान्य चीजों को खींच ले आता है और बच्चा, अपना ध्यान आकृष्ट होने के कारण, बिना किसी प्रयास के बहुत अधिक, पाठशाला में बैठकर साधारणतया जो कुछ सीखता है उससे बहुत अधिक सीख जाता है। सावधानी तथा बुद्धिमानी के साथ पुस्तकों का चुनाव करने से भी बच्चे में लाभदायी चीजें पढ़ने की रुचि उत्पन्न होती है जो एक साथ ही शिक्षाप्रद और आकर्षक होती है। तुम्हें ऐसी किसी चीज से डरना नहीं चाहिये जो बच्चे की कल्पना-शक्ति को जगाती और संतुष्ट करती है; कल्पना ही वह चीज है जो सर्जनशील मानसिक वृत्ति को विकसित करती है तथा यही वह चीज है जो अध्ययन को एक सजीव वस्तु बना देती है और जिससे मन आनंद के साथ वर्द्धित होता है।

मन की नमनीयता और विशालता बढ़ाने के लिये हमें केवल अनेक और बहुविध विषयों के अध्ययन की ओर ही नहीं, बल्कि, विशेषकर, एक ही विषय पर विभिन्न दिशाओं से विचार करने की ओर ध्यान देना चाहिये। ऐसा करने से बालक व्यावहारिक तरीके से यह समझ जायेगा कि एक ही बौद्धिक समस्या का सामना, निपटारा तथा समाधान करने के बहुतेरे रास्ते हैं। इस तरह उसका मस्तिष्क सब प्रकार की कठोरता से मुक्त हो जायेगा और, साथ-ही-साथ उसकी चिंतनशक्ति अधिक समृद्ध तथा नमनीय हो जायेगी और कहीं अधिक बहुमुख एवं व्यापक समन्वय के लिये तैयार हो जायेगी। इस तरीके से बच्चे में यह भाव भी भरा जा सकता है कि मानसिक ज्ञान अत्यंत आपेक्षिक वस्तु है और फिर धीरे-धीरे ज्ञान के एक अधिक सच्चे उद्गम के लिये उसमें अभीप्सा जगायी जा सकती है।

निःसंदेह, जैसे-जैसे बच्चा अपने अध्ययन में अग्रसर होता है और उम्र में बड़ा होता है, वैसे-वैसे उसका मन भी परिपक्व होता है और सामान्य भावनाओं को ग्रहण करने में अधिकाधिक सक्षम होता है; और फिर, इसके साथ-साथ सदैव निश्चयात्मक भाव की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है, एक ज्ञान की आवश्यकता महसूस होती है जो इतना अधिक स्थायी हो कि उसे आधार बनाकर एक मानसिक रचना तैयार की जा सके—ऐसी रचना तैयार की जा सके जो मस्तिष्क में एकत्र हुई सभी भिन्न और अस्त-व्यस्त और बहुधा विरोधी भावनाओं को सुव्यवस्थित तथा क्रमबद्ध करने दे। निश्चय ही, यदि हम अपने विचारों की अस्तव्यस्तता से बचना चाहें तो उन्हें इस प्रकार क्रमबद्ध

करना बहुत ही आवश्यक है। सभी विरोधी चीजें प्रतिपूरक चीजों में रूपांतरित हो सकती हैं; पर उसके लिये हमें एक ऐसी उच्चतर भावना को ढूंढ़ निकालना होगा जो उन्हें सुसमंजस बनाने में समर्थ हो। यह सदा ही अच्छा है कि सभी समस्याओं पर संभाव्य सभी दृष्टिकोणों से विचार किया जाये ताकि पक्षपात और संकीर्णता से बचा जाये; पर अगर हमारे विचार को सक्रिय और सृष्टिक्षम होना हो तो उसे, प्रत्येक क्षेत्र में, गृहीत सभी दृष्टिकोणों का एक स्वाभाविक और युक्तिसंगत समन्वय होना चाहिये। अगर तुम्हें अपने सभी विचारों को एक साथ शक्तिशाली तथा निर्माणकारी शक्ति का रूप देना हो तो तुम्हें अपने मानसिक समन्वय की केंद्रीय भावना को चुनने में बहुत सावधानी रखनी चाहिये; क्योंकि उसी के ऊपर तुम्हारे समन्वय का मूल्य निर्भर करेगा। जितनी ही ऊंची और विशाल तुम्हारी केंद्रीय भावना होगी और जितनी ही अधिक वह विश्वजनीन होगी, काल और देश से ऊपर उठी हुई होगी, उतनी ही अधिक और जटिल भावनाओं, धारणाओं और विचारों को वह सुव्यवस्थित और सुसमंजस बनाने में समर्थ होगी।

कहने की आवश्यकता नहीं कि व्यवस्थित करने का कार्य तुरत पूरा-का-पूरा नहीं किया जा सकता। मन को, अगर उसे अपने बल और यौवन को बनाये रखना है तो, नित्य-निरंतर उन्नत होना होगा, सभी नये-नये ज्ञानों के प्रकाश में अपनी मान्यताओं को सुधारते रहना होगा, नयी मान्यताओं को शामिल करने के लिये अपने क्षेत्र को बढ़ाना होगा और इसके लिये अपने विचारों को फिर से श्रेणीबद्ध और सुसंगठित करना होगा ताकि उनमें से प्रत्येक विचार को, दूसरों के साथ उसके संबंध को देखते हुए, अपना समुचित स्थान प्राप्त हो और इस तरह समूचा विचार-समुदाय सुसमंजस और सुव्यवस्थित हो जाये।

परंतु हमने अबतक जो कुछ कहा है वह सब चिंतनशील मन से संबंध रखता है, उस मन से संबंध रखता है जो ज्ञान प्राप्त करता है। पर ज्ञानार्जन मानसिक कार्य का केवल एक अंग है; कम-से-कम इतना ही प्रधान दूसरा अंग है रचनात्मक वृत्ति, रूप देखने की क्षमता और इसलिये कार्य के लिये तैयारी करने की क्षमता। मानसिक कार्य के इस अंश को, यद्यपि यह है बहुत ही महत्त्वपूर्ण, बहुत कम लोगों ने ही विशेष अध्ययन या अनुशीलन का विषय बनाया है। केवल वही लोग जो किसी कारणवश अपनी मानसिक क्रियाओं पर कठोर नियंत्रण करना चाहते हैं, इस रचनात्मक वृत्ति का निरीक्षण और अनुशासन करने की बात सोचते हैं; और फिर, जब वे इसके लिये प्रयास करने लगते हैं तब ऐसी महान् कठिनाइयां उनके सामने खड़ी हो जाती है जो अलंघ्य प्रतीत होती हैं।

फिर भी मन की इस रचनात्मक क्रिया के ऊपर संयम स्थापित करना आत्म-शिक्षण का अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग है; यहांतक कहा जा सकता है कि इसके बिना किसी भी प्रकार का मानसिक प्रभुत्व पाना संभव नहीं। अध्ययन का जहांतक संबंध

है, सभी विचार स्वीकार करने योग्य हैं और उन सबको उस समन्वय के अंदर ले आना चाहिये जिसका कार्य ही होगा अधिकाधिक समृद्ध और बहुविध होना; पर कार्य का जहांतक संबंध है, बात इससे एकदम भिन्न होगी। जिन विचारों को हम स्वीकार करेंगे उन्हें कार्य रूप में परिणत करने के लिये हमें उनपर कठोर संयम स्थापित करना होगा। हमारे मानसिक समन्वय के आधारभूत केंद्रीय विचार का साधारण झुकाव जिस ओर हो, उसी के साथ मेल खानेवाली भावनाओं को हमें कार्य रूप में अभिव्यक्त होने देना चाहिये। इसका अर्थ होता है कि हमारी मानसिक चेतना में जो भी विचार प्रवेश करे उसे हमें केंद्रीय भावना के सामने ला रखना चाहिये। और अबतक एकत्र किये हुए विचारों के बीच में अगर उस विचार को अपना समुचित स्थान प्राप्त हो जाये तो उसे समन्वय के अंदर शामिल करना चाहिये; अगर उसे अपना समुचित स्थान प्राप्त न हो तो उसे बाहर फेंक देना चाहिये ताकि वह कार्य के ऊपर कोई भी प्रभाव न डाल सके। मानसिक पवित्रीकरण का यह कार्य खूब नियमित रूप से करना चाहिये और तभी अपने कार्यों के ऊपर हमारा पूर्ण अधिकार सुरक्षित रह सकता है।

इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये उत्तम यह है कि थोड़ा-सा समय दैनिक रूप में नियत रखा जाये जब हम अपने विचारों को चुपचाप देखें और अपने समन्वय के भीतर यथास्थान सजाकर रखें। एक बार जहां इस बात की आदत पड़ गयी कि फिर तुम अपने विचारों के ऊपर, कार्यादि के भीतर भी, संयम बनाये रख सकोगे और इस योग्य हो जाओगे कि जो कार्य तुम कर रहे हो उसके लिये जो विचार उपयोगी नहीं हैं उन्हें सामने न आने दो। विशेषकर, यदि सजगता और एकाग्रता की शक्ति को निरंतर बढ़ाया जाये तो, हमारी बाह्य सक्रिय चेतना केवल उन्हीं विचारों को आने देगी जिनकी आवश्यकता होगी और तब वे सब-के-सब अधिक शक्ति-संपन्न और फलोत्पादक हो जायेंगे। और अगर, एकाग्रता तीव्र हो जाने पर, यह आवश्यक हो कि चिंतन बिलकुल किया ही न जाये, तो समस्त मानसिक प्रकंपन बंद करके प्रायः पूर्ण निश्चल-नीरवता प्राप्त की जा सकती है। इस निश्चल-नीरवता के अंदर मनुष्य धीरे-धीरे उच्चतर मानस क्षेत्रों की ओर खुल सकता है और वहां से जो अंतःप्रेरणाएं आती हैं उन्हें स्मरण रखना सीख सकता है।

परंतु इस अवस्था के प्राप्त होने से पहले भी निश्चल-नीरवता अपने-आपमें अत्यंत उपयोगी चीज है। जिन लोगों का मन कुछ विकसित और क्रियाशील होता है उनमें से अधिकांश का मन कभी शांत नहीं रहता। दिन के समय, उसकी क्रिया पर एक प्रकार का संयम रहता है; पर रात के समय, शरीर की निद्रा की अवस्था में, जाग्रत् अवस्था के संयम के प्रायः संपूर्ण रूप में हट जाने पर, मन अत्यधिक क्रियाशील हो जाता है और उसकी सारी क्रियाएं बहुधा असंबद्ध होती हैं। इसके कारण मन पर एक प्रकार का जोर पड़ता है जो अंत में थकावट ले आता है और मानसिक शक्तियों को कम कर देता है।

असली बात यह है कि मानव सत्ता के अन्य सभी भागों की तरह मन को भी विश्राम की आवश्यकता होती है और उसे यह विश्राम तबतक नहीं मिल सकता जबतक कि हम यह न जान लें कि यह दिया कैसे जाता है। अपने मन को विश्राम देने की कला एक ऐसी चीज है जो हमें अवश्य आयत्त करनी चाहिये। मन को विश्राम देने का एक तरीका है मन के कार्य को बदलते रहना; परंतु सबसे अधिक विश्राम की संभावना विद्यमान है निश्चल-नीरवता के अंदर। जहांतक मानसिक वृत्तियों का संबंध है, निश्चल-नीरवता की शांति में कुछ मिनट बिताने का अर्थ होता है घंटों सोने की अपेक्षा कहीं अधिक लाभदायी विश्राम लेना।

जब हम अपनी इच्छानुसार मन को निश्चल-नीरव बनाना और ग्रहणशील निश्चल-नीरवता में उसे एकाग्र करना सीख जायेंगे तब ऐसी कोई समस्या नहीं रह जायेगी जिसे हम हल न कर सकें, कोई ऐसी मानसिक कठिनाई नहीं रह जायेगी जिसका कोई समाधान न प्राप्त हो जाये। जब विचार चंचल होता है तब वह अस्त-व्यस्त और शक्तिहीन हो जाता है; सजग शांति के अंदर ही ज्योति प्रकट हो सकती है और मनुष्य की क्षमताओं के नवीन क्षेत्रों को उन्मुक्त कर सकती है।

('बुलेटिन', नवम्बर १९५१)

आंतरात्मिक और आध्यात्मिक शिक्षा

अबतक हमारा विषय वह शिक्षा रही है जो संसार में जन्म लेनेवाले प्रत्येक बच्चे को दी जा सकती है और जो केवल मानवीय क्षमताओं से ही संबंध रखती है, परंतु हमें अनिवार्य रूप में वहीं रुक जाने की आवश्यकता नहीं। सब मानव प्राणियों में अंदर छिपी हई एक महत्तर चेतना की संभावना मौजूद है जो उनके सामान्य जीवन की सीमा से बड़ी है और जिसकी सहायता से वे एक उच्चतर और अधिक व्यापक जीवन में भाग लेने के अधिकारी बन सकते हैं। वास्तव में, यही चेतना सभी असाधारण व्यक्तियों में जीवन को शासित करती है तथा उसकी परिस्थितियों और साथ ही इन परिस्थितियों के प्रति उनकी वैयक्तिक प्रतिक्रिया को भी व्यवस्थित करती है। जो बात मनुष्य का मन नहीं जानता और नहीं कर सकता उसे वह चेतना जानती और करती है। यह उस प्रकाश के समान है जो व्यक्ति के केंद्र में चमक रहा है। इसकी किरणें बाह्य चेतना के मोटे आवरणों में से प्रसारित होती हैं। कुछ व्यक्तियों को इसकी उपस्थिति का एक अस्पष्ट-सा भान रहता है; बहुत-से बच्चे भी इसके प्रभाव के अधीन होते हैं जो कभी-कभी अत्यधिक स्पष्ट रूप से उनकी सहज-प्रेरित क्रियाओं, यहां तक कि उनके शब्दों में भी दृष्टिगोचर होता है। दुर्भाग्यवश, माता-पिता बहुधा इसका अर्थ नहीं जानते और न ही यह समझते हैं कि उनके बच्चों के अंदर कौन-सी क्रिया चल रही है। इसलिये इन घटनाओं की ओर उनकी अपनी प्रतिक्रिया भी कोई अच्छी नहीं होती और उनकी सारी शिक्षा का अर्थ ही यह रह जाता है कि वह बच्चे को इस क्षेत्र में यथासंभव अचेतन बना दे, उसका सारा ध्यान बाह्य वस्तुओं पर केंद्रित कर दे तथा उसमें इन्हींको महत्त्वपूर्ण समझने का अभ्यास डाल दे। बाह्य वस्तुओं पर ध्यान केन्द्रित करना बहुत लाभदायक तो है, पर यह कार्य उचित ढंग से करना चाहिये। ये तीन प्रकार की शिक्षाएं—शारीरिक, प्राणिक तथा मानसिक—इसी से संबंधित हैं। हम कह सकते हैं कि ये शिक्षाएं व्यक्तित्व का निर्माण करने, मनुष्य को अस्पष्ट और अवचेतन जड़ता से उबारने तथा उसे एक सुनिश्चित और आत्म-चेतन सत्ता बनाने के साधन हैं। अंतरात्मा की शिक्षा के द्वारा हम जीवन के सच्चे आशय, पृथ्वी पर अपने अस्तित्व के कारण तथा जीवन की खोज के लक्ष्य और उसके परिणाम के प्रश्न पर आते हैं : अपनी नित्य सत्ता के प्रति व्यक्ति का आत्म-समर्पण। इस खोज का संबंध, साधारणतया, एक गुह्य भाव तथा धार्मिक जीवन से है, क्योंकि विशेष रूप से धर्म-मत ही जीवन के इस पहलू में व्यस्त रहे हैं, पर ऐसा होना आवश्यक नहीं। ईश्वर-विषयक गुह्य विचार के स्थान पर सत्य का अधिक दार्शनिक विचार आ सकता है, पर फिर भी यह खोज सार-रूप में वही रहेगी, केवल उस तक पहुंचने का मार्ग ऐसा हो जायेगा कि अत्यधिक आग्रहशील प्रत्यक्षवादी भी इसको अपना सकेगा; क्योंकि आंतरात्मिक जीवन की तैयारी के लिये मानसिक विचारों और धारणाओं का सबसे

अधिक महत्त्व नहीं है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अनुभव को जीवन में लाया जाये, यह अनुभव अपने-आपमें यथार्थ शक्तिशाली होता है, यह उन सब सिद्धांतों से स्वतंत्र है जो इसके पहले, इसके साथ या इसके पीछे आते हैं, क्योंकि अधिकतर ये सिद्धांत व्याख्या-रूप ही होते हैं जिसके द्वारा मनुष्य को कुछ-कुछ ज्ञान-प्राप्ति का भ्रम हो जाता है। जिस आदर्श या पूर्ण सत्ता को मनुष्य प्राप्त करना चाहता है उसे वह उस वातावरण के अनुसार, जिसमें वह उत्पन्न हुआ है और उस शिक्षा के अनुसार जो उसे प्राप्त हुई है, भिन्न-भिन्न नाम दे देता है। अगर अनुभव सच्चा हो तो वह सार रूप में समान ही रहता है। भेद केवल उन शब्दों और उक्तियों में है जिनमें उसका निरूपण होता है और यह होता है उस व्यक्ति के विश्वास और मानसिक शिक्षा के अनुसार जिसको यह अनुभव प्राप्त हुआ है। यह निरूपण एक निकटवर्ती वर्णनमात्र है। जैसे-जैसे अनुभव अपने-आपमें अधिकाधिक यथार्थ और सुसंबद्ध होता जाये, वैसे-वैसे इस निरूपण को भी, उत्तरोत्तर विकसित तथा यथार्थ होते जाना चाहिये। फिर भी, यदि हम आंतरात्मिक शिक्षा की एक सामान्य रूप-रेखा खींचना चाहें तो अंतरात्मा से हमारा अभिप्राय क्या है, इस विषय में हमें कुछ विचार अवश्य बना लेना चाहिये, चाहे वह विचार कितना ही सापेक्ष क्यों न हो। उदाहरणार्थ, यह कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति की रचना उन असंख्य संभावनाओं में से किसी एक के देश और काल में प्रक्षेपण के द्वारा होती है जो समस्त अभिव्यक्ति के सर्वोच्च उद्‌गम में गुप्त रूप से विद्यमान हैं। यह उद्‌गम एकमेव विश्वव्यापी चेतना के द्वारा व्यक्ति के नियम या सत्य में मूर्त रूप धारण कर लेता है और इस प्रकार उत्तरोत्तर विकास करते हुए उसकी आत्मा या चैत्य पुरुष बन जाता है।

मुझे इस बात पर जोर देना चाहिये कि जो कुछ संक्षेप में यहां कहा गया है उसे न तो अंतरात्मा की पूर्ण व्याख्या कहा जा सकता है और न ही पूरे-का-पूरा विषय उसमें आ जाता है—अभी बहुत कुछ बाकी है। यह एक अति संक्षिप्त निरूपणमात्र है और इसका उपयोग व्यवहार-रूप में हो सकता है। यह उस शिक्षा का आधार बन सकती है जिस पर अब हमें विचार करना है।

आंतरात्मिक उपस्थिति के द्वारा ही व्यक्ति का सच्चा अस्तित्व व्यक्ति तथा उसके जीवन की परिस्थितियों से संपर्क प्राप्त करता है। यह कहा जा सकता है कि अधिकांश व्यक्तियों में यह उपस्थिति अज्ञात और अपरिचित रूप में पर्दे के पीछे से कार्य करती है; पर कुछ में यह अनुभव-गोचर होती है तथा इसकी क्रिया को भी पहचाना जा सकता है; बहुत ही विरले लोगों में यह उपस्थिति प्रत्यक्ष रूप में प्रकट होती है और इन्हींमें इसकी क्रिया भी अधिक प्रभावशाली होती है। ऐसे लोग ही एक विशेष विश्वास और निश्चय के साथ जीवन में आगे बढ़ते हैं; ये ही अपने भाग्य के स्वामी होते हैं। इस स्वामित्व को प्राप्त करने तथा अंतरात्मा की उपस्थिति के प्रति सचेतन होने के लिये ही आंतरात्मिक शिक्षा के अनुशीलन की जरूरत है; पर इसके

लिये एक विशेष साधन, अर्थात् व्यक्ति के निजी संकल्प का होना आवश्यक है। क्योंकि अभीतक अंतरात्मा की खोज, इसके साथ तदात्मता, शिक्षा के स्वीकृत विषयों का अंग नहीं बनी है। कई ऐसी विशेष पुस्तकें हैं जिनमें इस विषय को सीखने के लिये कुछ उपयोगी निर्देश मिल जाते हैं। किन्हीं विशेष अवस्थाओं में कुछ भाग्यशाली लोगों की किसी ऐसे व्यक्ति से भेंट भी हो सकती है जो उन्हें मार्ग दिखाने में समर्थ होता है तथा इस पर चलने के लिये उन्हें आवश्यक सहायता पहुंचा सकता है, पर अधिकतर यह कार्य मनुष्य को अपनी ही मौलिक प्रेरणा द्वारा करना होता है। यह खोज उसका व्यक्तिगत कार्य है तथा लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये एक महान् संकल्प, दृढ़ निश्चय और अथक अध्यवसाय की विशेष आवश्यकता पड़ती है। ऐसा कहा जा सकता है कि प्रत्येक को अपनी कठिनाइयों में से अपना रास्ता आप निकालना होता है। कुछ हद तक तो इस लक्ष्य को लोग जानते हैं; क्योंकि जिन्होंने उसे प्राप्त कर लिया है उनमें से अधिकांश थोड़े-बहुत स्पष्ट रूप में इसका वर्णन कर चुके हैं। पर इस खोज का सर्वोच्च महत्त्व इसकी सहज-स्वाभाविकता और सच्चाई में है जो सामान्य मानसिक मर्यादाओं में नहीं होती। इसीलिये, जो कोई इस साहसपूर्ण कार्य का बीड़ा उठाना चाहता है वह पहले प्रायः, एक ऐसे व्यक्ति की खोज करता है जो इस कार्य को सफलतापूर्वक कर चुका होता है और साथ ही जो उसे सहारा देने और रास्ता दिखाने में समर्थ है। फिर भी, कई ऐसे एकाकी जिज्ञासु होते हैं जिनके लिये कुछ सामान्य निर्देश उपयोगी हो सकते हैं।

प्रारंभ में मनुष्य को अपने अंदर उस चीज की खोज करनी होगी जो शरीर और जीवन की परिस्थितियों से स्वतंत्र है, जिसका जन्म न तो उस मानसिक रचना से हुआ है जो उसे प्राप्त हुई है, न उस भाषा से जो वह बोलता है; न उस वातावरण के अभ्यासों तथा रीति-रिवाज से जिसमें वह रहता है और न ही उस देश या युग से जिसमें वह उत्पन्न हुआ है तथा जिससे उसका संबंध है। उसे, अपनी सत्ता की गहराई में, उस वस्तु को ढूंढ़ना होता है जिसके अंदर व्यापकता, असीम विस्तार तथा नित्य स्थिरता का भाव है। तब वह अपने-आपको केंद्र से बाहर की ओर प्रसारित करता है, विशाल और व्यापक बनाता है; प्रत्येक वस्तु में तथा सब प्राणियों में निवास करने लगता है; व्यक्तियों को एक-दूसरे से पृथक् करनेवाली सीमाएं टूट जाती हैं। वह उनके विचारों में सोचता है, उनके संवेदनों से स्पंदित होता है, उनकी भावनाओं में अनुभव करता है, सबके जीवन में जीता है। जो जड़ प्रतीत होता था, वह एकाएक जीवन से पूर्ण हो जाता है, पत्थर स्पंदित हो उठते हैं, पौधे संवेदन, इच्छा तथा दुःख अनुभव करने लगते हैं, पशु एक मूक-सी, पर स्पष्ट और व्यंजक भाषा में बोलते हैं; सब वस्तुएं एक ऐसी अद्भुत चेतना से सजीव हो उठती हैं जो देश और काल से परे हैं। यह आंतरात्मिक उपलब्धि केवल एक पक्ष है; इसके अतिरिक्त और भी बहुत-से हैं। ये सब मिलकर तुम्हारे अहंभाव की सीमाओं तथा तुम्हारे बाह्य व्यक्तित्व की

दीवारों से, तुम्हारी प्रतिक्रियाओं की असमर्थता और तुम्हारे संकल्प की दुर्बलता से तुम्हें बाहर निकाल लाते हैं।

पर, जैसा कि मैं पहले कह चुकी हूं, यहां तक पहुंचने का मार्ग लंबा और कठिन है, इनमें अनेक जाल बिछे हैं तथा कठिनाइयां हैं और इनका सामना करने के लिये एक ऐसे दृढ़ निश्चय की आवश्यकता है जो सब प्रकार की परीक्षाओं के सम्मुख टिक सके। यह एक अपरिचित प्रदेश की, एक महान् ध्येय की खोज के लिये अज्ञात वन में से एक अन्वेषक की यात्रा के समान है। अंतरात्मा की उपलब्धि भी एक महान् खोज है, इसके लिये उतनी ही निडरता और सहनशीलता की आवश्यकता है जितनी हमें नये महाद्वीपों की खोज में होती है। जिसने इस काम को हाथ में लेने का निश्चय कर लिया है उसके लिये कई निर्देश उपयोगी हो सकते हैं।

पहली और शायद अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मन आध्यात्मिक वस्तुओं के विषय में राय बनाने में असमर्थ है। जिन लोगों ने भी इस विषय पर लिखा है वे सब यही कहते हैं; पर बहुत कम लोग ऐसे हैं जो इस पर आचरण करते हैं। फिर भी इस मार्ग पर अग्रसर होने के लिये सब प्रकार की मानसिक धारणाओं और प्रतिक्रियाओं से बचना सर्वथा अनिवार्य है।

आराम, सुख-भोग या प्रसन्नता के लिये हर प्रकार की वैयक्तिक कामना का त्याग कर दो; बस, उन्नति के लिये प्रज्ज्वलित अग्निशिखा बन जाओ। जो कुछ तुम्हारे मार्ग में आये उसे अपने विकास के लिये मानो और तुरंत इस अपेक्षित विकास को साधित भी कर लो।

सब कार्य प्रसन्नता से करने का यत्न करो परंतु प्रसन्नता कभी तुम्हारे कार्य का प्रेरक भाव न बनने पाये।

कभी उत्तेजित, उद्विग्न या विक्षुब्ध मत होओ। सब अवस्थाओं में पूर्ण रूप से शांत बने रहो। फिर भी सदा सजग रहो ताकि जो उन्नति तुम्हें करनी है उसे तुम जान सको तथा बिना समय नष्ट किये उसे प्राप्त कर सको।

भौतिक घटनाओं को उनके बाह्य रूपों के आधार पर अंगीकार मत करो। ये सदा ही किसी अन्य वस्तु की, जो सत्य वस्तु है, परंतु जो हमारी तलीय बुद्धि की पकड़ में नहीं आती, अशुद्ध अभिव्यक्ति होती है।

किसी के व्यवहार के प्रति शिकायत मत करो, जबतक तुम्हारे अंदर उसके स्वभाव की उस चीज को बदलने की शक्ति ही न हो जो उसे वैसा करने को प्रेरित करती हैं; अगर तुम्हारे पास वह शक्ति है तो शिकायत करने के स्थान पर उसे बदल दो।

तुम जो भी करो, अपने लक्ष्य को सदा स्मरण रखो। इस महान् उपलब्धि की खोज में कोई भी चीज बड़ी या छोटी नहीं है; सब समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं, ये इसकी सफलता में सहायता भी पहुंचा सकती हैं और बाधा भी डाल सकती हैं, जैसे भोजन से पहले तुम इस अभीप्सा पर कुछ क्षण अपना ध्यान एकाग्र करो कि जो खाना तुम

खाने लगे हो वह तुम्हारे शरीर के लिये उस प्रयोजनीय तत्त्व को पैदा करे जो इस महान् उपलब्धि के लिये तुम्हारे प्रयत्न का ठोस आधार बनेगा तथा उसे इस प्रयत्न में सहनशीलता और अध्यवसाय की शक्ति प्रदान करेगा।

सोने से पहले, तुम कुछ क्षण के लिये एकाग्र होकर अभीप्सा करो कि यह निद्रा तुम्हारी थकी हुई नसों को पुनः शक्ति प्रदान करे, तुम्हारे मस्तिष्क में स्थिरता और शांति लाये, ताकि सोकर उठने के बाद तुम नये उत्साह के साथ इस महान् उपलब्धि की ओर अपनी यात्रा को फिर से आरंभ कर सको।

कुछ भी करने से पहले, इस इच्छा-शक्ति पर अपना ध्यान केंद्रित करो कि तुम्हारा कार्य इस महान् उपलब्धि की ओर अग्रसर होने में तुम्हें सहायता पहुंचाये, कम-से-कम बाधक तो न बने।

जब तुम बोलो, तो मुख से शब्द निकालने से पहले कम-से-कम इतनी देर तो अपने-आपको एकाग्र कर लो ताकि तुम्हारा शब्दों पर नियंत्रण रहे और वही शब्द मुख से निकलें जो अनिवार्य रूप में आवश्यक हैं, केवल वही जो इस महान् उपलब्धि की ओर अग्रसर होने में किसी प्रकार भी बाधक नहीं है।

संक्षेप में, अपने जीवन के प्रयोजन और लक्ष्य को कभी मत भूलो। इस महान् उपलब्धि का तुम्हारा संकल्प सदा तुम्हारे ऊपर तथा जो कुछ तुम करते हो और जो कुछ तुम हो उस पर सजग रूप में विद्यमान रहे मानों यह प्रकाश का एक विशाल पक्षी है जो तुम्हारे अस्तित्व की सब गतिविधि को प्रभावित करता है।

तुम्हारे अथक और सतत प्रयत्न के फलस्वरूप सहसा एक आंतरिक कपाट खुल जायेगा और तुम एक ऐसी ज्वलंत ज्योति में प्रवेश करोगे जो तुम्हें अमरता का आश्वासन प्रदान करेगी तथा स्पष्ट अनुभव करायेगी कि तुम सदा ही जीवित रहे हो और सदा ही जीवित रहोगे; नाश बाह्य रूपों का ही होता है और अपनी वास्तविक सत्ता के संबंध से तुम्हें यह भी पता लगेगा कि ये रूप वस्त्रों के समान हैं जिन्हें पुराने पड़ जाने पर फेंक दिया जाता है। तब तुम सब बंधनों से मुक्त हो जाओगे और परिस्थितियों के जिस बोझ को प्रकृति ने तुम पर लादा है तथा जिसे वहन करते हुए तुम कष्ट भोग रहे हो, उसके नीचे कठिनाई से अग्रसर होने के स्थान पर तुम—यदि इसके नीचे कुचल जाना नहीं चाहते हो तो—अपनी भवितव्यता के प्रति सचेतन होकर तथा जीवन के स्वामी बनकर सीधे, दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ सकते हो।

पर इस स्थूल देह की समस्त दासता से छुटकारा और सब प्रकार के वैयक्तिक मोह से मुक्ति पाना ही सर्वोच्च सिद्धि नहीं है। शिखर पर पहुंचने से पहले और कई मंजिलों को पार करना होगा। इनके बाद कई और भी आ सकती हैं और आयेंगी ही जो भविष्य के द्वार खोल·देंगी। ये अगली मंजिलें ही इस शिक्षा का विषय होंगी जिन्हें मैं आध्यात्मिक शिक्षा कहती हूं।

पर इस नये विषय पर आने तथा इस प्रश्न को विस्तारपूर्वक विचारने से पहले, एक

बात का स्पष्टीकरण उपयोगी होगा। आंतरात्मिक शिक्षा, जिसके बारे में हम अभी कह चुके हैं, और आध्यात्मिक शिक्षा, जिसके बारे में हम अब कहेंगे, इन दोनों में भेद करना जरूरी क्यों है ? दोनों साधारणतया "योग साधना" का एक ही व्यापक नाम पाने के कारण, आपस में मिल-जुल गयी हैं, यद्यपि इनके लक्ष्य बहुत भिन्न हैं : एक का लक्ष्य है पृथ्वी पर उच्चतर सिद्धि की प्राप्ति, जब कि दूसरी समस्त पार्थिव अभिव्यक्ति से, यहांतक कि संपूर्ण संसार से पलायन करके अव्यक्त की ओर लौट जाना चाहती है।

अतएव यह कहा जा सकता है कि आंतरात्मिक जीवन एक ऐसा जीवन है जो अमर है, अनंत काल, असीम देश, नित्य प्रगतिशील परिवर्तन है, और बाह्य रूपों के संसार में एक अविच्छिन्न धारा है। दूसरी ओर, आध्यात्मिक चेतना का अर्थ है नित्य और अनंत में निवास करना तथा देश-काल से, सृष्टिमात्र से बाहर स्थित हो जाना। अपनी अंतरात्मा को पूर्ण रूप से जानने और आंतरात्मिक जीवन बिताने के लिये मनुष्य को समस्त स्वार्थपरता का त्याग करना होगा; किंतु आध्यात्मिक जीवन के लिये अहंमात्र से मुक्त हो जाना होगा।

आध्यात्मिक शिक्षा में यहां भी, मनुष्य का स्वीकृत लक्ष्य, उसके वातावरण, विकास तथा स्वभाव की रुचियों के संबंध में, मानसिक निरूपण में, भिन्न-भिन्न नाम धारण कर लेगा। धार्मिक प्रवृत्तिवाले उसे ईश्वर कहेंगे और उनका आध्यात्मिक प्रयत्न फिर इस रूपातीत परात्पर ईश्वर के साथ तादात्म्य प्राप्त करने के लिये होगा, न कि उस ईश्वर के साथ जो वर्तमान सब रूपों में है। कुछ लोग इसे 'परब्रह्म' या 'सर्वोच्च आदिकारण' कहेंगे, और कुछ 'निर्वाण'; कुछ और, जो संसार को तथ्यहीन भ्रम समझते हैं, इसे 'एकं अद्वितीयं सत्' का नाम देंगे; जो लोग अभिव्यक्तिमात्र को असत्य मानते हैं उनके लिये यह 'एकमात्र सत्य' होगा। लक्ष्य की ये सब परिभाषाएं अंशतः ठीक हैं, पर हैं सब अधूरी, ये केवल सद्वस्तु के एक-एक पक्ष को ही व्यक्त करती हैं। यहां भी मानसिक निरूपणों का कुछ महत्त्व नहीं; बीच की अवस्थाओं को एक बार पार कर जाने के बाद मनुष्य सदा एक ही अनुभव पर पहुंचता है। जो भी हो, शुरू करने के लिये सबसे अधिक सफल तथा शीघ्र पहुंचानेवाली चीज पूर्ण आत्म-समर्पण है। इसके साथ ही, जिस उच्च-से-उच्च सत्ता की मनुष्य कल्पना कर सकता है उसके प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण के आनंद से अधिक पूर्ण आनंद और नहीं है; कुछ इसे ईश्वर का नाम देते हैं और कुछ 'पूर्णता' का। यदि यह समर्पण लगातार स्थिर भाव में तथा उत्साहपूर्वक किया जाये तो एक ऐसा समय आता है जब मनुष्य इस कल्पना से ऊपर उठकर एक ऐसे अनुभव को प्राप्त कर लेता है जिसका वर्णन तो नहीं हो सकता, परंतु जिसका फल व्यक्ति पर प्रायः सदा एक समान होता है। जैसे-जैसे उसका आत्म-समर्पण अधिकाधिक पूर्ण और सर्वांगीण होता जायेगा; उसके अंदर उस सत्ता के साथ एक होने की तथा उसमें पूर्ण रूप से मिल जाने की अभीप्सा पैदा होती जायेगी जिसे

उसने समर्पण किया है और क्रमशः यह अभीप्सा सब विषमताओं और बाधाओं को पार कर लेगी, विशेषकर उस अवस्था में जब इस अभीप्सा के साथ-साथ व्यक्ति में प्रगाढ़ और सहज प्रेम भी हो; क्योंकि तब कोई भी वस्तु उसकी विजयशील प्रगति के रूप में मार्ग में बाधक नहीं हो सकेगी।

इस तादात्म्य में तथा अंतरात्मा के साथ तादात्म्य में एक मौलिक भेद है। अंतरात्मा के साथ तादात्म्य को अधिकाधिक स्थायी बनाया जा सकता है और कुछ लोगों में यह स्थायी बन भी जाता है और जिसने इसे सिद्ध कर लिया है उसको यह कभी नहीं छोड़ता, उसके बाह्य कर्म चाहे जो भी हों। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि यह तादात्म्य ध्यान और तन्मयता में ही नहीं प्राप्त होता, बल्कि इसका प्रभाव मनुष्य के जीवन में प्रतिक्षण, निद्रा में और साथ ही जाग्रत् अवस्था में भी अनुभव किया जाता है।

इसके विपरीत, समस्त बाह्य रूपों से मुक्ति, रूपातीत सत्ता से तादात्म्यता अपने-आपमें स्थिर नहीं रह सकती; क्योंकि यह स्वभावतः ही स्थूल रूप के नाश का कारण बन जायेगी। कुछ परंपरागत गाथाएं कहती हैं कि यह नाश पूर्ण तादात्म्य स्थापित होने के बीस दिन के भीतर ही अवश्यमेव हो जाता है। तथापि ऐसा होना आवश्यक नहीं है, और यह अनुभव चाहे क्षणिक ही हो, चेतना में ऐसे परिणाम उत्पन्न कर देता है जो कभी नहीं मिटते और जो सत्ता के सब स्तरों, आंतरिक और बाह्य दोनों, पर प्रतिक्रियाएं पैदा करते हैं। और एक बार तादात्म्य स्थापित कर लेने के बाद इसे इच्छानुसार पुनः प्राप्त किया जा सकता है, पर एक शर्त पर कि व्यक्ति उन्हीं अवस्थाओं को फिर से लाना जानता हो।

निराकार में लीन हो जाना वह सर्वोच्च मुक्ति है जिसे प्राप्त करने की इच्छा केवल वही लोग करते हैं जो इस जीवन से छुटकारा पाना चाहते हैं, क्योंकि यह उन्हें अब और आकर्षित नहीं करता। वे संसार के वर्तमान रूप से संतुष्ट नहीं हैं, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पर यह एक ऐसी मुक्ति है जो संसार को जैसा वह है वैसा ही छोड़ देती है और दूसरों के सुख-दुःख में कोई सहायता नहीं पहुंचाती। यह उन लोगों को संतुष्ट नहीं कर सकती जो एक ऐसे सुख का उपभोग करना नहीं चाहते जिसके वे अकेले या प्रायः अकेले ही भोक्ता होते हैं। ये लोग तो एक ऐसे संसार का स्वप्न देखते हैं जो इसकी वर्तमान अव्यवस्था और सामान्य दुःख-दैन्य के पीछे छुपे हुए प्रकाशपूर्ण वैभव के अधिक योग्य हो। वे चाहते हैं कि जिन आश्चर्यों को उन्होंने अपनी आंतरिक गवेषणा में उपलब्ध कर लिया है उनसे दूसरों को लाभ पहुंचायें। और यह वे कर भी सकते हैं, क्योंकि वे अब अपने आरोहण के शिखर पर पहुंच गये हैं।

नाम और रूप की सीमाओं के परे से एक नयी शक्ति का आवाहन किया जा सकता है, चेतना की उस शक्ति का जिसकी अभिव्यक्ति अभी नहीं हुई है और जो, प्रकट होकर, वस्तुओं के क्रम को बदलने में समर्थ होगी तथा एक नये जगत् को

जन्म देगी। क्योंकि दुःख, अज्ञान तथा मृत्यु की समस्या का हल यह नहीं है कि व्यक्ति सांसारिक दुःखों से बचने के लिये निर्वाण द्वारा अव्यक्त में मिल जाये, और न ही सृष्टि के पूर्ण तथा अंतिम रूप से स्रष्टा में लौट जाने से—जो संदिग्ध है—समष्टि का वैश्व दुःख से छुटकारा हो सकता है। यह तो विश्व का दुःख दूर करने के लिये विश्व को ही मिटा देना हुआ। इस समस्या का हल जड़-तत्त्व के रूपांतर, एक ऐसे पूर्ण रूपांतर में है जिसे साधित करने के लिये प्रकृति पूर्णता की ओर अपने विकास की युक्तियुक्त ऊर्ध्वमुखी यात्रा को जारी रखेगी जैसा कि उसने अबतक रखा है और इससे एक नयी जाति का जन्म होगा। इसमें और मनुष्य में वैसा ही आपेक्षिक संबंध होगा जैसा मनुष्य और पशु में है। वह जाति पृथ्वी पर एक नयी शक्ति, नयी चेतना तथा नये बल को अभिव्यक्त करेगी। और तभी एक नयी शिक्षा का आरंभ होगा जिसे हम अतिमानसिक शिक्षा कह सकते हैं; यह, अपनी सर्वसमर्थ क्रिया से, व्यक्तियों की चेतना को ही प्रभावित नहीं करेगी, वरन् उस तत्त्व को भी प्रभावित करेगी जिससे वे बने हैं तथा उस वातावरण को भी जिसमें वे रहते हैं।

जिन शिक्षाओं के बारे में हम पहले कह चुके हैं और जो सत्ता के विभिन्न अंगों की ऊर्ध्वमुखी गति के द्वारा नीचे से ऊपर की ओर विकसित होती हैं, उनके विपरीत अतिमानसिक शिक्षा की विकास-क्रिया ऊपर से नीचे की ओर चलेगी, इसका प्रभाव सत्ता की एक अवस्था से दूसरी में व्याप्त होता जायेगा जबतक कि वह अंतिम, अर्थात्, भौतिक अवस्था तक न पहुंच जाये। भौतिक अवस्था का रूपांतर प्रत्यक्ष रूप में तभी दिखायी देगा जब सत्ता की आंतरिक अवस्थाएं काफी अच्छी तरह रूपांतरित हो चुकी होंगी। इसलिये अतिमानस की उपस्थिति को स्थूल रूपों द्वारा समझने का प्रयत्न सर्वथा अनुचित है, क्योंकि ये रूप तो सबसे अंत में बदलते हैं जब कि अतिमानसिक शक्ति व्यक्ति में बहुत पहले से कार्य कर रही होती है। भौतिक जीवन में तो इसका प्रभाव बाद में ही दृष्टिगोचर होता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अतिमानसिक शिक्षा के फलस्वरूप केवल मानव प्रकृति का उत्तरोत्तर विकास ही नहीं होगा और न ही केवल उसकी सुप्त शक्तियां ही दिन-दिन बढ़ती जायेंगी, बल्कि प्रकृति का अपना और साथ-ही-साथ संपूर्ण सत्ता का भी रूपांतर हो जायेगा। प्राणियों की एक योनि का नया आरोहण होगा, मानव से ऊपर अतिमानव की ओर जिससे अंत में पृथ्वी पर दिव्य जाति का आविर्भाव होगा।

('बुलेटिन' फरवरी, १९५२)

एक अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय-केंद्र

(१)

मनुष्य जिन परिस्थितियों में संसार में रहते हैं वे उनकी अपनी चेतना के परिणाम हैं। चेतना को बदले बिना परिस्थितियों को बदलने की इच्छा करना कोरा स्वप्न है। जिन लोगों को इस बात का ज्ञान हो गया है कि मानव जीवन के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, वित्तीय तथा शिक्षा और स्वास्थ्य-संबंधी विभिन्न क्षेत्रों में स्थिति को सुधारने के लिये क्या किया जा सकता है और क्या करना चाहिये, वे वही व्यक्ति हैं जिन्होंने किसी-न-किसी अंश में अपनी चेतना असाधारण ढंग से विकसित कर ली है तथा ज्ञान के उच्चतर स्तरों के साथ अपना संबंध जोड़ लिया है। पर उनके विचार रहे सदा कम या अधिक सैद्धांतिक ही, अथवा यदि उन्हें कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया भी गया तो सदैव थोड़े-बहुत समय के बाद बुरी तरह से असफल हुआ; कारण, कोई भी मानव-संगठन मूलतः नहीं बदला जा सकता जबतक कि मानव चेतना ही अपने-आपमें न बदली जाये। नयी मानवता के अग्रदूत एक के बाद एक आये, कई आध्यात्मिक और सामाजिक धर्म चलाये गये; उनके प्रारंभिक प्रयत्न कभी-कभी आशापूर्ण भी होते थे, परंतु क्योंकि मानव-प्रकृति मूलतः नहीं बदली गयी थी, उसकी स्वाभाविक पुरानी भूलें धीरे-धीरे फिर प्रकट हो उठीं। और कुछ ही समय में यह पता लगने लगा कि मनुष्य लगभग उसी स्थान पर खड़ा है जहां से वह इतनी आशा और उत्साह लेकर चला था। मनुष्य की अवस्थाओं को सुधारने के प्रयत्न में सदैव दो प्रवृत्तियां काम करती रही हैं; प्रकट रूप में विरोधी प्रतीत होने पर भी दोनों एक-दूसरे की पूरक हैं और दोनों मिलकर प्रगति के लिये कार्य करती हैं। एक प्रवृत्ति सामूहिक पुनस्संगठन का समर्थन करती है जो मानवजाति को सफल एकता की ओर ले जाये। दूसरी का मत है कि सब प्रकार का विकास पहले व्यक्ति को करना होगा; वह इस बात पर बल देती है कि व्यक्ति को वे सब अवस्थाएं प्रदान करनी चाहिये जिनमें वह स्वाधीनतापूर्वक उन्नति कर सके। ये दोनों प्रवृत्तियां समान रूप से सत्य हैं और साथ ही आवश्यक भी। इसलिये, दोनों के लिये इकट्ठा प्रयत्न करना चाहिये। कारण, सामूहिक विकास और वैयक्तिक विकास अन्योन्याश्रित हैं। व्यक्ति लंबी छलांग लगा सके उससे पहले सामूहिक जीवन का कुछ-न-कुछ विकास हो जाना आवश्यक है। अतएव, कोई ऐसा साधन ढूंढ़ना चाहिये जिससे दोनों विकास साथ-साथ चल सकें।

इस अनिवार्य आवश्यक़ता की पूर्ति के लिये ही श्रीअरविन्द ने अपने अंतर्राष्ट्रीय विश्व विद्यालय की योजना बनायी थी। इससे उनका आशय कुछ ऐसे चुने हुए लोगों को तैयार करना था जो मानवजाति के क्रमिक एकीकरण के लिये कार्य कर सकें

और साथ ही उस नयी शक्ति को अभिव्यक्त करने के लिये तैयार हो जायें जो पृथ्वी को रूपांतरित करने के लिये अवतरित हो रही है। कुछ सामान्य विचार इस विश्वविद्यालय-केंद्र के संगठन का आधार-रूप होंगे, साथ ही वे अध्ययन के कार्यक्रम को भी निर्धारित करेंगे।

इनमें से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विचार यह है कि मनुष्यजाति की एकता न तो एकरूपता से, न प्रभुत्व से और न ही दमन से प्राप्त हो सकती है। सब राष्ट्रों का समन्वयपूर्ण संगठन ही—ऐसा संगठन जिसमें प्रत्येक को अपनी प्रतिभा तथा समष्टि में अपने उचित कर्म के अनुसार स्थान प्राप्त होगा—उस पूर्ण और विकसनशील एकता को लाने में समर्थ हो सकता है जो संभवतः स्थायी सिद्ध हो। यह समन्वय जीवंत हो इसके लिये समष्टिकरण को एक ऐसे केंद्रीय विचार पर आधारित होना होगा जो यथासंभव उच्च और व्यापक हो तथा जिसमें सब प्रवृत्तियों को, अत्यंत विरोधी प्रवृत्तियों को भी, अपना निश्चित स्थान प्राप्त हो। यह उच्चतम विचार ही मनुष्य को जीवन की वे सब आवश्यक अवस्थाएं प्रदान करेगा जो उस नयी शक्ति को अभिव्यक्त करने के लिये तैयार कर सकेंगी; यह शक्ति ही भावी जाति को उत्पन्न करेगी।

प्रतिस्पर्धा की हर प्रकार की प्रवृत्ति तथा प्रधानता, और अधिकार प्राप्त करने के लिये प्रत्येक संघर्ष की जगह समस्वर संगठन तथा सूक्ष्म-दृष्टियुक्त प्रभावशाली सहयोग की भावना को प्रतिष्ठित करना होगा।

इसे संभव बनाने के लिये यह आवश्यक है कि बच्चे छोटी अवस्था से न केवल उपर्युक्त विचार के ही अभ्यस्त बनें बल्कि उनके अनुसार कर्म भी करें। इसीलिये यह 'अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय-केंद्र' अंतर्राष्ट्रीय होगा—अंतर्राष्ट्रीय इस कारण नहीं कि इसमें सब देशों के विद्यार्थी प्रविष्ट किये जायेंगे, इसलिये भी नहीं कि यहां उन्हें अपनी मातृभाषा में शिक्षा दी जायेगी, बल्कि इसलिये कि संसार के विभिन्न प्रदेशों की संस्कृतियां यहां केवल बौद्धिक रूप में विचार, मत, सिद्धांत और भाषा में ही नहीं, वरन् जीवंत रूप में अभ्यासों, रीति-रिवाजों और सब प्रकार की कलाओं—चित्रकला, मूर्तिनिर्माण, संगीत, गृह-शिल्प, साज-सज्जा आदि—यहां तक कि स्थूल रूप में प्राकृतिक दृश्य, वेश-भूषा, खेल-कूद, उद्योग-धंधे तथा भोजनतक में सबके लिये सुलभ होंगी। एक ऐसी विश्व-प्रदर्शनी की व्यवस्था करनी होगी जिसमें सब देश सजीव और साकार रूप में उपस्थित होंगे। इसमें आदर्श यह होगा कि प्रत्येक राष्ट्र का, जिसकी अपनी निश्चित संस्कृति है, एक पृथक् भवन होगा जो उस संस्कृति को प्रस्तुत करेगा; उसका निर्माण उसी नमूने के अनुसार किया जायेगा जो उस देश की रीति-नीति को अधिक-से-अधिक स्पष्ट रूप में उपस्थित करेगा; वह राष्ट्र की विशेष प्रतिनिधि-स्वरूप प्राकृतिक और निर्मित दोनों प्रकार की कृतियों, यहांतक कि ऐसी कृतियों को भी प्रदर्शित करेगा जो उसकी बौद्धिक और कलात्मक प्रतिभा तथा आध्यात्मिक प्रवृत्तियों

को सर्वोत्तम रूप में प्रकट करती हों। इस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र इस सांस्कृतिक समन्वय में अत्यंत क्रियात्मक और सजीव रुचि रखेगा और उस भवन का, जो उस संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है, दायित्व लेकर इस कार्य में सहायता पहुंचायेगा। इसके साथ ही उसी राष्ट्र के विद्यार्थियों के निवास के लिये एक छात्रावास भी होगा जो आवश्यकतानुसार छोटा-बड़ा हो सकता है। इस प्रकार ये विद्यार्थी अपनी मातृभूमि की संस्कृति का आनंद लेते हुए केंद्र में ऐसी शिक्षा प्राप्त करेंगे जो संसार की अन्य संस्कृतियों के साथ इनका परिचय करा देगी। अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा तब स्कूल की बेंचों पर प्राप्त होनेवाली केवल सैद्धांतिक शिक्षा ही नहीं होगी, वरन् जीवन के समस्त अंगों में व्यावहारिक भी होगी।

यहां इस संगठन का केवल एक सामान्य विचार उपस्थित किया गया है।

इसलिये, पहला लक्ष्य यह होगा कि व्यक्तियों को इस बात में सहायता दी जाये कि वे जिस राष्ट्र के हैं उसकी गंभीर प्रतिभा को भली-भांति जान लें तथा अन्य राष्ट्रों के रहन-सहन के ढंग से भी परिचय प्राप्त कर लें ताकि वे संसार के सब देशों की सच्ची भावना को समान रूप से जान सकें तथा उसका मान कर सकें। समस्त विश्व-संगठनों को वास्तविक या जीवित रहने के योग्य बनने के लिये राष्ट्र-राष्ट्र के बीच तथा व्यक्ति-व्यक्ति के बीच पारस्परिक आदर और पारस्परिक सद्भाव पर आधारित सहयोग ही मनुष्य को आज की दुःखद अव्यवस्था में से निकाल सकते हैं। इसी उद्देश्य और भावना के साथ इस विश्वविद्यालय-केंद्र में समस्त मानवी प्रश्नों का अध्ययन किया जायेगा; और इनका हल भी उस अतिमानसिक ज्ञान की सहायता से किया जायेगा जिस पर श्रीअरविन्द ने अपने ग्रंथों में काफी प्रकाश डाला है।

('बुलेटिन' अप्रैल १९५२)

(२)

'श्रीअरविन्द अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय-केंद्र' में दी जानेवाली शिक्षा को जो नियम संचालित करेंगे उनके विषय में यह कहा गया था कि प्रत्येक राष्ट्र को विश्व की समस्वरता में अपना स्थान प्राप्त करना होगा, अपनी भूमिका निभानी होगी।

पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि प्रत्येक राष्ट्र स्वच्छंदतापूर्वक अपनी किसी महत्त्वाकांक्षा और लालसा के अधीन होकर अपना स्थान चुनेगा। किसी देश का लक्ष्य मानसिक रूप में, बाह्य चेतना की अहंकारयुक्त और अज्ञानमूलक रुचियों द्वारा निर्धारित नहीं किया जा सकता। क्योंकि ऐसा होने से राष्ट्रों में केवल संघर्ष का क्षेत्र ही बदलेगा, संघर्ष फिर भी, और शायद अधिक तीव्र रूप में बना रहेगा।

जिस प्रकार व्यक्ति की अपनी अंतरात्मा होती है जो उसकी वास्तविक सत्ता है और उसके भविष्य को थोड़े-बहुत प्रत्यक्ष रूप में परिचालित करती है, उसी प्रकार

प्रत्येक राष्ट्र की भी अंतरात्मा होती है, उसकी सच्ची सत्ता वही है और वही उसकी भवितव्यता का पर्दे के पीछे से निर्माण करती है। यही देश की आत्मा है, राष्ट्रीय प्रतिभा है, जाति की भावना है, राष्ट्रीय अभीप्सा का केंद्र है, किसी देश के जीवन में जो कुछ सुन्दर, उत्कृष्ट, महान् और उदार होता है उसका मूल स्रोत है। सच्चे देश-भक्त प्रत्यक्ष सत्ता के रूप में इसकी उपस्थिति अनुभव करते हैं। इसी को भारतवर्ष में एक दिव्य सत्ता का-सा रूप दे दिया गया है; जो लोग अपने देश से सच्चा प्रेम करते हैं वे इसे भारत माता कहकर पुकारते हैं और अपने देश के हित के लिये इसी के आगे अपनी दैनिक प्रार्थना करते हैं। यह भारत माता ही देश के सच्चे आदर्श को, विश्व में उसके सच्चे उद्देश्य को सांकेतिक रूप में व्यक्त करती है, उसे मूर्तिमान करती है।

भारतवर्ष के कुछ विशिष्ट विचारक तथा अध्यात्मचेता श्रेष्ठ जन तो इसे विश्वमाता की ही एक विभूति मानते हैं, जैसा कि दुर्गा-माता के एक स्तोत्र से प्रकट होता है। इसके कुछ पदों का अनुवाद नीचे दिया जा रहा है :

"मां दुर्गे ! सिंहवाहिनि, सर्वशक्तिदायिनि, तेरे . . . शक्ति-अंश से उत्पन्न हम भारत के युवकगण तेरे मंदिर में बैठे हैं। माता, हमारी प्रार्थना सुन, तू पृथ्वी पर अवतरित हो, अपने-आपको तू भारत की इस भूमि पर अभिव्यक्त कर।

"मां दुर्गे ! शक्तिदायिनि, प्रेमदायिनि, ज्ञानदायिनि, सौम्य-रौद्र-रूप-धारिणि मां ! तू अपने शक्ति-स्वरूप में भयंकर है। जीवन-संग्राम में, भारत संग्राम में हम तेरे ही द्वारा प्रेरित योद्धा हैं; मां, तू हमारे हृदय में, हमारे मन में असुर की शक्ति दे, हमारी आत्मा और हमारी बुद्धि को देवता का गुण, कर्म और ज्ञान दे।

"मां दुर्गे ! भारत, जगत् की सर्वश्रेष्ठ जाति, घोर तिमिर से आच्छन्न थी। मां, तू पूर्वगगन में प्रकट हो रही है, तेरे दिव्य अंगों की आभा के साथ-साथ उषा का आगमन हो रहा है और वह अंधकार को छिन्न-भिन्न कर रही है। अपने आलोक का विस्तार कर, मां, अंधकार का नाश कर।

"मां दुर्गे ! हम तेरी संतान हैं, तेरी कृपा से, तेरे प्रभाव से हम महत् कार्य के, महत् आदर्श के योग्य बनें। हमारी क्षुद्रता का, हमारे स्वार्थ का, हमारे भय का तू विनाश कर मां !

"मां दुर्गे ! तू काली है . . . हाथ में कृपाण धारण करके तू असुरों का नाश करती है। देवी ! अपने क्रूर निनाद से तू हमारे अंतः-स्थित शत्रुओं का नाश कर। इनमें से एक भी हमारे अंदर जीवित न रहे; हम शुद्ध और निर्मल हो जायें—यही हमारी प्रार्थना है; मां तू प्रकट हो।

"मां दुर्गे ! भारत, स्वार्थ, भय और क्षुद्रता के हीन गर्त में गिरा हुआ है। हमें महान् बना, हमारे प्रयत्नों को महत् रूप दे, हमारी हृदय को विशाल बना, हमें अपने संकल्प

के प्रति सच्चा रख। ऐसी कृपा कर कि हम और अधिक उस वस्तु की कामना न करें जो क्षुद्र, निःशक्त आलस्यपूर्ण, तथा भयग्रस्त हो।

"मां दुर्गे! योगशक्ति का अत्यधिक विस्तार कर, हम तेरी आर्यसंतान हैं; हमारे अंदर लुप्त शिक्षा, चरित्र, मेधाशक्ति, श्रद्धा-भक्ति, तपोबल, ब्रह्मचर्यबल और सत्य ज्ञान का पुनः विकास कर—इन सबका जगत् में वितरण कर। हे विश्वजननी, मनुष्य की सहायता के लिये प्रकट हो, अशुभ का नाश कर।

"मां दुर्गे! अंतस्थ शत्रुओं का संहार कर और फिर चारों ओर की बाधाओं को निर्मूल कर दे। भद्र, वीर और पराक्रमी भारत-जाति, प्रेम और एकता में, सत्य और शक्ति में, शिल्प और साहित्य में, विक्रम और ज्ञान में श्रेष्ठ भारत-जाति उसके पवित्र काननों में, उर्वर खेतों में, गगनचुंबी पर्वतों के तले, पूतसलिला नदियों के तीर पर निवास करे। तेरे चरणों में हमारी यही प्रार्थना है, मां, तू प्रकट हो।

"मां दुर्गे! अपने योग-बल द्वारा हमारे शरीर में प्रवेश कर। हम तेरे यंत्र बनेंगे, तेरी अशुभनाशक तलवार बनेंगे, तेरा ज्ञानविनाशी प्रदीप होंगे। अपने शिशुओं की इस अभिलाषा को पूर्ण कर, मां! तू स्वामिनी बनकर अपना यंत्र चला, तलवार हाथ में लेकर अशुभ का नाश कर, प्रदीप ऊंचा उठकर ज्ञान का प्रकाश विकीर्ण कर; तू प्रकट हो।"

हम अन्य देशों में भी राष्ट्रीय आत्मा के लिये इसी प्रकार का आदर-भाव, उसके सर्वोच्च आदर्श की अभिव्यक्ति के लिये योग्य यंत्र बनने की ऐसी ही अभीप्सा, प्रगति और पूर्णता के लिये ऐसी ही लगन देखना चाहेंगे जो प्रत्येक जाति को अपनी राष्ट्रीय आत्मा के साथ एकाकार होने और इस प्रकार अपने सच्चे स्वरूप और कार्य को जानने के लिये उत्साहित करती है। इससे प्रत्येक मनुष्य, इतिहास की सभी आकस्मिक घटनाओं के होते हुए भी, एक सजीव तथा अमर सत्ता बन जायेगा।

('बुलेटिन', अगस्त १९५२)

(३)

नवागंतुकों को परामर्श

अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय-केंद्र धीरे-धीरे संगठित हो रहा है। जबतक नया भवन तैयार नहीं हो जाता, जहां इस केंद्र की स्थायी रूप में स्थापना की जायेगी, जिसका नक्शा तैयार है, कुछ विभागों का, जैसे पुस्तकालय, वाचनालय तथा कुछ थोड़ी-सी कक्षाओं का प्रबंध पुराने मकानों में ही कर दिया गया है; ये मकान बाद में गिरा दिये जायेंगे। शिक्षकों और विद्यार्थियों ने आना आरंभ कर दिया है। कुछ लोग विदेशों से भी

आये हैं जिनके लिये इस देश का जलवायु तथा रीति-रिवाज, सब नया है। ये आश्रम में पहली बार आये हैं और इसके जीवन और रहन-सहन से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। कुछ तो सेवा करने या सीखने की मानसिक अभीप्सा से प्रेरित होकर आये हैं; कुछ योग करने, भगवान् को पाने तथा उससे युक्त होने की आशा लेकर आये हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो अपने-आपको पूर्ण रूप से पृथ्वी पर भागवत कार्य के लिये समर्पित कर देने के इच्छुक हैं। सभी अपने चैत्य पुरुष से प्रेरित होकर आते हैं जिसका उद्देश्य उन्हें आत्म-उपलब्धि की ओर ले जाना है। तब उनका चैत्य पुरुष आगे होता है और चेतना को शासित करता है; व्यक्तियों और वस्तुओं से उनका संबंध चैत्य द्वारा ही होता है। उन्हें सब कुछ अच्छा और सुन्दर लगता है, उनका स्वास्थ्य सुधर जाता है, चेतना निर्मल हो जाती है और वे प्रसन्न, शांत और सुरक्षित अनुभव करते हैं; उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपनी चेतना की उच्चतम संभावना पा ली है। इस शांति, परिपूर्णता और प्रसन्नता को प्रत्येक स्थान पर, प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक व्यक्ति में स्वभावतः वे चैत्य द्वारा दी गयी देखते हैं। यह संबंध उन्हें उस सच्ची चेतना के प्रति ग्रहणशील बना देता है जो यहां व्याप्त है और सब कार्य संपन्न कर रही है। जबतक यह ग्रहणशीलता रहती है, शांति, परिपूर्णता और प्रसन्नता भी रहती है, साथ ही विकास के तात्कालिक फल भी दिखायी देने लगते हैं—उनका शरीर ठीक और स्वस्थ हो जाता है, प्राण में शांति और सदिच्छा का और मन में निर्मलता और व्यापकता का निवास रहता है। सामान्य रूप से ही उनमें संतोष और दृढ़ विश्वास की भावना बनी रहती है। पर मनुष्य के लिये अपने चैत्य पुरुष के साथ सतत संबंध बनाये रखना कठिन है। जैसे ही कोई नवागंतुक यहां स्थिर रूप में बस जाता है और उसके अनुभव की ताजगी मंद पड़ जाती है, पुराना व्यक्तित्व पुनः अपनी सब आदतों, रुचियों, छोटी-मोटी सनकों, दुर्बलताओं तथा भ्रांतियों के साथ ऊपर आ जाता है; शांति का स्थान अशांति ले लेती है, प्रसन्नता लुप्त हो जाती है, बुद्धि विमूढ़ हो जाती है और यह भाव प्रवेश करने लगता है कि यह स्थान भी वैसा ही है जैसे और स्थान हैं, कारण, अब वह स्वयं वैसा बन गया है जैसा और जगह था। जो कुछ किया जा चुका है उसकी ओर देखने के स्थान पर वह अब अधिकाधिक और प्रायः उसी की ओर देखने लगता है जो अभी किया जाना है; वह उदास और असंतुष्ट हो उठता है, अपने-आपको दोषी मानने के स्थान पर अन्य व्यक्तियों और वस्तुओं को दोषी ठहराने लगता है। वह शिकायत करने लगता है कि यहां सुख-सुविधा का अभाव है, जलवायु अनुकूल नहीं है, भोजन अनुपयुक्त है जिससे उसका पाचन बिगड़ जाता है आदि-आदि। श्रीअरविन्द की इस शिक्षा का आश्रय लेकर कि शरीर योग का एक अनिवार्य आधार है तथा इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, बल्कि इसका खूब ध्यान रखना चाहिये, उसकी भौतिक चेतना अपने-आपको पूर्ण रूप से इसी पर एकाग्र करने लगती है और इसे संतुष्ट करने के साधन ढूंढने में लग जाती है जो व्यवहारिक रूप में संभव नहीं है। शायद कुछ अपवाद को

छोड़कर ही, जितना दिया जाता है मांगें उतनी ही बढ़ती हैं। इसके अतिरिक्त, भौतिक सत्ता अज्ञानमयी और अंधी है; वह मिथ्या धारणाओं, पूर्व-कल्पित विचारों, पक्षपातों और अभिरुचियों से परिपूर्ण है। अपने-आप वह शरीर के साथ उपयुक्त व्यवहार करने में सफल नहीं हो सकती। यह तो केवल अंतरात्मा की चेतना है जिसके पास ठीक ढंग से कार्य करने के लिये आवश्यक बुद्धि और निर्मल दृष्टि होती है।

तुम पूछोगे कि इस अवस्था का इलाज क्या है ? यहां हम भ्रांति के चक्कर में पड़ गये हैं, क्योंकि सारा कष्ट चैत्य पुरुष से संबंध-विच्छेद होने पर पैदा होता है और केवल चैत्य पुरुष ही इन समस्याओं का हल ढूंढ सकता है। अतएव, इलाज एक ही है; सावधान रहो चैत्य पुरुष को दृढ़ता से पकड़े रहो, उसे पीछे की ओर न चले जाने दो, अपनी चेतना में से किसी चीज को भी अपने और उसके बीच में न पड़ने दो, कान बंद कर लो, अन्य किसी भी सुझाव को मत सुनो, अपना विश्वास केवल उसी में रखो।

सामान्यतया, जो व्यक्ति अपने चैत्य पुरुष के प्रति सचेतन हो जाते हैं वे इसके द्वारा प्राणिक और शारीरिक आकर्षणों और क्रियाओं से मुक्ति पाना चाहते हैं; वे भगवत् चिंतन के आनंद तथा उसके साथ सतत संपर्क की अटल शांति में निवास करने के लिये संसार का त्याग करने के इच्छुक रहते हैं। पर जो लोग श्रीअरविन्द के योग को अपनाते हैं उनकी वृत्ति इससे सर्वथा भिन्न होती है। जब ये अपनी अंतरात्मा को पा लेते हैं और उसके साथ युक्त हो जाते हैं तो ये उससे अपेक्षा करते हैं कि वह शरीर की ओर ध्यान दे, भगवान् के साथ अपने स्वाभाविक संबंध से उत्पन्न हुई चेतना के द्वारा उस पर कार्य करे और उसका रूपांतर करे ताकि वह दिव्य चेतना एवं सामंजस्य को ग्रहण और अभिव्यक्त करने के योग्य हो जाये।

हमारे प्रयत्न का यहां यही उद्देश्य है और यही अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय-केंद्र की शिक्षा का चरम लक्ष्य भी होगा।

इसलिये उन सब लोगों से जो विश्वविद्यालय में आ रहे हैं मैं फिर कहूंगी—हमारी कार्य-योजना को और अपने आने के मूल कारण को कभी मत भूलो। किंतु अपनी ओर से पूरा प्रयत्न करने पर भी यदि बादल घिर आयें, आशा और आनंद तिरोहित हो जायें और उत्साह ठंडा पड़ जाये तो याद रखो कि यह इस बात का लक्षण है कि तुम अपने चैत्य पुरुष से दूर हट गये हो और तुमने उसके आदर्श के साथ अपना संपर्क खो दिया है। इस बात को याद रखने से तुम एक गलती से बच जाओगे। तुम अपने चारों ओर के व्यक्तियों तथा दूसरी चीजों को दोषी नहीं ठहराओगे और इस प्रकार निरर्थक रूप में अपने कष्टों और कठिनाइयों की वृद्धि नहीं करोगे।

('बुलेटिन' नवम्बर १९५२)

चतुर्विध तपस्या और चतुर्विध मुक्ति

(१)

अतिमानसिक उपलब्धि की ओर ले जानेवाली सर्वांगीण शिक्षा की खोज करने के लिये चार तपस्याओं और साथ ही चार प्रकार की मुक्ति की जरूरत है।

साधारणतः, लोग तपस्या और आत्म-दमन को एक ही समझने की भूल करते हैं। जब तपस्या की बात की जाती है तो लोग उस तपस्वी की साधना की बात सोचते हैं जो भौतिक, प्राणिक और मानसिक जीवन को आध्यात्मिक बनाने के कठिन काम से बचने की कोशिश करता है और इसलिये यह घोषणा करता है कि यह रूपांतर के योग्य है ही नहीं, और उसे निर्दय होकर व्यर्थ भार, बंधन, आध्यात्मिक प्रगति में बेड़ी मानकर फेंक देता है। बहरहाल, यह माना जाता है कि यह ऐसी चीज है जिसे ठीक करना असंभव है, एक भार है जिसे न्यूनाधिक रूप में खुशी-खुशी तबतक ढोते रहना है जबतक प्रकृति या भगवान् की कृपा मृत्यु के द्वारा तुम्हें उससे छुटकारा न दिला दे। धरती का जीवन अच्छे-से-अच्छे रूप में प्रगति के लिये क्षेत्र है और मनुष्य को उससे अधिक-से-अधिक लाभ उठाने की कोशिश करनी चाहिये और जल्दी-से-जल्दी पूर्णता की उस स्थिति तक पहुंचना चाहिये जो इस परीक्षा को अनावश्यक बनाकर इसका अंत कर दे।

हमारे लिये समस्या बिलकुल और ही है। हमारे लिये पार्थिव जीवन केवल एक रास्ता या साधन नहीं है; उसे रूपांतर के द्वारा एक लक्ष्य, एक उपलब्धि बनना चाहिये। जब हम तपस्या की बात करते हैं तो शरीर के लिये निंदा की या अपने-आपको उससे अलग कर लेने की दृष्टि नहीं होती। हम आत्म-संयम और आत्म-प्रभुत्व की आवश्यकता के कारण तपस्या की बात छेड़ते हैं। क्योंकि एक ऐसी तपस्या है जो तपस्वी की सभी तपस्याओं से बढ़कर, उनसे अधिक पूर्ण और अधिक कठिन है—वह है रूपांतर के लिये आवश्यक चतुर्विध तपस्या जो व्यक्ति को अतिमानस सत्य की अभिव्यक्ति के लिये तैयार करती है। इस तरह, उदाहरणार्थ, हम कह सकते हैं कि शरीर की पूर्णता के लिये शारीरिक प्रशिक्षण जिस तपस्या की मांग करता है उसकी बराबरी करनेवाली तपस्याएं कम ही होंगी। लेकिन उसकी बात हम उचित समय पर करेंगे।

अपेक्षित चार प्रकार की तपस्याओं का वर्णन करने से पहले मुझे एक प्रश्न स्पष्ट कर देना चाहिये जो अधिकतर लोगों के मन में बहुत सारी गलतफहमियों और उलझनों का कारण है।' यह है तपस्वी की इन क्रियाओं के बारे में जिन्हें लोग आध्यात्मिक साधना मानते हैं। इन क्रियाओं में शरीर के साथ बुरा व्यवहार किया जाता है ताकि, जैसा कहा जाता है उसके अनुसार, आत्मा को उससे मुक्त किया जा

सके। वास्तव में, ये क्रियाएं आध्यात्मिक साधना का ऐंद्रिय विकृत रूप हैं। कष्ट पाने की विकृत आवश्यकता ही तपस्वी से आत्म-पीड़न करवाती है। साधुओं का कीलों का बिछौना और ईसाई साधुओं की टाट की वेश-भूषा और कोड़ों की मार में एक, थोड़ा-बहुत छिपा हुआ, पीड़ासक्ति का प्रभाव होता है जिसे न तो स्वीकार किया जाता है, न स्वीकार किया ही जा सकता है। यह उग्र संवेदनों के लिये एक अस्वस्थ चाह या अवचेतन आवश्यकता है। वास्तव में, ये चीजें आध्यत्मिक जीवन से कोसों दूर की हैं। ये भद्दी, निम्नकोटि की, अंधेरी और रुग्ण हैं। इनके विपरीत, आध्यात्मिक जीवन प्रकाश और संतुलन, सौंदर्य और आनंद का जीवन है। शरीर पर की जाने वाली एक प्रकार की मानसिक और प्राणिक क्रूरता ने इनका आविष्कार और गुणगान किया है। लेकिन क्रूरता, चाहे वह अपने ही शरीर पर क्यों न हो, आखिर क्रूरता है और सभी प्रकार की क्रूरता बहुत बड़ी निश्चेतना का चिह्न है। अचेतन प्रकृतियों को प्रबल संवेदनों की जरूरत होती है, उसके बिना उन्हें कुछ अनुभव ही नहीं होता; और क्रूरता एक प्रकार की परपीड़न कामुकता है जो बहुत प्रबल संवेदन पैदा करती है। इस प्रकार की क्रियाओं का उद्देश्य यह माना जाता है कि सभी प्रकार के संवेदनों से छुट्टी पा ली जाये ताकि शरीर हमारी आत्मा की ओर की उड़ान में और बाधा न दे सके। परंतु इसकी उपयोगिता संदेहास्पद है। यह भली-भांति जानी हुई बात है कि अगर तुम तेजी से प्रगति करना चाहते हो तो तुम्हें कठिनाइयों से डरना न चाहिये; इसके विपरीत, जब कभी अवसर आये तब कठिन चीजों को चुनने से ही संकल्प-शक्ति बढ़ती है और स्नायुओं में बल आता है। वास्तव में, तपस्या की विकृतियों और उनके विघटनकारी परिणामों के द्वारा सुख की विकृतियों और उनके अज्ञानमय परिणामों के साथ संघर्ष करने की अपेक्षा, संयम और संतुलन के साथ समचित्तता और स्थिरता का जीवन बिताना कहीं अधिक कठिन है। अपनी भौतिक सत्ता के साथ इस हद तक बुरा व्यवहार करना कि वह शून्यवत् हो जाये, इसकी अपेक्षा, उसमें स्थिरता और सरलता के साथ सामंजस्यपूर्ण उत्तरोत्तर विकास पाना बहुत अधिक कठिन है। बड़े गर्व के साथ अपने संयम का प्रदर्शन करने के लिये शरीर को उसके लिये आवश्यक आहार और शुद्ध अभ्यासों से वंचित करने की अपेक्षा, बिना इच्छा के गंभीरतापूर्वक जीना कहीं ज्यादा कठिन है। रोग या दुर्भावना की अवहेलना करने और उसकी ओर ध्यान न देने और उसे अपना विनाश कार्य करते रहने देने की अपेक्षा, उस पर आंतरिक और बाह्य सामंजस्य, शुद्धि और संतुलन द्वारा विजय प्राप्त करना या उसे आने न देना बहुत ज्यादा कठिन है। और सबसे कठिन काम है चेतना को हमेशा उसकी क्षमता के शिखर पर बनाये रखना और शरीर को कभी निचले आवेगों या प्रेरणाओं के प्रभाव में आकर काम न करने देना।

इस लक्ष्य को सामने रखकर हमें चार तपस्याएं अपनानी चाहिये, जिनके परिणाम-

स्वरूप चार मुक्तियां आयेंगी। उनके अभ्यास से ही चार प्रकार की साधनाएं या तपस्याएं संघटित होंगी जिन्हें हम कह सकते हैं :

१. प्रेम की तपस्या
२. ज्ञान की तपस्या
३. शक्ति की तपस्या
४. सौंदर्य की तपस्या

इनका क्रम, कह सकते हैं, ऊपर से नीचे की ओर है। परंतु इनके क्रम को देखकर किसी को श्रेष्ठ या हीन न मान लेना चाहिये और न ही कम या ज्यादा कठिन मानना चाहिये। इससे यह भी नहीं पता चलता कि इन तपस्याओं को किस क्रम में लिया जाना चाहिये या लिया जा सकता है। इनका क्रम, महत्त्व और कठिनाई व्यक्ति-व्यक्ति के हिसाब से अलग है और इनके बारे में कोई पक्का नियम नहीं बनाया जा सकता। हर एक को अपनी क्षमता और निजी आवश्यकता के अनुसार अपनी पद्धति खोजनी होगी और उसे कार्यान्वित करना होगा।

यहां केवल एक व्यापक दृष्टि दी जायेगी जो यथासंभव पूर्ण आदर्श-प्रणाली सामने रख सके। तब हर एक इसे अपनी क्षमता के अनुसार अच्छे-से-अच्छे रूप में व्यवहार में ला सकेगा।

सौंदर्य की तपस्या हमें भौतिक जीवन की तपस्या के द्वारा कर्म की स्वतंत्रता की ओर ले जायेगी। इसका आधारभूत कार्यक्रम होगा एक ऐसा शरीर बनाना जो आकार में सुन्दर, ठवन और भंगिमा में सामंजस्यपूर्ण, अपनी गतिविधि में लचीला और फुर्तीला, कार्य में सबल और स्वास्थ्य तथा जीवन-क्रियाओं में प्रतिरोध की शक्ति रखनेवाला हो।

इन परिणामों को पाने के लिये, सामान्य रूप में, ऐसी आदतें डालना और उनका उपयोग करना अच्छा होगा जो भौतिक जीवन का संगठन करने में सहायक हों। क्योंकि शरीर नियमित कार्यक्रम के चौखटे में ज्यादा अच्छी तरह काम करता है। फिर भी व्यक्ति में वह सामर्थ्य होनी चाहिये कि वह अपनी आदतों का, वे चाहे कितनी भी अच्छी क्यों न हों, दास न बन जाये; उसमें अधिक-से-अधिक नमनीयता होनी चाहिये ताकि जब-जब जरूरत हो आदमी अपनी आदतों को बदल सके।

तुम्हें नमनीय और बलवान् मांसपेशियों के शरीर में इस्पात की स्नायुएं बनानी चाहिये ताकि, जब अनिवार्य हो तो तुम सब कुछ सह सको। लेकिन साथ ही इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि शरीर से, वृद्धि और प्रगति के लिये जितना प्रयास, जितनी शक्ति जरूरी है उससे ज्यादा की मांग न की जाये, उन सब चीजों से पूरी सावधानी के साथ बचा जाये जो थकाकर चूर कर देनेवाली हों और अंत में भौतिक तत्त्वों के विघटन और क्षय की ओर ले जायें।

जो शारीरिक शिक्षण ऐसा शरीर बनाना चाहता है जो उच्चतर चेतना का उपयुक्त

यंत्र बन सके वह बहुत कठोर आदतों की मांग करता है : भोजन, नींद, शारीरिक व्यायाम और सभी अन्य क्रियाओं में बहुत अधिक नियमितता। तुम्हें अपने शरीर की आवश्यकताओं का बड़ी सावधानी से अध्ययन करना चाहिये—ये व्यक्ति-व्यक्ति में बदलती रहती हैं—और फिर एक सामान्य कार्यक्रम निश्चित कर लेना चाहिये; एक बार कार्यक्रम निश्चित हो जाये तो तुम्हें, उसे हिलानेवाली मन-मौज या ढील के बिना कड़ाई के साथ उसका पालन करना चाहिये। इसमें उस तरह के अपवाद बिलकुल न हों जिनमें मनुष्य बस "एक बार" के लिये रस लेता है—क्योंकि "एक बार" बार-बार आने लगता है। केवल एक बार से भी तुम अपने संकल्पबल की प्रतिरोध-शक्ति को कम कर देते हो और हर पराजय के लिये द्वार खोल देते हो। तुम्हें सब कमजोरियों के लिये रास्ता बंद कर देना चाहिये : रात की शरारतें बिलकुल न होनी चाहिये जिनसे तुम एकदम टूटकर लौटते हो। दावतों के, भकोसने के ऐसे कार्यक्रम न होने चाहिये जो पेट की सामान्य क्रिया में गड़बड़ करे। कोई ऐसे विक्षेप, मन-बहलाव या आमोद-प्रमोद न होने चाहिये जो तुम्हारी शक्ति नष्ट करते हैं और तुम्हें दैनिक अभ्यास के लिये उदासीन या निर्जीव छोड़ जाते हैं। तुम्हें एक बुद्धिमत्तापूर्ण और सुनिश्चित जीवन की तपस्या करनी चाहिये, भौतिक रूप से तुम्हारा सारा ध्यान शरीर को भरसक पूर्ण बनाने में लगा रहे। इस आदर्श लक्ष्य को पाने के लिये तुम्हें सब प्रकार की अतियों से, छोटी-बड़ी, सब तरह की बुरी आदतों से बचना चाहिये; तमाखू, शराब आदि जैसे मंद विषों से अपने-आपको मुक्त रखना चाहिये; लोग इन्हें अनिवार्य आवश्यकता बना लेते हैं और ये धीरे-धीरे उनके संकल्प-बल और स्मृति को नष्ट कर देते हैं। बिना अपवाद के लोग, यहांतक कि बहुत अधिक बुद्धिवादी भी, भोजन में, उसके तैयार करने और खाने में जो सर्वग्राही रस लेते हैं, उसके स्थान पर शरीर की आवश्यकताओं के लगभग रासायनिक ज्ञान तथा इन्हें पूरा करने के लिये विशुद्ध वैज्ञानिक प्रकार की तपस्या को बिठाना चहिये। भोजन की इस तपस्या के साथ हमें एक और तपस्या भी जोड़ देनी चाहिये और वह है नींद की तपस्या। इसका यह अर्थ नहीं है कि तुम्हें सोये बिना रहना चाहिये, नहीं, तुम्हें यह जानना चाहिये कि कैसे सोया जाये। नींद का अर्थ निश्चेतना में जा गिरना न होना चाहिये जिससे शरीर ताजा होने की जगह, भारी हो जाये। संयत भोजन हो और सब प्रकार की अतियों से परहेज रहे तो सो सकने से पहले कई घंटे खराब करने की जरूरत नहीं पड़ती। फिर भी, नींद की मात्रा की अपेक्षा, उसके गुण का महत्त्व अधिक है। अगर नींद से सचमुच लाभदायक विश्राम पाना हो तो बिस्तर पर जाने से पहले, उदाहरण के लिये, दूध, सूप या फल के रस का एक प्याला पी लेना लाभदायक होता है। हल्का भोजन शांतिपूर्ण नींद लाता है। हर हालत में, तुम्हें बहुत अधिक भोजन से बचना चाहिये। क्योंकि उससे नींद खराब और अशांत होती है और दुःस्वप्न आते हैं या नींद भारी, स्थूल और तामसिक हो जाती है, लेकिन सबसे जरूरी चीज है मन को निर्मल रखना, भावनाओं

को अचंचल रखना, इच्छाओं की बुदबुदाहट और उसके साथ की चेष्टाओं को शांत करना, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि कोई सोने से पहले बहुत बोल चुका हो, जोरों से बहस कर चुका हो, कोई बहुत मजेदार और उत्तेजक चीज पढ़ चुका हो तो ज्यादा अच्छा यह है कि सोने से पहले थोड़ा आराम कर लिया जाये ताकि मन के क्रिया-कलाप शांत हो जायें और जब केवल शरीर सो रहा हो तब मस्तिष्क असंयत गतिविधियों में न फंसा रहे। दूसरी ओर, अगर तुम्हें ध्यान का अभ्यास है तो ज्यादा अच्छा होगा कि तुम कुछ क्षणों के लिये किसी उच्च और विश्रामदायक विचार पर उच्चतर और महानतर चेतना के लिये अभीप्सा करते हुए, अपने मन को एकाग्र करो। इससे तुम्हारे नींद को बहुत लाभ होगा और तुम बड़ी हद तक, नींद में निश्चेतना में जा गिरने के भय से सुरक्षित रहोगे।

संपूर्ण विश्राम, शांति और नीरव निद्रा की रात्रि की तपस्या के बाद दिन की तपस्या आती है जिसकी व्यवस्था ज्ञान से की गयी हो। शारीरिक विकास के लिये आवश्यक क्रमबद्ध विकसनशील कसरतों और काम के बीच, तुम जो कुछ भी करो, तुम्हारी दिनचर्या बुद्धिमानी से विभाजित होनी चाहिये। ये दोनों ही शारीरिक तपस्या के अंग हो सकते हैं और होने चाहिये। जहांतक व्यायाम का प्रश्न है, हर एक को ऐसे व्यायाम चुनने चाहिये जो उसके शरीर के लिये सबसे अधिक अनुकूल हों। और अगर हो सके तो इसका चुनाव किसी ऐसे विशेषज्ञ की सहायता से किया जाये जो व्यायाम से होनेवाले अधिकतम लाभ को दृष्टि में रखते हुए उन्हें क्रमबद्ध करके मिला सके। इनका चुनाव या कार्यान्वयन मन की मौज के अधीन नहीं होना चाहिये। तुम्हें यह या वह चीज इसलिये नहीं करनी चाहिये कि वह ज्यादा सरल या सुखद है। तुम अपने कार्यक्रम में तभी कुछ हेर-फेर करो जब तुम्हारा प्रशिक्षक उसे आवश्यक समझे। अपनी पूर्णता और उन्नति की दृष्टि से हर शरीर एक समस्या है जिसे हल करना होगा। और उसे हल करने के लिये बहुत धीरज, अध्यवसाय और नियमितता की आवश्यकता है। लोग जो कुछ भी सोचें, व्यायामी का जीवन सुख और विक्षेप का जीवन नहीं होता। उसके विपरीत, यह वांछित परिणाम पाने के लिये क्रमबद्ध प्रयत्न और कठोर अभ्यासों का जीवन होता है। इसमें बेकार और हानिकर सनकों के लिये कोई स्थान नहीं होता।

काम भी एक तपस्या है। इसमें यह जरूरी है कि अपनी पसंद न हो, जो भी करना हो उसे रस लेकर किया जाये। जो व्यक्ति अपने-आपको पूर्ण बनाना चाहता है उसके लिये छोटे या बड़े, महत्त्वपूर्ण और महत्त्वहीन काम के जैसी कोई चीज नहीं होती। जो प्रगति और आत्म-प्रभुत्व के लिये अभीप्सा करता है उसके लिये सभी काम एक-से उपयोगी हैं। कहा जाता है कि तुम जिस काम में रस लेते हो उसी को अच्छे-से-अच्छी तरह कर सकते हो। यह सच है, लेकिन यह और भी सच है कि तुम जो भी करो, चाहे वह कितना ही नगण्य क्यों न लगता हो, उसमें रस ले सकते हो। इस

प्राप्ति का रहस्य पूर्णता की अभीप्सा में है। तुम्हारा चाहे जो पेशा हो, तुम्हारा चाहे जो काम हो, उसे प्रगति के संकल्प के साथ करो। तुम जो कुछ करो, उसे न सिर्फ अपनी सामर्थ्य-भर अच्छा करो, बल्कि हमेशा पूर्णता की ओर बढ़ते हुए, हमेशा अच्छे-से-अच्छा करते रहने के उत्साह के साथ करो। इस तरह, बिना अपवाद के, सभी चीजें रुचिकर हो जाती हैं, एकदम शारीरिक श्रम से लेकर अत्यधिक कलात्मक और बौद्धिक कार्य तक, सभी चीजें रुचिकर और रसप्रद हो जाती हैं। प्रगति के लिये अनंत क्षेत्र हैं और तुम छोटी-से-छोटी चीज में भी गंभीर हो सकते हो।

यह हमें स्वाभाविक रूप में कर्म में मुक्ति की ओर ले जाता है। तुम्हें अपने कार्य में सभी सामाजिक रूढ़ियों और नैतिक पसंदों से मुक्त होना चाहिये। इसका यह मतलब नहीं है कि तुम्हें स्वच्छंद, असंयत जीवन बिताना चाहिये। इसके विपरीत, यहां तुम एक ऐसे नियम के अधीन होते हो जो सभी सामाजिक नियमों की अपेक्षा अधिक कठोर है, क्योंकि वह किसी ढोंग को नहीं सहता, वह संपूर्ण निष्कपटता की मांग करता है। सभी शारीरिक क्रियाएं इस तरह व्यवस्थित की जानी चाहियें जिससे शरीर संतुलन, शक्ति और सौंदर्य में बढ़ता जाये। इस लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए मनुष्य को सब प्रकार की विलास-प्रियता और काम-केलि से बचना चाहिये। क्योंकि प्रत्येक कामुक क्रिया मृत्यु की ओर एक और कदम है। इसीलिये, सभी युगों में, सभी पवित्र संप्रदायों में, अमरता की अभीप्सा करनेवालों के लिये यह क्रिया वर्जित रही है। इसके बाद ही निश्चेतना का कम या ज्यादा लंबा काल आता है जो सब प्रकार के प्रभावों के लिये द्वार खोल देता है और चेतना को नीचे गिरा देता है। वास्तव में जो अतिमानसिक जीवन के लिये तैयारी करना चाहता है उसे अपनी चेतना को कभी सुख-भोग, विश्राम या मन-बहलाव के बहाने भी असंयम या निश्चेतना में न फिसलने देना चाहिये। विश्राम शक्ति और प्रकाश में लेना चाहिये, न कि अंधकार और दुर्बलता में। उन सब लोगों के लिये जो उन्नति के लिये अभीप्सा करते हैं, संयम ही नियम है। परंतु विशेषकर उनके लिये जो लोग अपने-आपको पूर्ण रूपांतर और अतिमानसिक अभिव्यक्ति के लिये तैयार करना चाहते हैं, उनके लिये तो संयम की जगह पूर्ण ब्रह्मचर्य की जरूरत है जो दबाव के द्वारा या जोर-जबरदस्ती से नहीं, बल्कि एक आंतरिक कीमिया के द्वारा जो सामान्यतया, प्रजनन के कार्य में लगनेवाली शक्ति को ओज में, प्रगति और सर्वांगीण रूपांतर की शक्ति में बदल दे। यह कहने की तो जरूरत ही नहीं है कि पूरा-पूरा, सच्चा लाभदायक परिणाम पाने के लिये सब प्रकार की काम-वासना और आवेग को शारीरिक संकल्प के साथ-ही-साथ मानसिक और प्राणिक चेतना से निकाल बाहर करना चाहिये, समस्त आमूल और स्थायी रूपांतर अंदर से बाहर की ओर होता है। बाह्य रूपांतर आंतरिक रूपांतर का स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम होता है।

प्रकृति की आज्ञा के अनुसार वर्तमान जाति को जैसा-का-तैसा बनाये रखने के

लिये शरीर को इस काम के लिये सौंप देना या इसी शरीर को एक नयी जाति की सृष्टि के लिये एक कदम बनाना—इन दोनों में से एक निर्णायक चुनाव करना होगा। दोनों एक साथ नहीं चल सकते। हर क्षण तुम्हें निश्चय करना होगा कि तुम्हें बीते कल की मानवता में बने रहना है या भावी कल की अतिमानवता का अंग बनना है।

अगर तुम भावी जीवन के लिये तैयारी करना चाहते हो और उसके सक्रिय, समर्थ सदस्य बनना चाहते हो तो तुम्हें वर्तमान जीवन के अनुसार ढलने से और उसमें सफल होने से इनकार कर देना होगा।

अगर तुम समग्र सौंदर्य और सामंजस्य में जीने के आनंद की ओर खुलना चाहते हो तो तुम्हें अपने-आपको सुख-भोगों से वंचित रखना होगा।

यह स्वभावतः हमें प्राणिक तपस्या की ओर ले आता है : संवेदनों की तपस्या, शक्ति की तपस्या की ओर। प्राणमय पुरुष, वास्तव में, शक्ति का, उपलब्ध करनेवाले उत्साह का आधार है। प्राण में ही विचार संकल्प में बदलकर कर्म की सक्रियता का रूप लेता है। यह सच है कि प्राण ही कामनाओं और आवेगों, उग्र आवेशों और साथ ही उतनी ही उग्र प्रतिक्रियाओं की, विद्रोह और अवसाद की भूमि है। साधारणतः, इसका इलाज है गला घोंट देना, इसे संवेदनों से वंचित कर देना। वास्तव में, संवेदन ही इसका मुख्य आहार है और उसके बिना यह सो जाता है, शिथिल और मंद पड़ जाता है और अंत में पूरी तरह खाली हो जाता है।

तथ्य तो यह है कि प्राण तीन स्रोतों से पोषण प्राप्त करता है। उसके लिये सबसे आसान है, नीचे की ओर से संवेदनों द्वारा आनेवाली भौतिक शक्तियों तक पहुंचना।

दूसरा स्रोत है स्वयं अपने ही स्तर पर वैश्व प्राणिक शक्तियां, लेकिन इसके लिये उसे काफी विशाल और ग्रहणशील होना चाहिये।

तीसरा स्रोत ऊपर की ओर है जिसके प्रति साधारणतः वह तभी खुलता है जब वह प्रगति के लिये तीव्र अभीप्सा द्वारा, आध्यात्मिक शक्तियों और अंतःप्रेरणाओं से अनुप्राणित होकर उन्हें आत्मसात् करे।

मनुष्य प्रायः हमेशा, कम या ज्यादा, इनमें एक और स्रोत जोड़ने की कोशिश करते हैं। साथ ही यह स्रोत उनके लिये उनके अधिकतर दुःखों और दुर्भाग्यों का स्रोत होता है। यह है अपने साथी-प्राणियों के साथ प्राणिक शक्तियों का आदान-प्रदान। साधारणतः, यह दो-दो के दल में होता है जिसे वे भूल से प्रेम मान बैठते हैं, लेकिन यह दो शक्तियों के बीच आकर्षण मात्र होता है जो परस्पर आदान-प्रदान में ही सुख मानती हैं।

तो अगर हम अपने प्राण को भूखा नहीं मारना चाहते तो संवेदनों का न तो त्याग करना चाहिये, न उन्हें कम करना या भोथरा बनाना चाहिये। उनसे बचने की भी जरूरत नहीं है, बल्कि उनका बुद्धि और विवेक के साथ उपयोग करना चाहिये। संवेदन ज्ञान और शिक्षा के लिये बहुत अच्छे यंत्र हैं। उन्हें इस काम में उपयोगी बनाने

के लिये जरूरी है कि उनका उपयोग अहंकारपूर्ण हेतु के लिये, आमोद-प्रमोद के लिये या सुख और आत्म-तुष्टि की अंधी अज्ञानमयी खोज के लिये न किया जाये।

इंद्रियों को हर चीज घृणा या अप्रसन्नता के बिना ले सकनी चाहिये और साथ ही उन्हें विभिन्न प्राणिक स्पंदनों के गुण, स्रोत और परिणाम के बारे में अधिकाधिक विवेक-शक्ति विकसित करनी चाहिये और यह जानना चाहिये कि वे भौतिक और प्राणिक सत्ता की प्रगति और उनके संतुलन में सहायक हैं या नहीं। इसके अतिरिक्त, भौतिक और प्राणिक जगत् को उनकी सारी जटिलताओं के साथ समझने और उनका अध्ययन करने के लिये साधन के रूप में इंद्रियों का उपयोग होना चाहिये। इस तरह वे रूपांतर के महान् प्रयत्न में अपना सच्चा स्थान लेंगी।

प्राण को कमजोर बनाकर नहीं, बल्कि उसे प्रकाशयुक्त, बलवान् और शुद्ध करके ही व्यक्ति सत्ता की सच्ची प्रगति में सहायता दे सकता है। अपने-आपको संवेदनों से वंचित करना भी उसी तरह हानिकर है जैसे भोजन से वंचित रखना। लेकिन जैसे भोजन का चुनाव बुद्धिमत्ता के साथ, शरीर के विकास और उसके व्यापार-विशेष को ध्यान में रखते हुए करना चाहिये, उसी तरह संवेदनों का चुनाव और नियंत्रण भी विशुद्ध वैज्ञानिक ढंग की तपस्या के द्वारा, इस अत्यधिक सक्रिय यंत्र की उन्नति और पूर्णता को ही ध्यान में रखते हुए करना चाहिये, क्योंकि वह सत्ता के अन्य सभी भागों के विकास के लिये आवश्यक है।

प्राण को शिक्षा देकर, उसे अधिक शिष्ट, अधिक भावुक और अधिक सूक्ष्म या यूं कहें, अधिक सुरुचि-संपन्न—शब्द के अच्छे-से-अच्छे अर्थों में—बनाकर ही व्यक्ति इसकी हिंसामय उग्रताओं और पाशविकताओं पर विजय पा सकता है। ये चीजें प्रायः उसकी अशिष्टता और अज्ञानमयी, सुरुचिविहीन क्रियाएं होती हैं।

वास्तव में, प्राण, जब शिक्षित और प्रकाशयुक्त हो तो, उतना ही महान् वीर और निःस्वार्थ हो सकता है जितना अभी सहज रूप से शिक्षा के बिना अशिष्ट, अहंकारपूर्ण और विकृत है। अगर हर एक अपने अंदर सुख की खोज को अतिमानसिक पूर्णता की अभीप्सा में बदलना जाने तो यह काफी है। उसके लिये यदि प्राण की शिक्षा अध्यवसाय और निष्कपटता के साथ काफी आगे बढ़ायी जाये तो एक ऐसा क्षण आता है जब उसे लक्ष्य की महानता और उसके सौंदर्य के बारे में विश्वास हो जाता है और वह भागवत आनंद को पाने के लिये अपनी इंद्रियों के तुच्छ और भ्रांतिजनक संतोषों को त्याग देता है।

('बुलेटिन', फरवरी १९५३)

(२)

जब हम मानसिक तपस्या के विषय में बात करते हैं तो हमें तुरंत उन लंबे ध्यानों

का खयाल आता है जो विचारों पर नियंत्रण और अंत में शिखर के रूप में आंतरिक नीरवता की ओर ले जाते हैं। योग-साधना का यह पक्ष सुपरिचित है और इसके बारे में विस्तार से कुछ कहने की जरूरत नहीं। लेकिन इसका एक और पक्ष भी है जिसकी ओर लोग ज्यादा ध्यान नहीं देते, यह है वाणी का संयम। कुछ विरल अपवादों को छोड़कर, साधारणतः, खुली बकवास के विरुद्ध पूर्ण मौन को ही खड़ा किया जाता है। लेकिन वाणी का नियंत्रण करना पूर्ण निरोध की अपेक्षा ज्यादा महान् और फलप्रद तपस्या है।

धरती पर मनुष्य ही पहला प्राणी है जो स्पष्ट रूप में उच्चारित ध्वनि का उपयोग करता है। वह सचमुच इस पर गर्व करता है और बिना सोचे-समझे, बिना विवेक के इसका उपयोग करता है। संसार उसके शब्दों के कोलाहल से बहरा हो गया है, इसलिये कभी-कभी मनुष्य को वनस्पति-जगत् की समस्वर नीरवता का अभाव खलता है।

यह एक जाना हुआ तथ्य है कि मानसिक शक्ति जितनी कम होगी बोलने की आवश्यकता उतनी ही अधिक होगी। उदाहरण के लिये, आदिम जातियां हैं, ऐसे लोग हैं जिन्हें कोई शिक्षा नहीं मिली, वे बोले बिना सोच ही नहीं सकते। तुम उन्हें कम या अधिक धीमी आवाज में बुदबुदाते सुन सकते हो। अपनी विचार-धारा का अनुसरण करने के लिये उनके पास बस, यही एक तरीका है, बोले हुए शब्दों के बिना उनके विचार कोई रूप ही नहीं ले सकते।

काफी बड़ी संख्या में ऐसे लोग हैं, पढ़े-लिखों में भी, जिनकी मानसिक शक्ति बहुत दुर्बल है और वे कहने से पहले यह नहीं जानते कि उन्हें क्या कहना है। उनके साथ बातचीत बहुत उबानेवाली हो जाती है और उसका अंत ही नहीं आता। लेकिन जब वह बोलते हैं तो उनके विचार अधिकाधिक स्पष्ट और यथार्थ हो जाते हैं और इस कारण वह एक ही बात को बार-बार, बार-बार दोहराने के लिये बाधित होते हैं ताकि वह उसे ज्यादा-ज्यादा ठीक तरह कह सकें। कुछ ऐसे होते हैं जिन्हें वे जो कुछ कहना चाहते हों उसे पहले से तैयार करना पड़ता है और अगर उन्हें अचानक कहीं कुछ बोलना पड़ जाये तो वे हिचकिचाते, हकलाने लगते हैं, क्योंकि वे जो कुछ कहना चाहते हैं उसके लिये उपयुक्त शब्दों को क्रमबद्ध करने का उन्हें समय ही नहीं मिला।

और अंत में, कुछ जन्मजात वक्ता होते हैं जिन्हें भाषण-कला पर पूरा अधिकार होता है। वे जो कुछ कहना चाहते हैं उसे कहने और भली-भांति कहने के लिये उन्हें सहज रूप से शब्द मिलते जाते हैं और वे अच्छी तरह बोलते हैं।

फिर भी, यह सब मानसिक तपस्या की दृष्टि से बकवास की गिनती में आ जाता है। बकवास से मेरा मतलब है ऐसा कोई भी शब्द बोलना जो एकदम अनिवार्य न हो। तुम पूछ सकते हो, इसका निर्णय कैसे किया जाये ? इसके लिये हमें सामान्य

रूप में बोले गये शब्दों का वर्गीकरण करना होगा।

सबसे पहले, भौतिक क्षेत्र में, वे सब शब्द हैं जो भौतिक कारणों से बोले जाते हैं। वे सबसे ज्यादा संख्या में हैं और सामान्य जीवन में शायद सबसे अधिक उपयोगी भी हैं।

ऐसा लगता है कि शब्दों की एक सतत गूंज हमारे दैनिक रूढ़ कार्य की अनिवार्य संगत बन गयी है। लेकिन फिर अगर तुम शोर को कम-से-कम करने का प्रयत्न करो तो तुम देखना शुरू करोगे कि बहुत-सी चीजें नीरवता में ज्यादा अच्छी और ज्यादा जल्दी की जा सकती हैं। और इससे आंतरिक शांति और एकाग्रता बनाये रखने में भी सहायता मिलती है।

अगर तुम अकेले नहीं हो, बल्कि औरों के साथ रहते हो तो ऐसी आदत डालो कि अपने-आपको सारे समय ऊंची आवाज में उच्चारित शब्दों में अभिव्यक्त न करते रहो, तब तुम देखोगे कि तुम्हारे और औरों के बीच थोड़ी-थोड़ी करके एक आंतरिक समझ पैदा हो गयी है; तब तुम उनके साथ कम-से-कम शब्दों में या बिना शब्दों के ही एक-दूसरे से संपर्क रख सकोगे। यह बाहरी मौन आंतरिक शांति के लिये बहुत अनुकूल होता है और अगर तुम्हारे अंदर सद्भावना और सतत अभीप्सा है तो तुम प्रगति के लिये सहायक वातावरण पैदा कर सकोगे।

सार्वजनिक जीवन में, उन शब्दों के साथ जिनका संबंध जीविका और भौतिक व्यापार से जुड़ा होता है, वे शब्द भी जुड़ जाते हैं जो संवेदनों, भावनाओं और आवेगों को व्यक्त करते हैं। इस क्षेत्र में बाहरी मौन की आदत बहुमूल्य सहायक सिद्ध होती है। क्योंकि जब तुम पर संवेदनों या भावनाओं का हमला होता है तो यही मौन की आदत तुम्हें सोचने का अवकाश देती है और अगर जरूरत हो तो तुम्हें अपने संवेदनों और भावों को शब्दों में प्रकट करने से पहले ही रोक लेती है। इस तरह कितने सारे लड़ाई-झगड़ों को रोका जा सकता है; तुम कितनी बार उन मनोवैज्ञानिक विपदाओं से बच सकते हो जो बहुत बार वाणी के असंयम का परिणाम होती हैं।

तुम इस हद तक भले न जाओ, पर तुम्हें हमेशा अपने उच्चारित शब्दों पर संयम रखना चाहिये। तुम्हें अपनी जीभ को क्रोध, उग्रता या रोष के अधीन कभी काम न करने देना चाहिये। उससे आनेवाले परिणामों में केवल झगड़ा ही बुरा नहीं है, बल्कि यह तथ्य भी है कि तुम अपनी जीभ के द्वारा वातावरण में बुरे भाव प्रक्षिप्त होने देते हो, क्योंकि ध्वनि के स्पंदनों से ज्यादा छुतहा कोई और चीज नहीं है। इन गतियों को अपने-आपको प्रकट करने का अवसर देकर तुम उन्हें अपने अंदर और दूसरों के अंदर स्थायी बनाते हो।

सबसे अधिक अवांछनीय प्रकार की बकवास में उस बातचीत को भी गिनना चाहिये जो तुम औरों के बारे में करते हो।

जबतक तुम संरक्षक, अध्यापक या विभागाध्यक्ष के रूप में कुछ लोगों के लिये उत्तरदायी न हो तबतक दूसरे क्या करते हैं और क्या नहीं करते इसके साथ तुम्हारा

कोई मतलब नहीं। तुम्हें औरों के बारे में बातचीत करने से, उनके बारे में राय देने से, या वे क्या करते हैं या दूसरे उनके बारे में क्या सोचते या कहते हैं, इस विषय में कुछ कहने से बचना चाहिये।

हो सकता है कि तुम्हारा काम ही ऐसा हो कि किसी विशेष विभाग या व्यवसाय या सामूहिक कार्य में क्या हो रहा है इसकी सूचना देना तुम्हारा कर्तव्य हो जाता है। ऐसी हालत में, तुम्हारी रिपोर्ट शुद्ध रूप से काम के साथ ही संबद्ध होनी चाहिये, किसी व्यक्तिगत मामले से नहीं। वह हर हालत में पूरी तरह वस्तुनिष्ठ होनी चाहिये। तुम्हें उसके अंदर व्यक्तिगत प्रतिक्रिया, पसंद, सहानुभूति या विरोध को प्रवेश न करने देना चाहिये। विशेष रूप से, तुम्हें जो काम सौंपा गया है उसमें किसी निजी तुच्छ वैरभाव को कभी न मिलने दो।

हर हालत में, सामान्य रूप से, दूसरों के बारे में तुम जितना ही कम बोलो—उनकी प्रशंसा में भी--उतना ही अच्छा। अपने अंदर क्या हो रहा है उसे ही ठीक-ठीक जानना इतना मुश्किल है—फिर भला निश्चित रूप से यह कैसे जाना जाये कि दूसरों में क्या हो रहा है ? इसलिये किसी भी व्यक्ति के बारे में कोई अटल निर्णय न सुना दो। वह यदि दुर्भावनापूर्ण न भी हुआ तो मूर्खतापूर्ण तो अवश्य होगा।

जब विचार शब्दों में अभिव्यक्त किया जाता है तो ध्वनि के स्पंदन में विचार के साथ सबसे अधिक भौतिक तत्त्व का संबंध जोड़कर उसे ठोस और प्रभावशाली वास्तविकता बना देने की काफी क्षमता होती है। इसलिये तुम्हें चीजों या लोगों के बारे में बुरी बातें न कहनी चाहिये, शब्दों में ऐसी चीजों को व्यक्त न करना चाहिये जो भागवत उपलब्धि की प्रगति का विरोध करें। यह एक सामान्य और सुनिश्चित नियम है। किंतु इसका एक अपवाद भी है। तुम्हें किसी चीज या कर्म की आलोचना तबतक न करनी चाहिये जबतक तुम्हारे अंदर उसका—जिसकी तुम आलोचना कर रहे हो—अंत करने या उसका रूपांतर करने की सचेतन शक्ति और सक्रिय संकल्प न हो। वस्तुतः, इस सचेतन शक्ति और क्रियाशील संकल्प में स्थूल भौतिक पदार्थ में प्रतिक्रिया की संभावना उत्पन्न करने की, बुरे स्पंदन को अस्वीकार करने की और अंत में उसे इस हद तक सुधारने की क्षमता होती है कि उसके लिये अपने-आपको भौतिक स्तर पर व्यक्त करना असंभव हो जाता है।

यह काम बिना किसी संकट और भय के केवल वही कर सकता है जो विज्ञानमय लोकों में विचरण करता हो और जिसे अपनी मानसिक क्षमताओं में आत्मा का प्रकाश और सत्य की शक्ति प्राप्त हो। वह दिव्यकर्मी सब प्रकार की पसंद और आसक्ति से मुक्त होता है। वह अपने अंदर अहंकार की सीमाओं को तोड़ चुकता है और वह धरती पर अतिमानसिक कार्य के पूर्णतया शुद्ध और निर्वैयक्तिक के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

ऐसे शब्द भी हैं जो विचार, सम्मति, मनन और अध्ययन के परिणामों को व्यक्त

करने के लिये काम आते हैं। यहां हम बौद्धिक क्षेत्र में हैं और यह सोच सकते हैं कि इस क्षेत्र में मनुष्य ज्यादा समझदार और संतुलित होते हैं और यहां कठोर तपस्या कम अनिवार्य है। लेकिन बात ऐसी बिलकुल नहीं है, क्योंकि यहां भी लोगों ने विचारों और ज्ञान के इस क्षेत्र में भी, विश्वासों की उग्रता, साम्प्रदायिक असहिष्णुता और पसंद का, आवेग का प्रवेश करा दिया है। अतः यहां भी व्यक्ति को मानसिक तपस्या का आश्रय लेना चाहिये और उन विचारों के आदान-प्रदान से सावधानी के साथ बचना चाहिये जिनकी समाप्ति ऐसे तर्क-वितर्क में होती है जो अधिकतर कटु और प्रायः हमेशा ही निरर्थक होते हैं; और उन मतभेदों से भी बचना चाहिये जिनका अंत गरमा-गरम बहस, यहांतक कि झगड़े में भी होता है। यह सब मन की संकीर्णता से आता है और जब आदमी मानसिक क्षेत्र में काफी ऊंचा उठ जाये तो इसका इलाज आसानी से हो सकता है।

वास्तव में, आदमी जब यह जान जाये कि सूत्रबद्ध विचार उस चीज को कहने का केवल एक ढंग है जो वर्णन से परे है, तो फिर सांप्रदायिकता असंभव हो जाती है। हर विचार या भाव में थोड़ा-सा सत्य या सत्य का एक पहलू होता है, पर कोई विचार या भाव ऐसा नहीं है जो अपने-आपमें पूर्ण सत्य हो।

चीजों की सापेक्षता का यह भाव, व्यक्ति में संतुलन रखने और उसकी बातचीत में गंभीर संयम बनाये रखने में बहुत सहायक होता है। मैंने एक गुह्यवेत्ता, जिसे कुछ ज्ञान प्राप्त था, यह कहते हुए सुना था : "कोई भी चीज तत्त्वतः अशुभ या बुरी नहीं है; केवल ऐसी चीजें हैं जो अपने स्थान पर नहीं हैं। हर एक चीज को उसके अपने स्थान पर रख दो और तुम सामंजस्यपूर्ण संसार पा जाओगे।"

फिर भी, कार्य की दृष्टि से, विचार का मूल्य उसकी व्यावहारिक शक्ति के अनुपात में होता है। यह सच है कि यह शक्ति जिन लोगों में काम करती है उनके अनुसार भिन्न होती है। एक भाव-विशेष जो एक व्यक्ति में महान् प्रेरक शक्ति रखता है वही दूसरे में एकदम असफल होता है। लेकिन शक्ति अपने-आपमें संक्रामक है। कुछ भावों में दुनिया का रूपांतर करने की शक्ति होती है। इन्हीं को व्यक्त करना चाहिये। ये आत्मा के आकाश में पथ-प्रदर्शक नक्षत्र हैं और ये ही धरती को अपनी परम उपलब्धि की ओर ले जाते हैं।

अंत में, वे सब शब्द हैं जो पढ़ाने के लिये काम में लाये जाते हैं। शब्दों की यह श्रेणी शिशु-विहार से लेकर विश्वविद्यालय तक फैली है जिसमें मनुष्य के कलात्मक और साहित्यिक सर्जनों का भी समावेश है जो या तो मनोरंजक होते हैं या शिक्षाप्रद। इस क्षेत्र में सब कुछ कार्य के मूल्य पर निर्भर है और यह विषय इतना बड़ा है कि इसे यहां पर ले सकना संभव नहीं है। यह एक तथ्य है कि आजकल शिक्षा की ओर बहुत ध्यान दिया जा रहा है और नयी-से-नयी वैज्ञानिक खोजों का उपयोग करके उन्हें शिक्षा की सेवा में लगाने का सराहनीय प्रयास हो रहा है। लेकिन सत्य के लिये

अभीप्सा करनेवालों के लिये यहां भी तप की जरूरत है।

आमतौर पर यह माना जाता है कि शिक्षा की प्रक्रिया में हल्की, मनोरंजक बल्कि तुच्छ कृतियों को भी स्थान मिलना चाहिये ताकि प्रयास का दबाव कम पड़े और केवल बच्चों को ही नहीं, बड़ों को भी कुछ आसानी हो। एक दृष्टिकोण से यह सच है लेकिन दुर्भाग्यवश इस मान्यता के कारण चीजों की, एक ऐसी पूरी-की-पूरी श्रेणी को आयात करने का बहाना मिल गया है जो मानव प्रकृति में जो कुछ गंवारू, भद्दा और निम्न कोटि का है उसके खिलने से कम नहीं है। इस मान्यता में अत्यंत जघन्य प्रवृत्तियों तथा अति हीन रुचियों को अनिवार्य आवश्यकता के रूप में अपना प्रदर्शन करने और अपने-आपको स्थापित करने का अच्छा बहाना मिल जाता है। लेकिन बात ऐसी नहीं है; आदमी कामुक हुए बिना विश्राम कर सकता है, वह लंपट बने बिना भी अपने-आपको आराम दे सकता है। वह विश्राम कर सकता है, पर अपनी प्रकृति की स्थूल चीजों को उभरने दिये बिना। लेकिन तपस्या की दृष्टि से इन आवश्यकताओं को भी अपनी प्रकृति बदलने की जरूरत है; आराम एक आंतरिक नीरवता में, विश्राम ध्यान में, और शिथिलीकरण आनंद में बदल जाता है।

मन-बहलाव की, काम में आराम की, जीवन के लक्ष्य को कुछ समय के लिये या ज्यादा समय के लिये पूरी तरह भूल जाने की और साथ ही जीवन के मूल हेतु को भूल जाने की आवश्यकता को बिलकुल स्वाभाविक और अनिवार्य नहीं मान लेना चाहिये। यह एक ऐसी दुर्बलता है जिसके आगे मनुष्य अभीप्सा की तीव्रता के अभाव, संकल्प-शक्ति की अस्थिरता, अज्ञान, निश्चेतना और निरुत्साह के कारण झुक जाता है। इन प्रवृत्तियों को न्यायसंगत न ठहराओ और शीघ्र ही तुम देखोगे कि ये जरूरी नहीं रहीं; कुछ समय बाद ये तुम्हारे लिये अरुचिकर, यहांतक कि, अग्राह्य हो जायेंगी। तब मनुष्य की कृतियों का एक छोटा नहीं, बल्कि काफी बड़ा भाग, जो "मन-बहलाव" कहाता है पर सचमुच है नीचे ले जानेवाला, अपना आधार और प्रोत्साहन खो बैठेगा।

फिर भी यह न समझो कि बोले हुए शब्दों का मूल्य बातचीत के विषय पर निर्भर है। तुम आध्यात्मिक विषयों पर भी उसी तरह बकवास कर सकते हो जैसे किसी और विषय पर। लेकिन इस प्रकार की बकवास सबसे अधिक भयंकर बकवासों में से एक हो सकती है। उदाहरण के लिये, नया साधक जो थोड़ा-बहुत जानता है उसे औरों में बांटने के लये बहुत उत्सुक रहता है। लेकिन जैसे वह मार्ग पर आगे बढ़ता है उसे अधिकाधिक पता लगता है कि वह बहुत नहीं जानता और औरों को सिखाने का प्रयास करने से पहले उसे अपने ज्ञान के मूल्य के बारे में निश्चित होना चाहिये जबतक कि अंत में वह बुद्धिमान् न हो जाये और यह अनुभव न करने लगे कि कुछ मिनटों तक उपयोगी बात करने के लिये घंटों की नीरव एकाग्रता की जरूरत होती है। इसके अतिरिक्त, आंतरिक जीवन और आध्यात्मिक साधना के बारे में वाणी के

उपयोग पर कठोर ज्यादा अनुशासन रखना होगा और जबतक एकदम आवश्यक ही न हो कुछ न कहा जाये।

यह भली-भांति जाना हुआ तथ्य है कि अगर तुम अपनी अनुभूति में इकट्ठी की गयी शक्ति को, जो तुम्हारी प्रगति को तेज करने के लिये है, क्षण-भर में गायब होते नहीं देखना चाहते तो तुम्हें अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों के बारे में कभी न बोलना चाहिये। इसमें केवल एक ही अपवाद हो सकता है—गुरु, जब तुम उनसे अपनी अनुभूति के बारे में कोई व्याख्या चाहो या उसके अर्थ के संबंध में कोई आदेश चाहो। वास्तव में, तुम केवल अपने गुरु के सामने ही इन चीजों के बारे में बिना किसी भय के बोल सकते हो, क्योंकि केवल गुरु अपने ज्ञान द्वारा तुम्हारी अनुभूति के तत्त्वों को तुम्हारी भलाई के लिये नयी चढ़ाई के सोपान में बदल सकते हैं।

यह सत्य है कि गुरु भी स्वयं अपनी निजी बातों के बारे में इसी तरह नीरवता के नियम के अधीन होते हैं। प्रकृति में हर चीज गतिशील है; अतः जो आगे नहीं बढ़ता वह पीछे हटने के लिये बाधित है। अपने शिष्य की भांति गुरु को भी आगे बढ़ना चाहिये, चाहे उनकी प्रगति उसी स्तर पर न हो। उनके लिये भी अपनी अनुभूति के बारे में बोलना हितकर नहीं है : अनुभूति की गतिशील शक्ति को शब्दों में प्रकट किया जाये तो वह बड़ी हदतक भाप बनकर उड़ जाती है। दूसरी ओर, शिष्यों को अपने अनुभव समझाकर गुरु उनकी समझ और उनकी प्रगति में प्रबल सहायता पहुंचाते हैं। उन्हें अपनी समझ के अनुसार यह जानना होगा कि किस हदतक एक को दूसरे के लिये बलि चढ़ायें। यह तो जानी-मानी बात है कि उनके वर्णन में शेखी या अहंमन्यता का प्रवेश नहीं होना चाहिये, क्योंकि जरा-सा अभिमान उन्हें गुरु की जगह पाखंडी बना देगा।

रही बात शिष्य की, तो उससे मैं कहूंगी : "हर हालत में अपने गुरु के प्रति निष्ठावान् बने रहो, वह चाहे कुछ भी क्यों न हो; तुम जितनी दूरतक जा सको वह तुम्हें उतनी दूरतक ले जायेंगे। लेकिन अगर तुम्हें भगवान् को ही गुरु के रूप में पाने का सौभाग्य प्राप्त हो तो तुम्हारी उपलब्धि की कोई सीमा न होगी।"

फिर भी, जब भगवान् धरती पर अवतार लेते हैं तो वे भी प्रगति के इस विधान के अधीन होते हैं। उनकी अभिव्यक्ति के यंत्र को, भौतिक सत्ता को, जो उनका परिधान होती है, सतत प्रगति की अवस्था में रहना चाहिये और उनकी निजी आत्माभिव्यक्ति का नियंत्रण करनेवाले विधान एक तरह से धरती की प्रगति के सामान्य विधान से जुड़े रहते हैं। इस तरह सशरीर भगवान् धरती पर तबतक पूर्ण नहीं हो सकते जबतक मनुष्य पूर्णता को समझने और स्वीकार करने के लिये तैयार न हों। ऐसा एक दिन होगा जब मनुष्य सब कुछ भगवान् के प्रति प्रेम के कारण करेंगे, आज की तरह उनके प्रति कर्तव्य मानकर नहीं। तब प्रगति एक प्रयास, और बहुधा संघर्ष होने की जगह एक आनंद होगी, या यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि प्रगति समस्त सत्ता की निष्ठा

के आनंद के द्वारा होगी, अहंकार के प्रतिरोध के दमन द्वारा नहीं, जिसका अर्थ होता है बहुत प्रयास और कभी-कभी बहुत दुःख-कष्ट।

अंत में, मैं तुमसे यह कहूंगी : यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारी वाणी सत्य को अभिव्यक्त करे और भागवत शब्द की शक्ति प्राप्त करे तो पहले से मत सोचो कि तुम क्या कहोगे, यह निश्चय न करो कि क्या कहना अच्छा या बुरा होगा, यह हिसाब न लगाओ कि जो तुम कहनेवाले हो उसका क्या प्रभाव होगा। अपने मन में नीरव रहो और 'सर्व प्रज्ञा', 'सर्व ज्ञान', 'सर्व चेतना' के लिये सतत अभीप्सा के सच्चे भाव में स्थिर रहो। तब, अगर तुम्हारी अभीप्सा निष्कपट है, अगर यह चीजों को अच्छी तरह करने और सफल होने की महत्त्वाकांक्षा को छिपाने के लिये एक आवरण नहीं है, अगर वह शुद्ध, सहज और सर्वांगीण है तो तुम सरलता के साथ बोल सकोगे, वही शब्द बोलोगे जो बोले जाने चाहिये, न अधिक, न कम, और उनमें सर्जक शक्ति होगी।

('बुलेटिन' अप्रैल १९५३)

(२)

सभी तपस्याओं में यह सबसे कठिन है संवेदन और भावों की तपस्या, प्रेम की तपस्या।

वस्तुतः, शायद भावों के क्षेत्र में मनुष्य को, अन्य सब क्षेत्रों से बढ़कर, एक विवशता, अदम्यता और अनिवार्यता का अनुभव होता है, एक शासक नियति का भाव होता है जिससे वह बच नहीं सकता। प्रेम को (कम-से-कम वह चीज जिसे मनुष्य यह नाम देते हैं) विशेष रूप में एक ऐसा निरंकुश प्रभु माना जाता है जिसकी सनकों से नहीं बचा जा सकता, जो तुम्हारे ऊपर मनचाहे ढंग से प्रहार करता है, और तुम चाहो या न चाहो, तुम्हें आज्ञापालन के लिये बाधित करता है। प्रेम के नाम पर बुरे-से-बुरे अपराध किये गये हैं, बेलगाम मूर्खताएं की गयी हैं।

और फिर भी, मनुष्य ने प्रेम की इस शक्ति को वश में करने की आशा से, इसे सौम्य और विनीत बनाने के लिये सब प्रकार के नैतिक और सामाजिक नियम बनाये हैं, लेकिन ऐसा लगता है कि वह नियम तोड़ने के लिये ही बनाये गये थे और उसकी स्वच्छंद गति पर लगाये गये प्रतिबंध उसकी विस्फोटक शक्ति को बढ़ाते प्रतीत होते हैं। क्योंकि प्रेम की गतिविधि को नियमों के द्वारा वश में नहीं किया जा सकता। प्रेम के अदम्य आवेगों को केवल प्रेम की अधिक महान्, अधिक ऊंची और अधिक सच्ची शक्ति ही वश में कर सकती है। प्रेम ही प्रेम पर, उसे प्रकाशित करके, उसका रूपांतर करके और उसे बढ़ाकर शासन कर सकता है। क्योंकि यहां भी, अन्य किसी भी और स्थान की अपेक्षा कहीं अधिक, संयम दबाने या त्यागने में नहीं, एक उदात्त कीमिया

के द्वारा रूपांतरित करने में है। इसका कारण यह है कि संसार पर क्रिया करनेवाली सभी शक्तियों में प्रेम ही सबसे अधिक शक्तिशाली, सबसे अधिक अदम्य है। प्रेम के बिना जगत् फिर से निश्चेतना की अवस्था में जा गिरेगा।

वस्तुतः, चेतना विश्व की स्रष्टा है, परंतु प्रेम उसका रक्षक है। केवल सचेतन अनुभूति ही इस बात की झांकी दे सकती है कि प्रेम क्या है, क्यों है और कैसे है। उसकी प्रतिलिपि शब्दों में निश्चित रूप से उस वस्तु का मानसिक छद्मवेश है जो सब प्रकार की अभिव्यक्ति से बच निकलती है। दार्शनिक, गुह्यवेत्ता, रहस्यवादी, सब प्रयास कर चुके हैं, लेकिन व्यर्थ। मैं यह दावा नहीं करती कि जहां वे असफल हो गये वहां मैं सफल होऊंगी। मेरा उद्देश्य है उस चीज को सरल-से-सरल भाषा में रखना जो उनकी लेखनी के द्वारा इतना अमूर्त और जटिल रूप ले लेती है। मेरे शब्दों का केवल यही लक्ष्य होगा कि वे एक बच्चे को भी जीवित-जाग्रत् अनुभूति की ओर ले जायें।

प्रेम, अपने सार-तत्त्व में, एकात्मता का आनंद है; वह ऐक्य के आनंद में अपनी चरम अभिव्यक्ति पाता है। इन दो अवस्थाओं के बीच वैश्व अभिव्यक्ति के सभी पक्ष आ जाते हैं।

इस अभिव्यक्ति के आरंभ में, प्रेम अपने उद्‌गम की पवित्रता में दो गतियों से बना होता है, पूर्ण मिलन की प्रवृत्ति के दो पूरक ध्रुवों से बना होता है। एक ओर आकर्षण की परम शक्ति और दूसरी ओर है पूर्ण आत्म-समर्पण की आवश्यकता जिसका कोई प्रतिरोध नहीं कर सकता। व्यक्तिगत सत्ता में चेतना के अपने मूल स्रोत से बिछुड़कर निश्चेतना बनते समय जो खाई खुद गयी थी उसे पाटने के लिये कोई और शक्ति प्रेम से बढ़कर नहीं हो सकती।

जो चीज देश-काल में प्रक्षिप्त की गयी थी उसे इस भांति बनी हुई सृष्टि को नष्ट किये बिना स्वयं अपने में वापिस लाना था। इसके लिये प्रेम, जो मिलन की एकमात्र अदम्य शक्ति है, उमड़ पड़ा।

वह अंधकार और निश्चेतना पर मंडराता रहा है, उसने अपने-आपको अगाध रात्रि के वक्ष में बिखेर दिया है, चूर-चूर कर दिया है। और तभी से जागरण और आरोहण का आरंभ हुआ है, धीरे-धीरे जड़तत्त्व का निर्माण और उसका अंतहीन विकास शुरू हुआ था। क्या यह प्रेम ही नहीं है जो एक भ्रांतिपूर्ण और अंधेरे रूप में भौतिक और प्राणिक प्रकृति की सभी प्रेरणाओं के साथ जुड़ा है तथा प्रत्येक क्रिया और प्रत्येक समूहीकरण की ओर प्रेरित करता है? बनस्पति जगत् में यह बिलकुल स्पष्ट दिखायी देता है। पेड़-पौधों में यह अधिक प्रकाश और अधिक हवा, अधिक स्थान पाने के लिये बढ़ने की आवश्यकता है, तो फूल में यही सौंदर्य और सुरभि के साथ प्रस्फुटन है। और पशु-जगत् में क्या यही भूख-प्यास, अधिकार, विस्तार और प्रजनन, संक्षेप में कहें तो सभी कामनाओं के पीछे जाने-अजाने रूप में नहीं रहता? और उच्चतर श्रेणियों में

मादा की अपने बच्चों के लिये निःस्वार्थ निष्ठा में यही चीज नहीं है ? यह चीज हमें स्वभावतः मानवजाति तक ले आती है जहां मानसिक गतिविधि के विजयपूर्ण आगमन से यह संबंध अपनी चरम सीमा को पा लेता है, क्योंकि वहां पर यह सचेतन और सुविवेचित है। वास्तव में, धरती के विकास में जब यह संभव हुआ तो प्रकृति ने प्रेम की इस महान् शक्ति को लेकर प्रजनन के साथ जोड़कर, मिलाकर अपनी सर्जक शक्ति की सेवा में लगा दिया। यह संयोग इतना ज्यादा हिल-मिल कर घनिष्ठ हो गया कि बहुत कम लोगों में इतनी प्रबुद्ध चेतना है कि वे इन दोनों को अलग करके इनका अलग-अलग अनुभव कर सकें। इस प्रकार प्रेम को सब तरह की अधोगति सहनी पड़ी, वह पशुता के स्तर तक उतर गया।

इसी अवस्था से प्रकृति के कामों में धीरे-धीरे क्रमिक अवस्थाओं के द्वारा अधिकाधिक जटिल और बहुतेरे समूहों की सहायता से फिर से आद्य ऐक्य की रचना करने की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप में प्रकट हुई। उसने प्रेम की शक्ति द्वारा दो मनुष्यों को साथ लाकर दो का समूह पैदा किया जो कुटुंब का मूल है। एक बार उसने व्यक्तिगत अहंभाव की सीमाओं को दोहरे अहं का रूप देकर तोड़ दिया और फिर बालक को प्रकट करके परिवार की ज्यादा जटिल इकाई को जन्म दिया। आगे चलकर कुटुंबों के अनेक संबंधों और व्यक्तियों के आदान-प्रदान और रक्त के मिश्रण से गोत्र, वंश, जाति, वर्ग और अंत में, राष्ट्र की रचना की। समूहों की रचना का काम संसार-भर में एक ही साथ अलग-अलग स्थानों पर होता रहा और इसी ने विभिन्न जातियों के निर्माण को स्पष्ट रूप दिया। प्रकृति इन जातियों को भी, धीरे-धीरे, मानव एकता का स्थूल और वास्तविक आधार बनाने के प्रयत्न में एक-दूसरे से मिला देगी।

अधिकतर लोगों की चेतना को यह जीवन के संयोगों का खेल लगता है; किसी सार्वभौम योजना की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता। परिस्थितियां जैसे-जैसे आती हैं, वे उन्हें अपने स्वभाव के अनुसार कम या ज्यादा आसानी के साथ स्वीकारते हैं, कुछ लोग संतुष्ट होते हैं और कुछ असंतुष्ट।

संतुष्ट लोगों में, एक श्रेणी ऐसे लोगों की है जो प्रकृति के तौर-तरीके के साथ पूरा मेल खाते हैं : ये हैं आशावादी। उन्हें रात के कारण दिन अधिक प्रकाशमान दीखता है, छाया के कारण रंग अधिक चमकीले हैं, कष्ट के कारण हर्ष अधिक तीव्र होता है, दुःख सुख को अधिक मोहक बनाता है। रोग स्वास्थ्य को उसका पूरा मूल्य प्रदान करता है; मैंने कुछ लोगों को यह कहते हुए भी सुना है कि वे दुश्मन पाकर खुश होते हैं, क्योंकि तब वे अपने मित्रों का मूल्य ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते हैं। बहरहाल, ऐसे लोगों के लिये काम-केलि सबसे अधिक सुखकर कार्य है, जीभ की संतुष्टि जीवन के उन रसों में से है जिनके बिना काम नहीं चल सकता; उनके लिये यह बिलकुल स्वाभाविक बात है कि जो पैदा हुआ है उसे मरना भी होगा : यह उस यात्रा का अंत है जो अगर बहुत ज्यादा चलती तो नीरस और उबाऊ हो जाती।

संक्षप में, उन्हें जीवन जैसा है वैसा ही बिलकुल ठीक लगता है। वे यह जानने की परवाह नहीं करते कि उसका कोई हेतु या लक्ष्य भी है या नहीं; वे दूसरों के दुःख-दैन्य से कष्ट नहीं पाते और प्रगति की कोई आवश्यकता नहीं देखते।

लेकिन तुम्हें ऐसे लोगों का "मत परिवर्तन" करने की कोशिश कभी नहीं करनी चाहिये; यह बहुत बड़ी भूल होगी। अगर दुर्भाग्यवश वे तुम्हारी बात मान लें तो वे अपना वर्तमान संतुलन खो बैठेंगे, लेकिन कोई नया संतुलन न पायेंगे। वे आंतरिक जीवन के लिये तैयार नहीं हैं, लेकिन वे प्रकृति के प्यारे हैं; उसके साथ उनकी घनिष्ठ मैत्री है और उनकी इस प्राप्ति को बिना कारण धक्का न पहुंचना चाहिये।

संसार में दूसरे संतुष्ट लोग ऐसे हैं जो इनसे जरा कम संतुष्ट और, सबसे बढ़कर, कम स्थायी रूप में संतुष्ट हैं। उनकी संतुष्टि प्रेम की क्रिया के जादू के कारण होती है। हर बार जब कोई व्यक्ति उस संकीर्ण सीमा को तोड़ता है जिसमें उसके अहं ने उसे बंद कर रखा है, जैसे ही वह आत्म-दान के कारण खुली हवा में उठता है, वह चाहे किसी और मनुष्य के लिये हो या परिवार या देश या अपने श्रद्धा-विश्वास के लिये, उसे इस आत्म-विस्मृति के अंदर प्रेम के अद्भुत आनंद का पूर्ण रस प्राप्त होता है और इससे उसे ऐसा लगता है कि वह भगवान् के संपर्क में आ गया है। लेकिन बहुधा यह क्षणिक संपर्क होता है, क्योंकि मनुष्यों में प्रेम तुरंत अहंकारपूर्ण निम्न गतियों में मिल जाता है जो उसे बदरंग बना देती हैं और उसकी पवित्रता की सारी शक्ति को दूर कर देती हैं। फिर भी, अगर वह शुद्ध बना भी रहता तो भी भागवत सत्ता के साथ यह संपर्क चिरस्थायी न होता, क्योंकि प्रेम भगवान् का केवल एक पक्ष है, एक ऐसा पक्ष जो धरती पर अन्य पक्षों की तरह समान रूप से विकृत हो गया है।

बहरहाल, ये सब अनुभूतियां उस सामान्य मनुष्य के लिये बहुत अच्छी और उपयोगी हैं जो सामान्य पथ पर भावी ऐक्य के लक्ष्य की ओर डिगते पैरों से बढ़ती गयी प्रकृति का अनुसरण करता है, लेकिन इनसे उन लोगों को संतोष नहीं हो सकता जो गति को तेज करना चाहते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो ये उन्हें संतुष्ट नहीं कर सकतीं जो किसी और धारा का, अधिक सीधी और अधिक तेज धारा का अनुसरण करना चाहते हैं, जो उन्हें सामान्य मानव प्रकृति और उसकी अनंत यात्रा से मुक्त कर दे, जो उन्हें आध्यात्मिक प्रगति में भाग लेने योग्य बना दे, जो उन्हें द्रुत मार्ग से उस नयी जाति की सृष्टि की ओर ले जाये जो धरती पर अतिमानसिक सत्य को अभिव्यक्त करेगी। इन विशिष्ट आत्माओं को मनुष्य-मनुष्य के बीच सारे प्रेम का त्याग करना होगा, क्योंकि वह चाहे कितना भी सुन्दर और पवित्र क्यों न हो, वह एक प्रकार से लघु परिपथ (शार्ट सर्किट) बना देता है और भगवान् के साथ सधे संबंध को काट देता है।

जिसने भागवत प्रेम को जान लिया है वह और सभी प्रकार के प्रेम को धुंधला, क्षुद्र, अहंकार और अंधकार से मिला हुआ पाता है; वह व्यापार या श्रेष्ठता के लिये,

अधिकार के लिये संघर्ष के जैसा लगता है और अपने अच्छे-से-अच्छे रूप में भी वह गलतफहमी, चिड़चिड़ेपन, मन-मुटाव और नासमझी से भरा रहता है।

और फिर, यह जानी हुई बात है कि तुम जिससे प्रेम करते हो उसी के जैसे बनते जाते हो। अगर तुम भगवान् जैसे बनना चाहो तो तुम्हें केवल उन्हीं से प्रेम करना चाहिये। जिसने भगवान् के सायुज्य के आनंद का अनुभव किया है वही जान सकता है कि बाकी सारा प्रेम उसकी तुलना में कितना नीरस, मंद और शक्तिहीन होता है और यदि इस सायुज्य को प्राप्त करने के लिये कठोरतम तपस्या की जरूरत पड़े तो भी कोई चीज अत्यंत कठिन, बहुत अधिक लंबी या अत्यंत कठोर नहीं है—बशर्ते कि वह तुम्हें वहांतक पहुंचा दे—क्योंकि यह सब प्रकार की अभिव्यक्ति से परे है।

हम धरती पर इस अद्‌भुत स्थिति को चरितार्थ करना चाहते हैं। यही धरती का रूपांतर करके उसे भागवत सत्ता के योग्य आवास बनायेगी। तब सच्चा और विशुद्ध प्रेम एक ऐसे शरीर में अवतार लेगा जो उसके लिये आवरण या छद्मवेश न रहेगा। तपस्या को ज्यादा सरल बनाने के लिये तथा ज्यादा नजदीक और स्पष्ट रूप से अनुभव की जा सकनेवाली घनिष्ठता उत्पन्न करने के लिये भगवान् ने प्रेम के सर्वोच्च रूप में एक ऐसा भौतिक शरीर ग्रहण करने की इच्छा की जो देखने में मनुष्य-शरीर के जैसा ही हो। लेकिन हमेशा ही जड़-द्रव्य के स्थूल रूप में बंद होने के कारण वह अपना एक विकृत रूप ही व्यक्त कर सके। वे अपनी पूर्णता के वैभव में अपने-आपको तभी अभिव्यक्त कर सकेंगे जब मनुष्य अपनी चेतना और शरीर में कुछ अनिवार्य प्रगति कर लेंगे; क्योंकि मनुष्य का तुच्छता-भरा मिथ्याभिमान और उसका मूर्खतापूर्ण अहंभाव, मानव शरीर में अभिव्यक्त भागवत प्रेम को दुर्बलता, निर्भरता और आवश्यकता का चिह्न मान लेता है।

लेकिन फिर भी, मनुष्य शुरू में धुंधले रूप में, लेकिन जैसे-जैसे वह पूर्णता की ओर बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे ज्यादा स्पष्ट रूप में यह जानने लगता है कि केवल प्रेम ही संसार के दुःख-कष्ट का अंत ला सकता है; प्रेम का अनिर्वचनीय आनंद ही, अपने सार-तत्त्व में, संसार से विछोह की जलती हुई पीड़ा को दूर कर सकता है। क्योंकि परम ऐक्य के आनंद में ही सृष्टि को अपने अस्तित्व का हेतु और उसकी चरितार्थता प्राप्त हो सकती है।

इसलिये कोई भी प्रयास बहुत कठिन नहीं है, कोई तपस्या बहुत कठोर नहीं है अगर वह भौतिक तत्त्व को इतना प्रकाशित, शुद्ध, पूर्ण और रूपांतरित कर सके कि भगवान् जब उसमें रूप धारण करें तो वह उन्हें छिपा न पाये। तब वह अद्‌भुत प्रेम अपने-आपको इस जगत् में प्रकट कर सकेगा, इस भागवत प्रेम में ही जीवन को मधुर आनंद के स्वर्ग में बदलने की क्षमता है।

तुम कह सकते हो कि यह तो चरम उद्देश्य, प्रयास का मुकुट, अंतिम विजय है;

लेकिन वहांतक पहुंचने के लिये क्या किया जाये ? कौन-से मार्ग का अनुसरण किया जाये और रास्ते के पहले कदम कौन-से हैं ?

चूंकि हमने यह निश्चय कर लिया है कि पूर्ण वैभवमय प्रेम को भगवान् के साथ अपने व्यक्तिगत संबंध के लिये सुरक्षित रखें, इसलिये औरों के साथ अपने संबंध में प्रेम की जगह एक पूर्ण अपरिवर्तनशील, स्थायी और अहंकारशून्य शुभ कामना और सद्भावना रखेंगे जो बदले में किसी पुरस्कार, कृतज्ञता या मान्यता की भी आशा न करेगी। दूसरे तुम्हारे साथ चाहे जैसे व्यवहार करें, तुम अपने-आपको किसी मनोमालिन्य या नाराजगी में न बहने दोगे; और भगवान् के प्रति अपने विशुद्ध प्रेम में तुम उन्हें ही इस बात के लिये एकमात्र निर्णायक बनाओगे कि वे दूसरों की गलतफहमी और दुर्भावना से तुम्हारी रक्षा कैसे करेंगे।

तुम अपने आनंद या अपने सुख के लिये केवल भगवान् पर ही निर्भर रहोगे, केवल उन्हीं में सहायता और आश्रय खोजोगे और पाओगे। वे तुम्हें हर दुःख में आश्वासन देंगे, तुम्हें पथ पर चलायेंगे, तुम ठोकर खा जाओ तो तुम्हें उठायेंगे और यदि दुर्बलता और क्लांति की घड़ियां आयें तो प्रेम की बलवान भुजाओं में लकर अपनी सुखद मधुरिमा में लपेट लेंगे।

यहां एक गलतफहमी से बचने के लिये मुझे यह बता देना चाहिये कि भाषा की मांग के कारण मुझे भगवान् के लिये पुल्लिंग रूप का उपयोग करना पड़ता है। लेकिन वास्तव में मैं प्रेम के रूप में जिस सत्य के बारे में बोल रही हूं वह स्त्रीलिंग और पुल्लिंग सब प्रकार के लिगों से ऊपर और परे है; और जब वह मानव देह लेता है, तो तटस्थ भाव से, उसे जो काम करना है उसकी जरूरत की दृष्टि से नर या नारी का शरीर धारण करता है।

संक्षेप में, भाव की तपस्या में सब प्रकार की भाव-संबंधी आसक्ति का त्याग आता है, वह चाहे किसी प्रकार का क्यों न हो, चाहे किसी व्यक्ति के लिये हो, परिवार के लिये हो, देश के लिये हो या किसी और चीज के लिये हो। और इस त्याग के साथ भगवान् के लिये अनन्य रूप से आसक्ति होनी चाहिये। इस एकाग्रता की पूर्णाहुति होगी सर्वांगीण तादात्म्य में, और यह धरती पर अतिमानसिक उपलब्धि के लिये यंत्र-रूप होगी।

यह बात हमें बिलकुल स्वाभाविक रूप में चार मुक्तियों तक ले जाती है जो इस सिद्धि के चार मूर्त्त रूप हैं। भाव-संबंधी मुक्ति, अतिमानसिक एकता की सर्वांगीण उपलब्धि के परिणामस्वरूप, कष्टों से मुक्ति होगी। मानसिक मुक्ति, अर्थात्, अज्ञान से मुक्ति सत्ता में प्रकाशमय मन, अर्थात्, अतिमानसिक चेतना की प्रतिष्ठा करेगी जो अपने-आपको 'वाणी' की सर्जक शक्ति के रूप में प्रकट करेगी।

प्राणिक मुक्ति या इच्छा-कामना से मुक्ति व्यक्तिगत संकल्प को भागवत संकल्प के साथ पूरी तरह और सचेतन रूप में एक होने की क्षमता प्रदान करेगी और शांति,

धीरज और परिणामस्वरूप, शक्ति लायेगी।

अंत में, सबसे ऊपर मुकुट के रूप में आती है भौतिक मुक्ति या भौतिक कार्य-कारण के नियम से मुक्ति। तुम पूरी तरह अपने स्वामी होने के कारण प्रकृति के नियमों के दास नहीं रहते जिसके कारण तुम अवचेतन और अर्धचेतन प्रेरणाओं द्वारा चलाये जाते हो, जो तुम्हें साधारण जीवन की लीक से बांध देता है। इस मुक्ति के कारण तुम पूर्ण ज्ञान के साथ यह निश्चय कर सकते हो कि तुम कौन-सा मार्ग अपनाना चाहते हो, उस कार्य को चुन सकते हो जिसे तुम चरितार्थ करना चाहते हो, अपने-आपको अंध नियति से मुक्त कर सकते हो। अपने जीवन-पथ में उच्चतम संकल्प, सत्यतम ज्ञान और अतिमानसिक चेतना के सिवा किसी और को हस्तक्षेप न करने दो।

('बुलेटिन', अगस्त १९५३)

छोटे-बड़े विद्यार्थियों से

धरती के इतिहास में कुछ ऐसे संक्रांति काल आते हैं जब हजारों वर्षों से चली आयी चीजों को अपना स्थान ऐसी चीजों को देना पड़ता है जो अभिव्यक्त होने को हैं। ऐसे काल में विश्व चेतना विशेष रूप से केंद्रित होती है, या यूं कहा जा सकता है, उसके प्रयास में तीव्रता आती है जो, जिस प्रकार की प्रगति करनी है, जिस प्रकार का रूपांतर सिद्ध करना है उसके अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। हम विश्व इतिहास के ठीक ऐसे ही मोड़ पर हैं। जैसे प्रकृति धरती पर पहले ही एक मानसिक सत्ता को बना चुकी है, वैसे ही अब इस मन में अतिमानसिक चेतना और व्यक्तित्व लाने के लिये एकाग्र क्रिया हो रही है।

कुछ सत्ताएं, मैं यूं कह सकती हूं, देवताओं के रहस्य से परिचित हैं। उन्हें धरती के जीवन की इस घड़ी के महत्त्व के बारे में बतलाया गया है और उन्होंने जैसे हो सके वैसे अपनी भूमिका निभाने के लिये धरती पर जन्म लिया है। एक महान् ज्योतिर्मय चेतना पृथ्वी के ऊपर उठ रही है और उसने वातावरण में एक भंवर-सा पैदा कर दिया है। जो लोग खुले हैं उन सबको इस भंवर से एक लहर प्राप्त होती है, इस ज्योति से एक किरण मिलती है और हर एक अपनी क्षमता के अनुसार उसे रूप देने की कोशिश में है।

यहां हमें यह अनुपम सौभाग्य प्राप्त है कि हम विकिरणशील ज्योति के ठीक बीच में, रूपांतर की शक्ति के स्रोत में हैं।

श्रीअरविन्द ने मानव शरीर में अतिमानसिक चेतना को उतारा, उन्होंने हमें केवल पथ का स्वरूप ही नहीं दिखाया, लक्ष्य तक पहुंचने के लिये उसके अनुसरण का तरीका ही नहीं दिखाया, बल्कि अपनी निजी उपलब्धि के द्वारा हमारे आगे उदाहरण भी रखा है। हम कह सकते हैं कि उन्होंने यह प्रमाण दिया है कि यह किया जा सकता है और अब उसे करने का समय है।

अतः, हम यहां पर उसी को दोहराने के लिये नहीं हैं जिसे और लोग कर चुके हैं। हम यहां एक नयी चेतना और नये जीवन की अभिव्यक्ति के लिये अपने-आपको तैयार करने के लिये हैं। इसीलिये मैं तुमसे, विद्यार्थियों से, बात कर रही हूं, अर्थात्, उन सबसे जो सीखना चाहते हैं, अधिकाधिक सीखना चाहते हैं और ज्यादा अच्छा सीखना चाहते हैं, ताकि एक दिन तुम नयी शक्ति के प्रति खुल सको और उसकी भौतिक स्तर पर अभिव्यक्ति को संभव बना सको। क्योंकि यही हमारा कार्यक्रम है, तुम्हें यह न भूलना चाहिये। अगर तुम इसका सच्चा कारण जानना चाहो कि तुम यहां क्यों हो तो तुम्हें याद रखना चाहिये कि हमारा लक्ष्य है संसार में भागवत संकल्प को अभिव्यक्त करनेवाला, जहांतक हो सके, अधिक-से-अधिक पूर्ण यंत्र बनना। और, अगर यंत्र को पूर्ण बनना है तो तुम्हें उसे साधना होगा, शिक्षण और

प्रशिक्षण देना होगा। तुम उसे बंजर जमीन या अनगढ़ पत्थर की तरह नहीं छोड़ सकते। हीरा कलापूर्ण ढंग से तराशे जाने पर ही अपना पूरा सौंदर्य दिखाता है। तुम्हारे बारे में भी यही बात है। जब तुम यह चाहते हो कि तुम्हारी भौतिक सत्ता अतिमानसिक चेतना को अभिव्यक्त करनेवाला पूर्ण यंत्र बने तो तुम्हें उसे साधना होगा, आकार देना होगा, शुद्ध करना होगा और उसमें जो कमी हो उसे पूरा करना होगा और जो कुछ उसमें पहले से ही है उसे पूर्ण बनाना होगा। इसीलिये तुम कक्षा में आते हो, मेरे बच्चे, चाहे तुम बड़े हो या छोटे, क्योंकि व्यक्ति हर अवस्था में सीख सकता है—और इसलिये तुम्हें कक्षा में जाना होता है।

कभी-कभी जब तुम कुछ अनमने-से हो तो तुम कहते हो : "यह कक्षा कितनी उबाऊ होगी!" हां, हो सकता है कि कक्षा एक ऐसा अध्यापक लेता है जो तुम्हारा मनोरंजन करना नहीं जानता। वह एक अच्छा अध्यापक हो सकता है, फिर भी तुम्हारा मनोरंजन नहीं कर सकता, क्योंकि यह हमेशा आसान नहीं होता। ऐसे दिन होते हैं जब आदमी को मनोरंजन करने की इच्छा नहीं होती। तुम्हारे लिये और उसके लिये समान रूप से ऐसे दिन होते हैं जब तुम विद्यालय में रहने की जगह कहीं और रहना ज्यादा पसंद करोगे, फिर भी तुम कक्षा में जाते हो, तुम जाते हो क्योंकि जाना चाहिये, क्योंकि अगर तुम अपनी सब सनकों के अनुसार चलने लगो तो कभी अपने ऊपर अधिकार न पा सकोगे; तुम्हारी सनकें ही तुम्हें अपने वश में रखेंगी। इसलिये तुम कक्षा में जाते हो। परंतु यह सोचते हुए न जाओ: "ओह, कक्षा कितनी अरुचिकर और उबाऊ होगी," उसकी जगह यूं कहो : "जीवन में एक क्षण भी ऐसा नहीं होता, एक परिस्थिति भी ऐसी नहीं होती जो प्रगति का अवसर न हो। तो आज मैं कौन-सी प्रगति करनेवाला हूं ? आज मैं जिस कक्षा में जा रहा हूं, वहां जो विषय पढ़ाया जायेगा उसमें मुझे रस नहीं है। लेकिन शायद मेरे अंदर ही कुछ कमी है; शायद, मेरे मस्तिष्क के किसी कोने में, कुछ कोषाणुओं में विकार है। इसीलिये मुझे इस विषय में रस नहीं आता। अगर बात ऐसी है तो मैं कोशिश करूंगा, अच्छी तरह सुनूंगा, एकाग्र रहूंगा, और सबसे बढ़कर, अपने दिमाग से इस छिछोरेपन को निकाल बाहर करूंगा। यह ऊपरी हल्कापन ही इस बात के लिये जिम्मेदार है कि जब कोई बात मेरी पकड़ में नहीं आती तो मैं ऊब उठता हूं। मैं इसलिये ऊब उठता हूं क्योंकि मैं समझने का कोई प्रयास नहीं करता, मेरे अंदर प्रगति के लिये संकल्प नहीं है।" जब तुम प्रगति नहीं करते तब सभी को तो ऊब आती है, चाहे वह जवान हो या बूढ़ा, क्योंकि हम यहां धरती पर प्रगति करने के लिये हैं। अगर जीवन प्रगति न करता तो वह कितना थकानेवाला हो जाता! जीवन एकरस है, बहुधा सुखकर नहीं होता, वह सुंदर होने से बहुत दूर है। लेकिन अगर हम उसे प्रगति का क्षेत्र मान लें तो हर चीज बदल जाती है, हर चीज रुचिकर बन जाती है और ऊब के लिये कोई जगह ही नहीं रहती। अगली बार जब तुम्हें अपना अध्यापक थकानेवाला लगे तो कुछ न करने में

अपना समय बरबाद करने की जगह, यह समझने की कोशिश करो कि वह ऐसा क्यों है। अगर तुम्हारे अंदर अवलोकन की क्षमता है और अगर तुम समझने के लिये प्रयास करो तो तुम शीघ्र देखोगे कि कैसा चमत्कार हो गया, अब तुम्हें ऊब नहीं आ रही।

यह इलाज प्रायः सभी अवस्थाओं में अच्छा होता है। कभी-कभी किन्हीं विशेष प्रकार की परिस्थितियों में तुम्हें हर चीज उदास, थकानेवाली और मूर्खता-भरी लगती है। इसका अर्थ है कि स्वयं तुम भी वैसे ही थकानेवाले और नीरस हो जैसी तुम्हारी परिस्थितियां, यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि तुम प्रगतिशील अवस्था में नहीं हो। तुम्हारे ऊपर से ऊब और खिन्नता की एक लहर दौड़ गयी है। और इससे बढ़कर जीवन के उद्देश्य का विरोधी और नहीं है। ऐसे समय तुम प्रयास करके अपने-आपसे पूछ सकते हो : "यह खिन्नता इस बात का प्रमाण है कि मुझे कुछ सीखना है, अपने अंदर कोई प्रगति करनी है, किसी तमस् को जीतना है, किसी दुर्बलता पर विजय पानी है। खिन्नता या ऊब चेतना का चपटा हो जाना है; अगर तुम अपने अंदर ही उपचार ढूंढ़ो तो उसे तुरत गायब होते देखोगे। अधिक लोग ऊब की अवस्था में अपनी चेतना में एक कदम ऊपर उठने का प्रयास करने की जगह एक कदम नीचे आ जाते हैं। बल्कि जिस स्तर पर थे उससे भी नीचे उतर जाते हैं और अधिक-से-अधिक मूर्खता-भरी चीजें करते हैं। वे अपना मन बहलाने की आशा से एकदम भद्दी चीजें करते हैं। इसी तरह लोग पीना शुरू करते हैं, अपना स्वास्थ्य खराब कर लेते हैं और अपने मस्तिष्क को मृतप्राय बना देते हैं। अगर वह गिरने की जगह ऊपर उठे होते तो इस अवसर का लाभ उठाकर प्रगति कर लेते।

वास्तव में, यह बात उन सब परिस्थितियों में समान रूप से सच्ची है जब जीवन तुम्हें कोई करारी चोट पहुंचाता है, जिस चोट को मनुष्य "महाविपत्ति" कहता है। वह सबसे पहली चीज जो करना चाहते हैं वह है भुला देना, मानों वैसे ही वह बहुत जल्दी नहीं भूल जाते! और भूलने के लिये वह सब तरह की चीजें करते हैं। जब चीज बहुत कष्टदायक हो उठे तो उन्हें मनबहलाव की तलाश होती है, जिसे वह 'मनबहलाव' कहते हैं, यानी मूर्खता-भरी चीजें करते हैं और अपनी चेतना को ऊपर उठाने की जगह, और भी नीचे घसीटते हैं। अगर तुम्हें बहुत कष्टप्रद अनुभव हो रहा हो तो कभी अपने-आपको सुन्न करने की, भूल जाने की, निश्चेतना में उतरने की कोशिश न करो, बल्कि आगे बढ़ो, अपने दुःख के हृदय में पैठो। तुम वहां उस ज्योति, सत्य, शक्ति और आनंद को पाओगे जिन्हें पीड़ा छिपाती है। लेकिन उसके लिये तुम्हें दृढ़ होना चाहिये और नीचे फिसलने से इनकार करना चाहिये।

इस तरह तुम्हारे जीवन की सभी छोटी-बड़ी घटनाएं प्रगति का अवसर बन सकती हैं। अगर तुम उनसे लाभ उठाना जानो तो ब्योरे की नगण्य चीजें भी अंतःप्रकाश की ओर ले जा सकती हैं। जब कभी तुम किसी ऐसी चीज में लगे हो जो तुम्हारे पूरे-पूरे ध्यान की मांग नहीं करती तो अपनी अवलोकन-शक्ति को विकसित करने का लाभ

उठाओ। तुम देखोगे कि तुम मजेदार खोजें कर पाओगे। मैं क्या कह रही हूं यह समझाने के लिये मैं तुम्हें दो उदाहरण दूंगी। जीवन की दो छोटी-छोटी घटनाएं हैं जो अपने-आपमें कुछ भी नहीं हैं, पर फिर भी गहरी और स्थायी छाप छोड़ जाती हैं।

पहला उदाहरण है पैरिस की एक घटना का। तुम्हें इस महानगरी में टहलना है। सब जगह शोर है, दीखने में सब कुछ अस्त-व्यस्त है, एक चकरानेवाली हलचल है। अचानक तुम एक स्त्री को देखते हो जो तुम्हारे आगे-आगे चल रही है; वह अन्य अधिकतर औरतों जैसी ही है, उसके वेश में ऐसी कोई चीज नहीं जो ध्यान खींचे, लेकिन उसकी चाल अद्‌भुत है, लचीली, तालबद्ध, सुरुचिपूर्ण और समस्वर। तुम्हारा ध्यान खिंचता है और तुम उसकी प्रशंसा करते हो। फिर, इतने लालित्य के साथ चलता हुआ यह शरीर प्राचीन यूनान के वैभवों की और उसकी संस्कृति द्वारा समस्त संसार को दिये गये सुन्दरता के अनुपम पाठ की याद दिलाता है, और यह क्षण तुम्हारे लिये अविस्मरणीय हो उठता है—और यह सब एक ऐसी स्त्री के कारण जो चलना जानती थी!

दूसरा उदाहरण संसार के दूसरे छोर, जापान से है। तुम अभी इस देश में, जो इतना अधिक सुंदर है, काफी समय रहने के लिये आये-ही-आये हो। तुम्हें लगता है कि तुम यहां की भाषा का थोड़ा-बहुत परिचय न कर लो तो काम चलाना कठिन होगा। तुम जापानी भाषा सीखना शुरू करते हो और लोगों को बोलते हुए सुनने का कोई अवसर नहीं छोड़ते ताकि तुम उससे परिचित हो जाओ। उसी समय तुम ट्राम में, जिसमें तुम आकर बैठे हो, अपनी मां के साथ एक चार-पांच वर्ष के बच्चे को देखते हो। बच्चा शुद्ध स्पष्ट लहजे में बोलना शुरू करता है। तुम सुनते हो और तुम्हें यह अनोखा अनुभव होता है कि जिन बातों को तुम्हें बड़े प्रयास के साथ सीखना पड़ता है उन्हें वह बालक सहज रूप से जानता है, और जहांतक जापानी भाषा का संबंध है, अपनी छोटी अवस्था के बावजूद वह तुम्हारा अध्यापक हो सकता है।

इस तरह जीवन आश्चर्यपूर्ण बन जाता है और हर पग तुम्हें नया पाठ देता है। इस दृष्टि से देखा जाये तो जीवन सचमुच जीने योग्य है।

('बुलेटिन', नवम्बर १९५३)

भविष्यदृष्टि

भवितव्यता को पहले से जान लेना! कितनों ने इसके लिये प्रयास किया है, कितनी पद्धतियां बनी हैं, भविष्य-दर्शन की कितनी विद्याएं रची गयी हैं, विकसित की गयी हैं और फिर झूठी पंडिताई और अंधविश्वास के आरोप के साथ नष्ट हो गयी हैं! पर भवितव्यता को पहले से जान लेना हमेशा इतना कठिन क्यों रहा है ? जब कि यह साबित हो चुका है कि प्रत्येक चीज अनिवार्य रूप से पूर्व निर्दिष्ट है, तब क्या कारण है कि हम निश्चित रूप से नियति को जानने में सफल नहीं हो पाते ?

यहां भी समाधान योग में ही मिलता है। यौगिक साधना के द्वारा हम केवल अपनी भवितव्यता को पहले से जान ही नहीं सकते, बल्कि उसे बदल भी सकते हैं, प्रायः पूर्ण रूप से बदल सकते हैं। सबसे पहले, योग हमें यह सिखाता है कि हम एकमात्र सत्ता, एक सीधी-सादी चीज नहीं हैं, जिसकी केवल एक ही, सीधी-सादी और युक्तिसंगत भवितव्यता हो सकती है। हमें यह स्वीकार करना ही होगा कि अधिकतर मनुष्यों की भवितव्यता जटिल, बहुविध होती है। उसमें इतनी जटिलता होती है जो कभी-कभी असंगत अंडबंड अवस्था तक पहुंच जाती है। क्या यह जटिलता ही वह चीज नहीं है जो अप्रत्याशित और अनिर्दिष्ट की छाप देकर कहती है कि उसके बारे में पहले से कुछ नहीं जाना जा सकता ?

इस समस्या को हल करने के लिये हमें पहले यह जानना होगा कि सभी सजीव प्राणी, विशेषकर मनुष्य, कई सत्ताओं की समष्टि से बना है जो एक साथ दलबद्ध होती हैं, एक-दूसरी में प्रवेश करती हैं, कभी-कभी अपने-आपको संगठित करती और एक-दूसरे को पूर्ण बनाती हैं और फिर अन्य समयों में, एक-दूसरे का विरोध और खंडन करती हैं। इन सत्ताओं या सत्ता की अवस्थाओं में से प्रत्येक का अपना एक निजी लोक है और वह स्वयं अपने अंदर अपनी भवितव्यता को, अपनी नियति को वहन करती है। और इन सभी नियतियों का योगफल—जो कभी-कभी बड़ा ही बेढब होता है—वह चीज है जो व्यक्ति की भवितव्यता का निर्माण करता है। परंतु इन सभी सत्ताओं का संगठन और पारस्परिक संबंध व्यक्तिगत साधना और संकल्प-शक्ति के द्वारा बदला जा सकता है और नियति की विभिन्न धाराएं अलग-अलग ढंग से, चेतना की एकाग्रता के अनुसार एक-दूसरे पर कार्य करती हैं और इसलिये उनका सम्मिश्रण हमेशा बदलता रहता है, इसलिये उसके विषय में भविष्यवाणी करना संभव नहीं होता।

उदाहरणार्थ, किसी प्राणी की भौतिक या स्थूल भवितव्यता उसके पिता और माता के पूर्वजों से, उन बाह्य स्थूल अवस्थाओं, परिस्थितियों से आती है जिनमें वह जनमा होता है; अतएव हम पहले से ही जान सकते हैं कि उसके भौतिक जीवन की क्या-क्या विशेष घटनाएं होंगी, उसका स्वास्थ्य कैसा और शरीर की उम्र लगभग कितनी होगी। परंतु फिर आती है मैदान में उसकी प्राणमय सत्ता की रचना (कामना-वासना,

आवेग-उत्तेजना आदि के साथ-ही-साथ संचालन-शक्ति और सक्रिय संकल्प की सत्ता) जो अपने साथ अपनी निजी भवितव्यता भी ले आती है। यह भवितव्यता भौतिक भवितव्यता पर अपना प्रभाव डालती है और उसे पूर्ण रूप से बदल सकती है, यहांतक कि बहुत बार उसे अधिक बुरी अवस्था में पहुंचा देती है। उदाहरण के लिये मान लें कि एक आदमी बड़ी अच्छी भौतिक स्थिति के साथ पैदा हुआ है और उसे बहुत स्वस्थ जीवन बिताना चाहिये। अब यदि उसका प्राण-पुरुष उसे सब प्रकार की ज्यादतियों, बुरी आदतों, यहांतक कि पापकर्मों की ओर धकेल दे तो वह इस तरह अपनी अच्छी भवितव्यता को अंशतः नष्ट कर सकता है और स्वास्थ्य और बल-सामर्थ्य के सामंजस्य को खो सकता है जिसे उसने इस हानिकारक हस्तक्षेप के न होने पर अवश्य प्राप्त किया होता। यह केवल एक उदाहरण है। परंतु समस्या इससे बहुत अधिक जटिल है, क्योंकि भौतिक और प्राणिक भवितव्यता के साथ फिर आ जुटती हैं मानसिक भवितव्यता, आंतरात्मिक भवितव्यता और कितनी ही अन्य-अन्य भवितव्यताएं।

वास्तव में, कोई जीवन मनुष्य-श्रेणी में जितना ही ऊंचा खड़ा होता है उसकी सत्ता उतनी ही अधिक जटिल होती है, उतनी ही अधिक विविध होती है उसकी भवितव्यता। और इसलिये उसके भाग्य को पहले से जानना उतना ही अधिक कठिन होता है। पर, जो हो, यह सब केवल ऊपर से देखने में ही ऐसा है। जब सत्ता की इन विभिन्न स्थितियों का और उनसे संबंधित आंतर जगतों का ज्ञान प्राप्त होता है तब साथ-ही-साथ, उस ज्ञान के फलस्वरूप, इन विभिन्न भवितव्यताओं को, उनके पारस्परिक सम्मिश्रण को और उनके सम्मिलित या सर्वप्रधान कार्य को पहचानने की क्षमता भी आ जाती है। भवितव्यता की उच्चतर धाराएं स्पष्ट ही विश्व के केंद्रीय सत्य के बहुत समीप होती हैं, उससे मिलती-जुलती होती हैं और अगर उन्हें हस्तक्षेप करने दिया जाये, तो उनका कार्य निश्चय ही लाभदायी होता है। इस तरह जीवन-यापन करने की कला—सर्वोत्तम विधि—यह होगी कि हम अपने को हमेशा अपनी उच्चतम चेतना के अंदर बनाये रखें और इस तरह अपने जीवन और कार्य में अपनी उच्चतम भवितव्यता को ही अन्य भवितव्यताओं के ऊपर प्राधान्य स्थापित करने दें। इस तरह हम कह सकते हैं, और इसमें भूल होने का कोई डर नहीं, कि हमेशा अपनी चेतना के शिखर पर रहो और तब तुम्हारे लिये वही होगा जो अच्छे-से-अच्छा होगा। परंतु यह एक ऐसी चरम अवस्था है जिसे प्राप्त करना आसान नहीं है। परंतु, फिर भी, जबतक यह आदर्श अवस्था न उपलब्ध हो, तबतक प्रत्येक व्यक्ति कम-से-कम इतना तो कर ही सकता है कि जब कोई खतरा या संगीन अवस्था सामने आये तो वह अभीप्सा, प्रार्थना तथा भागवत इच्छा के प्रति विश्वासपूर्ण आत्म-दान के द्वारा अपनी उच्चतम भवितव्यता का आवाहन करे। ऐसा करने पर, व्यक्ति का आवाहन जितना सच्चा होता है उसी अनुपात में यह उच्चतर भवितव्यता व्यक्ति की सामान्य भवितव्यता में

अनुकूल हस्तक्षेप करती है, और घटना-चक्रों को, जहांतक उसका अपना व्यक्तिगत संबंध हो, एकदम परिवर्तित कर देती है। इसी तरह की घटनाएं हमारी बाह्य चेतना को चमत्कार, दिव्य हस्तक्षेप प्रतीत होती हैं।

('बुलेटिन', फरवरी १९५०)

रूपांतर

हम चाहते हैं सर्वांगीण रूपांतर, शरीर और उसके सभी क्रिया-कलापों का रूपांतर। परंतु इसका एक प्रथम पूर्ण रूप से अनिवार्य पग है : चेतना का रूपांतर जिसे और कोई चीज आरंभ करने से पहले पूरा करना होगा। यह कहने की जरूरत नहीं कि इस विषय में हमारी यात्रा का प्रारंभ-स्थल होगा इस रूपांतर की अभीप्सा और इसे सिद्ध करने का संकल्प; उसके बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता। परंतु अभीप्सा के साथ यदि एक प्रकार का आंतरिक उद्‌घाटन, एक प्रकार की ग्रहणशीलता भी आ जुटे तो व्यक्ति एक ही छलांग में इस रूपांतरित चेतना में प्रवेश कर सकता है और वहीं बना रह सकता है। कहा जा सकता है कि चेतना का यह परिवर्तन अकस्मात् होता है; जब होता है तो एकाएक हो जाता है, उसकी तैयारी भले ही बहुत धीरे-धीरे और दीर्घकाल से होती आयी हो। मैं यहां मानसिक दृष्टिकोण में होनेवाले किसी सामान्य परिवर्तन की बात नहीं कह रही, बल्कि स्वयं चेतना के परिवर्तन की बात कह रही हूं। यह एक प्रकार से पूर्ण और विशुद्ध परिवर्तन है, आधारभूत स्थिति में होनेवाली एक क्रांति है; यह प्रायः गेंद को भीतर से बाहर उलट देने के जैसी बात है। इस परिवर्तित चेतना में प्रत्येक चीज केवल नयी और भिन्न ही नहीं मालूम होती, बल्कि पहले साधारण चेतना को जैसी मालूम होती थी उससे प्रायः उलटी प्रतीत होती है। साधारण चेतना में तुम धीरे-धीरे चलते हो, एक-के-बाद-एक प्रयोग करते हुए चलते हो, अज्ञान से किसी सुदूर-स्थित और यहांतक कि, संदिग्ध ज्ञान की ओर जाते हो। पर रूपांतरित चेतना में तुम ज्ञान से आरंभ करते हो, और ज्ञान से ज्ञान की ओर अग्रसर होते हो। फिर भी, यह है आरंभ ही, क्योंकि बाहरी चेतना, बाहरी और क्रियाशील सत्ता के विभिन्न स्तर और अंश एक भीतरी रूपांतर के फलस्वरूप, धीरे-धीरे और क्रमशः ही रूपांतरित होते हैं।

वह वास्तव में चेतना का एक आंशिक परिवर्तन है जिसके कारण तुम उन सब चीजों में बिलकुल रस लेना छोड़ देते हो जो पहले वांछनीय लगती थीं; लेकिन यह तो केवल चेतना का एक परिवर्तन है, वह चीज नहीं है जिसे हम रूपांतर कहते हैं। क्योंकि रूपांतर तो एक मौलिक और निरपेक्ष वस्तु है; वह एक परिवर्तन मात्र नहीं है, बल्कि चेतना का एकदम उलट जाना है : मानो सारी सत्ता एक चक्कर खा गयी हो और एक और ही स्थिति में जा खड़ी हुई हो। इस उलटी हुई चेतना में हमारी सत्ता जीवन और वस्तुओं से ऊपर खड़ी होती है और वहां से उनके साथ व्यवहार करती है; वह केंद्र में होती है और वहीं से अपनी क्रिया बाहर की ओर चलाती है। जब कि साधारण चेतना में हमारी सत्ता बाहर और नीचे खड़ी रहती है : बाहर से वह केंद्र में आने के लिये प्रयास करती है, नीचे से वह अपने अज्ञान और अंधेपन के बोझ तले दबी हुई उनसे ऊपर उठने के लिये जी-तोड़ संघर्ष करती है। साधारण चेतना यह नहीं

जानती कि वास्तव में चीजें कैसी हैं; वह केवल ऊपरी छिलके को, कठोर आवरण को ही देखती है। परंतु सच्ची चेतना केंद्र में, सद्वस्तु के हृदय में रहती है और समस्त गतिविधि और क्रिया-कलाप के मूल को अपनी सीधी दृष्टि से देखती है। अंदर और ऊपर रहते हुए यह सभी वस्तुओं और शक्तियों के मूल उद्‌गम, कारण और परिणाम को जानती है।

मैं फिर दुहरा रही हूं, चेतना का यह पलटना आकस्मिक होता है। कोई चीज तुम्हारे अंदर खुल जाती है और तुम अपने को तुरत-फुरत एक नवीन जगत् में पाते हो। यह परिवर्तन आरंभ से ही संभव है कि अंतिम और सुनिश्चित न हो; इसे स्थायी रूप से जमने और तुम्हारा सामान्य स्वभाव बनने के लिये समय की आवश्यकता होती है। परंतु एक बार परिवर्तन हो जाये तो वह तत्त्वतः, सदा के लिये बना रहता है; और उसके बाद जिस चीज की जरूरत होती है वह है अपनी ठोस अभिव्यक्ति के लिये उसका पूर्ण ब्योरे के साथ कार्यान्वित होना। रूपांतरित चेतना की पहली अभिव्यक्ति हमेशा आकस्मिक प्रतीत होती है। तुम्हें यह नहीं लगता कि तुम धीरे-धीरे और क्रमशः एक चीज से दूसरी चीज में बदलते जा रहे हो; बल्कि यह अनुभव करते हो कि तुम एकाएक एक नयी चेतना में जाग्रत् हो गये हो या जन्म पा रहे हो। मन का कोई भी प्रयास यह परिवर्तन नहीं ला सकता; क्योंकि मन से तुम यह कल्पना ही नहीं कर सकते कि यह क्या चीज है और मन का कोई भी वर्णन यथार्थ नहीं हो सकता।

यही समस्त, सर्वांगीण रूपांतर का प्रारंभ है।

('बुलेटिन', अगस्त १९५०)

मृत्यु का भय और
उस पर विजय प्राप्त करने के चार साधन

सामान्यतः मानव-प्रगति को रोकनेवाली सबसे बड़ी बाधा शायद भय है; भय के रूप विविध तथा असंख्य होते हैं, वह अपने-आपमें विरोधयुक्त, तर्कहीन, अनुचित और प्रायः बुद्धि से विपरीत होता है। मृत्यु का भय सब प्रकार के भयों में सबसे अधिक सूक्ष्म और हठी होता है। उसकी जड़ें अचेतना तक में गहरी पैठी होती हैं और वहां से उन्हें उखाड़ फेंकना आसान नहीं होता। प्रत्यक्ष ही यह भय कई मिश्रित तत्त्वों से बना होता है; ये चीजें हैं, सुरक्षा की भावना, आत्म-रक्षा की चिंता जिसका भाव होता है कि चेतना का सूत्र लगातार सुनिश्चित रूप से चलता रहे, अज्ञात के प्रति घबराहट, अप्रत्याशित और अचिंत्य से उत्पन्न उद्वेग और शायद इस सबके पीछे कोषाणुओं की गहराई में छिपी हुई यह सहज-भावना काम करती है कि मृत्यु कोई ऐसी वस्तु नहीं जिससे बचा न जा सके और यह भी कि यदि कुछ शर्तें पूरी की जा सकें तो उस पर विजय प्राप्त की जा सकती है; यद्यपि यह सत्य है कि स्वयं भय ही इस विजय के मार्ग में एक भारी बाधा है। कारण, हम उसी पर विजय प्राप्त कर सकते हैं जिससे हम डरते नहीं, और जो मृत्यु से डरता है वह पहले से ही मृत्यु के द्वारा विजित हो चुका है।

इस भय से कैसे छुटकारा पाया जाये ? इसके लिये कई तरीके काम में लाये जा सकते हैं। किंतु अपने इस प्रयास के प्रारंभ में ही कुछ सहायक मूलभूत विचारों को जान लेना आवश्यक है। पहली और अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात यह जान लेना है कि जीवन अविभाज्य और अमर है, बस, उसके रूप अनगिनत होते हैं और वे रूप ही क्षणिक तथा नाशवान् होते हैं। यह ज्ञान व्यक्ति को अपने मन में निश्चित और स्थायी रूप से जमा लेना चाहिये और यथासंभव अपनी चेतना को उस नित्य जीवन के साथ एकात्म कर लेना चाहिये जो सब रूपों से स्वतंत्र है, पर फिर भी अपने-आपको सब रूपों में अभिव्यक्त करता है। इससे हमें यह आवश्यक मनोवैज्ञानिक आधार मिल जाता है जहां से समस्या का सामना किया जा सकता है, क्योंकि समस्या तो है ही न ! आंतरिक सत्ता यदि इतनी पर्याप्त मात्रा में आलोकित हो भी जाये कि वह सब भयों से ऊपर उठ जाये, तो भी शरीर के कोषाणुओं में भय छिपा ही रहेगा, अस्पष्ट और स्वतःचालित रूप में, बुद्धि की पकड़ से परे, प्रायः निश्चेतन-सा। इन्हीं अंधेरी गहराइयों में से उसे ढूंढ निकालना होगा, पकड़ना होगा और उस पर चेतना तथा विश्वास का प्रकाश डालना होगा।

इसलिये, जीवन का नाश तो नहीं होता, रूप अवश्य विघटित हो जाता है और शारीरिक चेतना इसी विघटन से भय खाती है। फिर भी, रूप लगातार परिवर्तित होते

रहते हैं और कोई भी वस्तु इस परिवर्तन को प्रगतिशील होने से नहीं रोक सकती। यह प्रगतिशील परिवर्तन ही इस बात को संभव कर सकता है कि मृत्यु अनिवार्य न हो। पर यह कार्य है कठिन, और इसकी शर्तें बहुत कम लोग पूरी कर सकते हैं। इस प्रकार मृत्यु के भय पर विजय प्राप्त करने की विधि व्यक्ति के स्वरूप या उसकी चेतना की अवस्थाओं के अनुसार, भिन्न-भिन्न होगी। इन विधियों को चार प्रमुख श्रेणियों में बांट सकते हैं और प्रत्येक श्रेणी में अनेक भेद-विभेद भी होंगे; सच तो यह है कि प्रत्येक को ही अपनी प्रणाली अपने-आप विकसित करनी होगी।

पहली विधि बुद्धि से संबंध रखती है। यह कहा जा सकता है कि संसार की वर्तमान अवस्था में मृत्यु अनिवार्य है; प्रत्येक शरीर जो जन्म लेता है, एक-न-एक दिन अवश्य ही मृत्यु को प्राप्त होगा, और करीब-करीब सभी की मृत्यु तभी आती है जब उसे आना होता है; उसकी घड़ी को न कोई टाल सकता है और न कोई जल्दी ही ला सकता है। जो उसका आना चाहता है उसे कभी-कभी बहुत लंबे समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है और जो उससे डरता है वह, सब सावधानियां बरतते हुए भी, अचानक उसका ग्रास बन जा सकता है। मृत्यु की घड़ी अटल रूप में नियत की हुई प्रतीत होती है, इसके अपवाद बहुत थोड़े-से ही लोग होते हैं जिनमें वे शक्तियां होती हैं जो कि साधारण मानव जाति में नहीं पायी जातीं। तर्क-बुद्धि यह सिखाती है कि जिस चीज से बचा नहीं जा सकता उससे डरना मूर्खता है। उपाय एक ही है, वह यह कि इस तथ्य को स्वीकार कर लिया जाये और दिन-प्रतिदिन, क्षण-प्रतिक्षण मनुष्य वही करे जो अच्छे-से-अच्छा कर सकता है और इसकी चिंता न करे कि आगे क्या होगा। यह प्रक्रिया उन बुद्धिवादियों के लिये अत्यंत फलदायी होती है जो तर्क-बुद्धि के नियमों के अनुसार काम करते हैं; किंतु जो भावुक लोग अपनी भावनाओं में निवास करते हैं और उन्हीं के द्वारा संचालित होते हैं, उनमें यह कम फलप्रद सिद्ध होगी। निःसंदेह, इन लोगों को दूसरी विधि अपनानी चाहिये, वह है आंतरिक खोज की। सब भावों से परे, हमारी सत्ता की नीरव और शांत गहराइयों में एक प्रकाश सदा प्रज्ज्वलित रहता है, यह अंतरात्मा की चेतना का प्रकाश है। इस प्रकाश को खोजो, इस पर एकाग्र होओ; यह तुम्हारे अंदर ही है। दृढ़ संकल्प के द्वारा तुम निश्चय ही यह प्रकाश पाओगे और ज्यों ही तुम उसमें प्रवेश पाओगे, त्यों ही तुम अमरता की अवस्था के प्रति जाग्रत् हो जाओगे। तुम अनुभव करोगे कि तुम सदा ही जीवित रहे हो और सदा ही जीवित रहोगे; उस अवस्था में तुम अपने शरीर से पूर्णतया स्वतंत्र हो जाते हो; तुम्हारा चेतन अस्तित्व उस पर आश्रित नहीं रहता; और यह शरीर तो बहुत-से नाशवान् रूपों में से एक है जिनके द्वारा तुमने अपने-आपको अभिव्यक्त किया है। तब मृत्यु विनाश की अवस्था नहीं रहती, वह केवल एक संक्रमण की अवस्था हो जाती है। तत्काल ही समस्त भय भाग जाता है और तुम मुक्त पुरुष की शांत निश्चलता के साथ जीवन में आगे बढ़ते हो।

तीसरी विधि उन लोगों के लिये है जो एक दिव्य अस्तित्व में—जिसे वे अपना भगवान् कहते हैं—श्रद्धा रखते हैं और जिसे वे अपने-आपको उसे समर्पित कर चुके होते हैं। ये लोग पूर्णतया उसी के होते हैं; उनके जीवन की सभी घटनाएं भागवत इच्छा की अभिव्यक्ति होती हैं, इन घटनाओं को वे केवल एक शांत समर्पण-भाव से ही नहीं, बल्कि कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करते हैं, कारण, उन्हें यह विश्वास रहता है कि जो कुछ भी उनके साथ घटता है वह सदा ही उनके भले के लिये होता है। उन्हें अपने भगवान् में तथा उसके साथ अपने वैयक्तिक संबंध में एक प्रकार का गुह्य विश्वास होता है। उन्होंने अपनी इच्छा पूर्ण रूप से भगवान् की इच्छा को अर्पित कर दी होती है और वे उसके अटल प्रेम और संरक्षण को अनुभव करते हैं, जीवन और मृत्यु की आकस्मिक घटना का उस प्रेम और विश्वास पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनके अंदर सदा यह अनुभूति रहती है कि वे पूर्ण आत्म-समर्पण के साथ अपने प्रियतम के चरणों में प्रणत हैं अथवा उसकी बांहों में आश्रय लिये हुए हैं और वहां पूर्ण सुरक्षा अनुभव कर रहे हैं। उनकी चेतना में भय, चिंता या दुःख के लिये जरा भी स्थान नहीं होता; इस सबका स्थान एक शांत और हर्षपूर्ण आनंद ले लेता है।

किंतु प्रत्येक को गुह्यवेत्ता बनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता।

अंत में, कुछ लोग जन्मजात योद्धा होते हैं; जीवन जैसा है उसे वे स्वीकार नहीं कर सकते, अपने अंदर वे एक अमरता के अधिकार का, इस धरती पर ही पूर्ण अमरता के अधिकार का स्पंदन अनुभव करते हैं। उनके अंदर एक प्रकार का सहज-ज्ञान होता है कि मृत्यु बस, एक बुरी आदत है और ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने उसपर विजय प्राप्त करने का निश्चय लेकर जन्म लिया है। इस पर विजय का अर्थ होता है भयंकर और सूक्ष्म आक्रमणकारियों की सेना के विरुद्ध घोर युद्ध, ऐसा युद्ध जो सदा ही, यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक क्षण ही, लड़ना पड़े। इस मोर्चे पर आने का खतरा उसी को उठाना चाहिये जिसमें इसके लिये अदम्य उत्साह हो। इस युद्ध के कई मोर्चे हैं; यह कई स्तरों पर होता है जो आपस में एक-दूसरे से मिले-जुले-से तथा एक-दूसरे के पूरक होते हैं।

पहला मोर्चा ही काफी भीषण होता है। वह एक सामूहिक मन का युद्ध होता है, एक विशाल तथा अभिभूत और विनाश कर देनेवाले सुझाव के विरुद्ध, ऐसे सुझाव के विरुद्ध जो सहस्रों वर्षों के अनुभव पर आधारित है, प्रकृति के एक ऐसे नियम पर आधारित है जिसका अभीतक कोई अपवाद देखने में नहीं आता। वह एक ऐसी हठीली मान्यता का रूप धारण कर लेता है : "सदा ही ऐसा होता रहा है, इससे भिन्न कुछ हो ही नहीं सकता। मृत्यु अनिवार्य है, और यह आशा करना पागलपन है कि मृत्यु अनिवार्य नहीं होगी।" यह राय सर्वसम्मत है और अभी तक तो किसी बड़े-से-बड़े विद्वान् ने भी इसके विरुद्ध अपनी आवाज उठाने का, भविष्य में आशा देने का जरा भी साहस नहीं किया है। और जहांतक धर्मों की बात है, अधिकतर धर्मों ने तो मृत्यु

के तथ्य को ही अपनी कार्य-शक्ति का आधार बनाया है और वे कहते हैं कि यह भगवान् की इच्छा है कि मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो, क्योंकि उसीने उसे नश्वर बनाया है। इनमें से बहुत-से तो मृत्यु को उद्धार, मुक्ति और कभी-कभी तो पुरस्कार का रूप भी दे देते हैं। वे यह उपदेश देते हैं : 'सर्वोच्च' की इच्छा के आगे नत होकर मृत्यु के विचार को बिना किसी विद्रोह के स्वीकार करो, और तुम्हें शांति और सुख मिलेगा। यह सब होते हुए भी, मन को अपने विश्वास में अटल रहना होगा, अपना संकल्प अटूट बनाये रखना होगा। किंतु जिसने मृत्यु पर विजय पाने का संकल्प कर लिया है उसपर ये सब सुझाव कोई प्रभाव नहीं डालते, उसकी निश्चयता एक गहरे प्रत्यक्ष ज्ञान पर आधारित होती है और उस निश्चयता को ये सुझाव छू नहीं सकते।

दूसरा युद्ध होता है भावों का, यह उस आसक्ति के विरुद्ध युद्ध है जो उसकी अपनी बनायी हुई वस्तुओं के प्रति, अपनी प्रिय वस्तुओं के प्रति होती है। कठिन परिश्रम के परिणामस्वरूप, कभी-कभी तो कठोर प्रयत्न के फलस्वरूप, तुमने अपना घर बनाया होता है, अपना जीवन निर्माण किया होता है, अपना सामाजिक, साहित्यिक, कलात्मक, वैज्ञानिक या राजनीतिक कार्य निश्चित किया होता है, तुमने एक ऐसे वातावरण की सृष्टि कर ली होती है जिसके तुम मध्यबिंदु होते हो और जिसपर तुम कम-से-कम उतना ही आश्रित होते हो जितना कि वह तुमपर होती है। तुम व्यक्तियों के एक बड़े समूह द्वारा, कुटुम्बियों, मित्रों और सहकर्मियों द्वारा घिरे रहते हो और जब तुम अपने जीवन के विषय में सोचते हो ये सब तुम्हारी विचार-धारा में उतना ही स्थान ग्रहण किये होते हैं जितना कि प्रायः तुम स्वयं ग्रहण किये होते हो; यहांतक कि यदि ये अचानक तुमसे दूर हटा दिये जायें तो तुम अपने-आपको खोया-खोया-सा अनुभव करने लगोगे मानों तुम्हारी अपनी सत्ता का एक बहुत महत्त्वपूर्ण भाग गायब हो गया हो।

इन सब वस्तुओं का त्याग करने का प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि इनसे, प्रायः अधिकांश में, तुम्हारी सत्ता के धरातल का, तुम्हारे अस्तित्व के लक्ष्य का निर्माण होता है। किंतु त्याग करना है इनके प्रति अपनी आसक्ति का ताकि तुम इनके बिना रहने में समर्थ अनुभव कर सको, बल्कि, यदि ये तुम्हें छोड़ दें तो तुम अपने लिये नयी परिस्थितियों में और अनिश्चित समय के लिये नया जीवन फिर से बनाने के लिये तैयार रह सको, क्योंकि यही अमरता का परिणाम है। इस अवस्था का अर्थ होता है सब कुछ अधिकतम ध्यान तथा सावधानी से व्यवस्थित और संपन्न कर सकना, किंतु साथ ही कामना और आसक्तिमात्र से मुक्त रहना; कारण, यदि तुम मृत्यु से बचना चाहते हो तो तुम्हें किसी भी नश्वर वस्तु से बंधना नहीं चाहिये।

भावनाओं के बाद संवेदन आते हैं। यहां लड़ाई निर्मम होती है और शत्रु भयंकर हो जाते हैं। वे तुम्हारी छोटी-से-छोटी दुर्बलता भी देख लेते हैं और वहीं आघात करते हैं जहां तुम असावधान होते हो। यहां विजय अस्थायी होती और वही लड़ाई अनिश्चित

रूप से और बार-बार लड़नी पड़ती है। जिस शत्रु को तुम हारा हुआ समझते हो वह बार-बार तुम पर चोट करने के लिये उठ खड़ा होता है। यहां दृढ़ रूप में सधे हुए चरित्र की, अथक सहनशीलता की आवश्यकता होती है ताकि समस्त पराजय, निराशा, अस्वीकृति और निरुत्साह का तथा नित्यप्रति के अनुभवों और पार्थिव घटनाओं के परस्पर-विरोध से उत्पन्न अपरिमित क्लांति का सामना किया जा सके।

अब हम सबसे अधिक भयंकर युद्ध पर आते हैं, यह है भौतिक युद्ध जो शरीर में लड़ा जाता है; क्योंकि यह बिना दम लिये; बिना विराम के चलता रहता है। यह जन्म के साथ शुरू होता है और दोनों योद्धाओं—रूपांतर की शक्ति और विलयन की शक्ति—में से किसी एक की पराजय के साथ ही समाप्त हो सकता है। मैंने जन्म से कहा, क्योंकि ये दोनों गतियां उसी क्षण से संघर्षरत होती हैं जिस क्षण मनुष्य संसार में आता है, यद्यपि संघर्ष सचेतन और सुविवेचित रूप बहुत बाद में लेता है। क्योंकि हर अस्वस्थता, हर रोग, हर विकृति, यहां तक कि दुर्घटनाएं भी विलयन की शक्ति का परिणाम हैं, उसी तरह विकास, सामंजस्यपूर्ण विकास, आक्रमण का प्रतिरोध, रोग-मुक्ति, हर स्वाभाविक क्रिया की ओर लौटना, हर प्रगतिशील सुधार आदि रूपांतर की शक्ति की क्रिया का परिणाम हैं। बाद में चलकर, चेतना के विकास के साथ, जब युद्ध सुविवेचित हो जाता है, तब यह दो परस्पर-विरोधी गतिविधियों के बीच एक प्रचण्ड प्रतियोगिता होती है, यह देखने के लिये प्रतियोगिता होती है कि देखें, लक्ष्य तक कौन पहले पहुंचता है, मृत्यु या रूपांतर। इसका अर्थ है एक अंतहीन प्रयास, एक पुनरुद्धारक शक्ति का आवाहन करने के लिये सतत एकाग्रता और इस शक्ति के प्रति कोषाणुओं में ग्रहणशीलता की वृद्धि। ह्रास और विनाश की शक्तियों के विरुद्ध पग-पग पर, एक-एक बिंदु पर युद्ध करना और हर उस चीज को जो प्रकाश देनेवाली, शुद्ध करनेवाली और स्थिर करनेवाली ऊपर उठती हुई प्रवृत्ति को प्रत्युत्तर देने की क्षमता रखती है, ऐसी हर चीज को उसकी पकड़ से छीन लेना। यह एक अंधकारपूर्ण और हठी संघर्ष है जिसका अधिकतर कोई प्रत्यक्ष परिणाम नहीं दिखायी देता, किन्हीं आंशिक और सदा अनिश्चित विजयों का कोई बाहरी चिह्न नहीं दिखायी देता—क्योंकि हमेशा यही लगता है कि जो काम किया गया है उसे दोबारा करना होगा। बहुधा, जब एक पग आगे बढ़ता है तो उसके लिये कहीं और पीछे हटना होता है। एक दिन जो काम पूरा हो जाता है दूसरे दिन उसी को उधेड़ा जा सकता है। वस्तुतः, निश्चित और स्थायी विजय तभी हो सकती है जब वह संपूर्ण हो और इस सबमें समय लगता है, बहुत समय। वर्ष-पर-वर्ष बड़ी कठोरता के साथ चलते चले जाते हैं और विरोधी शक्तियों का बल बढ़ाते जाते हैं।

इस सारे समय चेतना खाई में संतरी की तरह खड़ी रहती है: तुम्हें डटे रहना चाहिये, हर कीमत पर डटे रहना चाहिये, भय के कंपन के बिना, जागरूकता में कमी लाये बिना, जो लक्ष्य सिद्ध करना है उस पर, और ऊपर से आनेवाली प्रेरणा और

सहारा देनेवाली सहायता पर अटल श्रद्धा के साथ डटे रहना चाहिये। विजय सबसे अधिक सहनशील को ही मिलेगी।

मृत्यु के भय पर विजय पाने का एक और भी तरीका है, लेकिन वहांतक इतने कम लोगों की पहुंच है कि यहां उसका उल्लेख केवल एक सूचना के रूप में किया जाता है। वह है जानबूझकर और सचेतन रूप से मृत्यु के क्षेत्र में जीते जी प्रवेश करना, और फिर उस लोक से लौटकर भौतिक शरीर में वापिस आना, और पूर्ण ज्ञान के साथ भौतिक सत्ता के जीवन-क्रम को फिर से अपना लेना। लेकिन इसके लिये तुम्हें दीक्षित होना चाहिये।

('बुलेटिन', फरवरी १९५४)

'मृत्यु के भय पर विजय प्राप्त करने के चार साधन'-विषयक लेख के अंतिम अनुच्छेद पर किये गये

प्रश्नों का उत्तर

जो भी प्रश्न किये गये हैं वे सब इस एक ही प्रश्न में ढाले जा सकते हैं : वह कौन-सा ज्ञान है या अनुशासन है जो निर्भयतापूर्वक मृत्यु का सामना करने की सामर्थ्य प्रदान करता है ?

अभी तक यहां ज्ञान की इस प्रणाली के विषय में, जो साथ-ही-साथ कार्य की प्रणाली भी है, कुछ नहीं कहा गया है, क्योंकि इस ज्ञान का अध्ययन तथा अभ्यास सबके हाथों में नहीं सौंपा जा सकता। गुह्य शक्तियों के बारे में बात करने का अधिक मूल्य नहीं है; मनुष्य को उन्हें अनुभव में लाना चाहिये। और यह अनुभव केवल उन क्षमताओं की ही मांग नहीं करता जो केवल बहुत कम लोगों को प्राप्त हैं, वरन् उस मनोवैज्ञानिक विकास की भी मांग करता है जिसे बहुत कम लोग प्राप्त कर सकते हैं। आधुनिक जगत् में यह ज्ञान कदाचित् ही वैज्ञानिक माना जाता है, फिर भी यह वैज्ञानिक है, क्योंकि यह उन सब शर्तों को पूरा करता है जो सामान्यतः विज्ञान में आवश्यक मानी जाती हैं। यह ज्ञान की एक ऐसी पद्धति है जो कुछ सिद्धांतों के अनुसार व्यवस्थित की गयी है; यह कुछ यथार्थ क्रियाओं का अनुसरण करती है और व्यक्ति समान अवस्थाओं में समान ही परिणाम प्राप्त करता है। साथ ही, यह एक विकसनशील ज्ञान है। मनुष्य इसके अध्ययन में जुट सकता है और इसे नियमित और युक्तिपूर्ण ढंग से विकसित भी कर सकता है, बिलकुल उन दूसरे विज्ञानों की तरह, जिन्हें आज का संसार विज्ञान मानता है। केवल एक भेद है कि यह अध्ययन उन वास्तविकताओं के साथ संबंध रखता है जो अत्यधिक भौतिक संसार की वस्तुएं नहीं हैं। यदि तुम यह ज्ञान सीखना चाहते हो तो तुम्हारे पास विशेष इंद्रियां होनी चाहिये। क्योंकि इसके क्षेत्र साधारण इंद्रियों से परे हैं। ये विशेष इंद्रियां मनुष्य के अंदर सुप्तावस्था में विद्यमान हैं। जिस प्रकार हमारा एक भौतिक शरीर है, उसी प्रकार अन्य सूक्ष्मतर शरीर भी हैं और इनकी भी अपनी इंद्रियां हैं; ये इंद्रियां हमारी भौतिक इंद्रियों से कहीं अधिक सूक्ष्म, यथार्थ तथा शक्तिशाली हैं। क्योंकि हमारी शिक्षा इस क्षेत्र के साथ संबंध रखने की अभ्यस्त नहीं है, स्वभावतः ही ये इंद्रियां साधारणतया विकसित नहीं होतीं और जिन जगतों में ये कार्य करती हैं वे हमारी सामान्य चेतना की पहुंच से परे हैं। पर बच्चे, सहज-स्वाभाविक रूप में ही, अधिकतर इसी जगत् में निवास करते हैं, वे वहां उन सब प्रकार की वस्तुओं को देखते हैं जो उनके लिये भौतिक वस्तुओं के समान ही वास्तविक हैं; वे उनके विषय में बातें भी करते हैं, किंतु उनसे प्रायः यही कहा जाता है कि वे मूर्ख अथवा झूठे हैं, कारण, वे उन विषयों के

बारे में बातें करते हैं जिनका दूसरों को कुछ अनुभव नहीं, पर जो उनके अपने लिये उतने ही सच्चे, गोचर और वास्तविक हैं जितनी कोई और चीज जिसे सब देख सकते हैं। बच्चे, सोते या जागते हुए जो स्वप्न देखते हैं वे भी बड़े सजीव होते हैं और उनके जीवन के लिये अत्यंत महत्त्व रखते हैं। अत्यधिक मानसिक विकास के बाद ही ये शक्तियां बच्चों में मंद पड़ जाती हैं तथा कभी-कभी विलीन होकर समाप्त भी हो जाती हैं। फिर भी कुछ ऐसे सौभाग्यशाली लोग भी हैं जो सहज रूप में विकसित आंतरिक इंद्रियों के साथ ही जन्मे हैं, और इस बात का कोई कारण नहीं कि ये इंद्रियां जाग्रत् न रहें या विकसित न हों। यदि उन लोगों की, ठीक समय पर, किसी ऐसे मनुष्य के साथ भेंट हो जाये जिसे यह ज्ञान प्राप्त है और जो उनकी सूक्ष्म इंद्रियों की विधिवत् शिक्षा में उन्हें सहायता पहुंचा सके, तो वे गुह्य जगतों के अध्ययन और खोजों के लिये रोचक यंत्र बन सकते हैं।

सभी युगों में, पृथ्वी पर कुछ ऐसे इक्के-दुक्के व्यक्ति या छोटे समुदाय हुए हैं जो अति प्राचीन परंपरा के रक्षक थे तथा जिन्होंने अपने अनुभवों द्वारा उस परंपरा की पुष्टि की थी; ये इस प्रकार के विज्ञान का अभ्यास भी किया करते थे। वे ऐसी आत्माओं को खोजते थे जिन्हें विशेष रूप से यह शक्ति प्राप्त हो, और उन्हें आवश्यक शिक्षा देते थे। साधारणतया ये समुदाय थोड़ा-बहुत गुप्त या रहस्यमय जीवन व्यतीत करते थे, क्योंकि साधारण लोग इस प्रकार की क्षमताओं और क्रियाओं के प्रति बहुत असहिष्णु होते हैं, ये उनकी बुद्धि से परे की चीजें होती हैं तथा उन्हें भयभीत कर देती हैं। तब भी मानव इतिहास में ऐसे महान् युग हुए हैं जब इस विद्या की दीक्षा देनेवाली संस्थाएं स्थापित हुईं और उन्हें मान्यता भी मिली; लोग उन्हें उपयोगी समझते तथा उनका मान करते थे। इस प्रकार की संस्थाएं प्राचीन मिस्र देश, प्राचीन कैल्डिया और भारतवर्ष में तथा आंशिक रूप में यूनान और रोम में भी थीं; मध्यकालीन यूरोप में भी ऐसे विद्यालय थे जो गुह्यविद्या की शिक्षा देते थे; किंतु इन्हें बड़ी सावधानी से अपने-आपको गुप्त रखना पड़ता था, क्योंकि ईसाई धर्म, जो कि राजधर्म था, इनका पीछा करता तथा इन्हें दंडित करता था। और यदि दुर्भाग्यवश यह पता लग जाता कि कोई स्त्री या पुरुष इस गुह्यविद्या का अभ्यास करता है तो वह चिता पर चढ़ा दिया जाता था और उसे जादूगर समझकर जीवित जला दिया जाता था। अब यह ज्ञान लुप्तप्राय हो गया है; बहुत ही कम लोग अब इस विद्या को जानते हैं। किंतु ज्ञान के साथ-साथ, असहिष्णुता भी चली गयी है। यह सत्य है कि हमारे समय में अधिकतर शिक्षित लोग इस विद्या को स्वीकार करना नहीं चाहते या इसे कोरी कल्पना कहकर दबा देते हैं, यहांतक कि, इसे ढोंग समझते हैं, ताकि वे अपने अज्ञान और अपनी उस व्याकुलता को अपने से छुपा सकें जो वे अनुभव करते यदि उन्हें एक ऐसी शक्ति की वास्तविकता को स्वीकार करना पड़ता जिसके ऊपर उनका कोई वश नहीं है। साथ ही उन लोगों में भी जो उसे अस्वीकार नहीं करते, अधिकतर को ऐसी चीजों से कोई

विशेष प्रेम नहीं होता; ये उन्हें उलझन और चिंता में डाल देती हैं। किंतु अंत में उन्हें यह मानना पड़ा कि यह कोई अपराध नहीं है। जो लोग गुह्यविद्या का अभ्यास करते हैं वे अब चिता पर नहीं चढ़ाये जाते और न ही बंदीगृह में डाले जाते हैं। केवल एक बात है कि अब, चूंकि छुपाने की आवश्यकता नहीं रही, बहुत-से लोग दावा करने लगे हैं कि यह ज्ञान उन्हें प्राप्त है, किंतु ऐसे बहुत कम लोग हैं जो इसे सचमुच जानते हों। उस रहस्य से लाभ उठाकर, जो पहले गुह्यविद्या को आच्छादित किये हुए था, कुछ महत्त्वाकांक्षी लोग, जिन्हें सत्य असत्य की कोई चिंता नहीं होती, रहस्यीकरण और ठगी के साधन के रूप में इसका प्रयोग करने लगे हैं। किंतु उन्हें देखकर ही इस विद्या के विषय में अपना विचार बना लेना उचित नहीं, क्योंकि वे तो इसे जानने का झूठा दावा करते हैं। मानव कार्य-व्यवहार के सभी क्षेत्रों में नीम-हकीम तथा ठग विद्यमान हैं; किंतु उनके पाखंड को एक ऐसी सच्ची विद्या पर लांछन नहीं लगाना चाहिये जिसके प्राप्त होने का वे झूठा अभिमान करते हैं। इसी कारण, इस विद्या की उन्नति के महान् युगों में, जब ऐसे विद्यालय विद्यमान थे और जहां इसका अभ्यास होता था, जो कोई इस विद्या को सीखना चाहता था उसे प्रविष्ट होने से पहले बहुत लंबे समय तक, कभी-कभी तो वर्षों तक, अत्यंत कठोर, दोहरे अनुशासन, अर्थात्, आत्म-विकास तथा आत्म-संयम का अनुसरण करना पड़ता था। एक ओर तो अभीप्सु के आशयों की सच्चाई तथा निःस्वार्थता, उसके उद्देश्यों की पवित्रता, आत्म-विस्मृति और अहंनिषेध की उसकी योग्यता, त्याग की भावना तथा निरहंकारता के संबंध में यथासंभव निश्चय प्राप्त किया जाता था,—इस प्रकार उसकी अभीप्सा की उच्चता तथा श्रेष्ठता प्रमाणित हो जाती थी,—और दूसरी ओर प्रार्थी को कई परीक्षाओं में से गुजरना पड़ता था जिसका उद्देश्य यह निश्चित करना होता था कि क्या उसकी क्षमताएं पर्याप्त हैं और वह उस विद्या का अभ्यास, जिसके लिये वह अपने-आपको समर्पित करना चाहता है, बिना किसी खतरे के कर सकता है ? ये परीक्षाएं विशेषतया व्यक्ति की लालसाओं और कामनाओं पर संयम, एक अचल शांति की स्थापना और सबसे बढ़कर पूर्ण निर्भयता पर आग्रह करती थीं, क्योंकि इस कार्य में पूर्ण निर्भयता सुरक्षा की आवश्यक शर्त है।

गुह्यविद्या, अपने एक पक्ष में, एक प्रकार की रसायनविद्या है जो आंतरिक विस्तार में शक्तियों की क्रीड़ा तथा जगतों एवं वैयक्तिक आकारों की रचना में प्रयुक्त की जाती है। और जिस प्रकार भौतिक रसायनविद्या में विशेष पदार्थों का व्यवहार खतरे से खाली नहीं है, उसी प्रकार गुह्य जगतों में भी कुछ विशेष शक्तियों का प्रयोग करने तथा उनसे संपर्क रखने में खतरा है, यह तभी अहानिकर हो सकता है जब व्यक्ति शांत और अविचल रह सके।

एक अन्य पक्ष से देखें तो गुह्य विद्या एक अन्वेषक के लिये अज्ञात प्रदेशों की खोज तथा अनुसंधान के समान है जिनके नियम तथा विधि-विधान वह प्रायः कष्ट

उठाकर ही सीखता है। कुछ प्रदेश तो नये जिज्ञासु के लिये काफी भयावह भी होते हैं, वह अपने-आपको नये और अदृष्ट संकटों से घिरा पाता है। फिर भी, उनमें से अधिकतर संकट उतने सत्य नहीं हैं जितने काल्पनिक, और जो लोग उनका सामना निडरता से करते हैं उनके लिये वे अपनी अधिकांश वास्तविकता खो देते हैं।

प्रत्येक अवस्था में, सभी युगों में, यह परामर्श दिया जाता रहा है कि किसी ऐसे गुरु से शिक्षा लेनी चाहिये जो अनुसरणीय पथ दिखा सके, संकटों से सावधान कर सके, चाहे वे काल्पनिक हों या नहीं, और समय पड़ने पर रक्षा कर सके।

इसलिये यहां इस विद्या की कुछ और बारीकियों के विषय में कहना कठिन है, सिवाय इसके कि गुह्यविद्या के अध्ययन का अनिवार्य आधार सत्ता की अनेक अवस्थाओं तथा आंतरिक जगतों के मूर्त एवं गोचर सत्य की स्वीकृति है, जो चार या अनेक आयामोंवाले व्योमों के सिद्धांत का मनोवैज्ञानिक प्रयोग है।

इस प्रकार गुह्यविद्या की परिभाषा यों की जा सकती है : यह विद्या, आकारों के जगत् में, उस चीज का मूर्त विषयीकरण है जिसकी शिक्षा आध्यात्मिक अनुशासन शुद्ध मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देते हैं। इन दोनों को, विकास और समग्र कर्म की पूर्णता के लिये, एक-दूसरे का पूरक होना चाहिये। आध्यात्मिक अनुशासन के बिना गुह्य ज्ञान एक ऐसा उपकरण है जो यदि अपवित्र हाथों में पड़ जाये तो उस व्यक्ति के लिये जो उसे प्रयोग में लाता है तथा अन्यों के लिये भी संकटपूर्ण हो जाता है। उधर गुह्यविद्या के बिना आध्यात्मिक ज्ञान के बाह्य प्रभावों में यथार्थता और निश्चितता का अभाव रहता है; यह केवल आत्मनिष्ठ जगत् में ही सर्वशक्तिमान् है। ये दोनों जब कर्म में, चाहे वह आंतरिक हो या बाह्य, संयुक्त हो जाते हैं, तो अदम्य हो जाते हैं और अतिमानसिक शक्ति की अभिव्यक्ति के योग्य यंत्र बन जाते हैं।

('बुलेटिन', अप्रैल १९५४)

एक स्वप्न

संसार में एक ऐसा स्थान होना चाहिये जिसे कोई देश या राष्ट्र अपनी संपत्ति न कह सके, ऐसा स्थान जहां सब लोग पूरी स्वतंत्रता से विश्व नागरिक बनकर एकमात्र सत्ता—परम सत्य की आज्ञा का पालन करते हुए रह सकें; वह शांति, एकता और सामंजस्य का स्थान होगा जहां मनुष्य की सारी युद्ध-वृत्तियों का उपयोग दुःख और दर्द को जीतने में, अपनी कमजोरियों और अज्ञान पर प्रभुत्व प्राप्त करने में, तथा अपनी सीमाओं और अशक्यताओं पर विजय प्राप्त करने में होगा; ऐसा स्थान जहां मामूली इच्छाओं और आवेगों की तृप्ति तथा भौतिक सुख और आमोद-प्रमोद की अपेक्षा आत्मा की आवश्यकताओं और प्रगति को अधिक महत्त्व दिया जायेगा। इस स्थान पर, बच्चे अपनी आत्मा के साथ संबंध खोये बिना समग्र रूप से बढ़ और विकसित हो सकेंगे; शिक्षा भी यहां परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने, प्रमाणपत्र प्राप्त करने अथवा ऊंचे पद पाने के लिये नहीं दी जायेगी, वह विभिन्न क्षमताओं को बढ़ाने और नयी क्षमताओं को प्रकट करने में सहायता देगी। इस स्थान पर सेवा करने और संगठित करने के अवसर उपाधियों और पदों का स्थान ले लेंगे। प्रत्येक व्यक्ति की शारीरिक आवश्यकताओं को समान रूप से पूरा किया जायेगा। सामान्य अवस्था में मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक श्रेष्ठता जीवन के सुखों व शक्तियों के बढ़ावे में नहीं, बल्कि कर्तव्यों और जिम्मेदारियों की वृद्धि में अभिव्यक्ति पायेगी। सभी लोगों को सभी प्रकार का कलात्मक सौंदर्य, चित्रकला, शिल्प, संगीत, साहित्य आदि समान रूप से प्राप्य होगा। इस कलात्मक सौंदर्य का आनंद प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामाजिक या आर्थिक परिस्थिति के बल पर नहीं, बल्कि अपनी आंतरिक क्षमताओं के अनुपात में ही प्राप्त कर सकेगा। क्योंकि इस आदर्श स्थान में धन सम्राट् नहीं होगा; भौतिक संपत्ति तथा सामाजिक पद की अपेक्षा व्यक्तित्व का अधिक मूल्य होगा। यहां पर काम आजीविका के लिये नहीं, बल्कि अपने-आपको अभिव्यक्त करने और अपनी क्षमताओं तथा संभावनाओं को विकसित करने के लिये होगा, साथ ही यह काम पूरे समुदाय के लिये भी होगा। दूसरी ओर, समुदाय हर एक के निर्वाह तथा कार्यक्षेत्र का प्रबंध करेगा। संक्षेप में, यह ऐसा स्थान होगा जहां मानव संबंध, जो प्रायः ऐकांतिक रूप से प्रतियोगिता और संघर्ष पर आधारित होते हैं, अधिक अच्छा करने की स्पर्धा तथा सहयोग में और भ्रातृ-भाव में बदल जायेंगे।

निश्चय ही पृथ्वी अभी ऐसे आदर्श को चरितार्थ करने के लिये तैयार नहीं है, क्योंकि अभीतक मानव के पास इसे समझने और स्वीकार करने के लिये आवश्यक ज्ञान नहीं है, न इसे कार्यान्वित करने के लिये अनिवार्य सचेतन शक्ति ही है; इसीलिये मैं इसे स्वप्न कहती हूं।

फिर भी यह स्वप्न वास्तविकता बनने की तैयारी में है। हम श्रीअरविन्दाश्रम में

अपने मर्यादित साधनों के अनुसार एक छोटे पैमाने पर यही करने का प्रयास कर रहे हैं। उपलब्धि अभी पूर्णता से काफी दूर है, फिर भी प्रगति हो रही है; धीरे-धीरे हम अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं। हम आशा करते हैं कि एक दिन वर्तमान दुर्व्यवस्था में से निकल कर अधिक सत्य और अधिक समस्वर नये जीवन में प्रवेश करने के लिये हम इसे संसार के सामने एक क्रियात्मक और प्रभावशाली साधन के रूप में रख सकेंगे।

('बुलेटिन', अगस्त १९५४

मानवजाति का उपकार

जो व्यक्ति पूर्ण योग की साधना करना चाहता है उसके लिये मानवजाति की भलाई अपने-आप में लक्ष्य नहीं हो सकती, यह तो केवल एक परिणाम और फल है। मानव-अवस्थाओं को सुधारने के समस्त प्रयत्न, उन्हीं अवस्थाओं के द्वारा प्रेरित तीव्र उत्साह और लगन के होते हुए भी, अंत में बुरी तरह असफल ही हुए हैं। इसका कारण यह है कि मानव जीवन की अवस्थाओं का रूपांतर केवल तभी हो सकता है जब उससे पहले एक प्रारंभिक रूपांतर, अर्थात् मनुष्यों की चेतना का रूपांतर साधित हो जाये, या कम-से-कम उन थोड़े-से विशिष्ट व्यक्तियों की चेतना का रूपांतर तो हो ही जाये जो एक अधिक व्यापक रूपांतर का आधार तैयार कर सकते हों।

किंतु इस विषय पर हम थोड़ी देर बाद आयेंगे; यह हमारे विषय का उपसंहार होगा। पहले तो मैं इसके दो प्रभावशाली दृष्टांतों के विषय में कुछ कहूंगी जो सच्चे परोपकारी व्यक्तियों के दृष्टांतों से लिये गये हैं।

ये दो दृष्टांत दो प्रसिद्ध व्यक्तियों के हैं जो विचार और कर्म के दो छोरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उन दो उत्कृष्ट मानव आत्माओं ने, जिनकी अभिव्यक्ति एक संवेदनशील एवं दयालु हृदय के रूप में हुई थी, मानवजाति का कष्ट अनुभव किया और उनकी अंतरात्माओं में एक-सा संवेदन उत्पन्न हुआ। दोनों ने अपना समस्त जीवन अपने मनुष्य-साथियों के कष्ट निवारण के उपाय की खोज में अर्पण कर दिया। और दोनों का यह विश्वास था कि उन्होंने यह उपाय ढूंढ लिया है। किंतु दोनों के समाधान, जो परस्पर विरोधी कहे जा सकते हैं, अपने-अपने ढंग से अपूर्ण और आंशिक होने के कारण असफल रहे और मनुष्य के कष्ट भी वैसे-के-वैसे ही बने रहे।

एक उदाहरण पूर्व का है—राजकुमार सिद्धार्थ का जो पीछे बुद्ध कहलाये और दूसरा पश्चिम का—श्री वैंसां (Monsieur Vincent) जिन्हें उनकी मृत्यु के बाद लोगों ने संत वैंसां द पोल की उपाधि दी। कहा जा सकता है कि ये दोनों मानवीय चेतना के दो छोरों पर स्थित थे। इनके उपकार के ढंग पूर्णतया एक-दूसरे के विरोधी थे, फिर भी दोनों का यह विश्वास था कि मुक्ति आत्मा के द्वारा, उस परम सत्ता के द्वारा ही हो सकती है जो विचार से परे है; एक उसे भगवान् कहते थे और दूसरे निर्वाण।

संत वैंसां द पोल का विश्वास अत्यंत उत्कट था और उन्होंने अपने साथियों को भी यही उपदेश दिया कि मनुष्य को अपनी आत्मा की रक्षा करनी चाहिये। किंतु जब वह मानवीय दुःखों के संपर्क में आये तो उन्हें शीघ्र ही ज्ञात हो गया कि आत्मा की प्राप्ति के लिये मनुष्य के पास उसे खोजने के लिये समय होना चाहिये। जिन लोगों को प्रातः से सायं तक और कभी-कभी सायं से प्रातः तक भी, जरा-सी कमाई के लिये, जो उन्हें जीवित रखने के लिये भी शायद ही पर्याप्त होती हो, कठोर परिश्रम करना पड़ता है, उन्हें अपनी आत्मा के विषय में सोचने का अवकाश ही कहां मिलता है?

तब वे अपने दयालु हृदय की सरलता के साथ इस निर्णय पर पहुंचे कि जिन लोगों के पास आवश्यकता से अधिक धन है, वे यदि, कम-से-कम, गरीब लोगों की अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा कर दें तो दुःखी लोगों को अच्छा जीवन व्यतीत करने के लिये समय मिल सकता है। वे सामाजिक कार्यों के गुण तथा प्रभाव में, एक सक्रिय एवं भौतिक उपकार में विश्वास रखते थे। उनकी यह धारणा थी कि दुःख का अंत तभी हो सकता है जब अधिकतर व्यक्ति कष्ट से मुक्त हो जायें, अधिक-से-अधिक व्यक्तियों का, अधिकतम व्यक्तियों का दुःख-मोचन हो जाये। किंतु यह केवल शामक औषध है, दुःख का इलाज नहीं। तथापि जिस पूर्ण लगन और आत्म-त्याग के साथ संत वैंसां ने अपना कार्य किया था, उसने इन्हें मानव इतिहास में एक अत्यधिक उज्ज्वल और प्रभावशाली व्यक्ति बना दिया। किंतु फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि उनके प्रयत्नों ने दीन और असहाय मनुष्यों की संख्या बढ़ायी ही, घटायी नहीं। यह सत्य है कि उनके उपदेशों का एक बड़ा ठोस परिणाम यह हुआ कि धनिकों के एक विशेष वर्ग के मन में उपकार की एक दृढ़ भावना उत्पन्न हो गयी और इसी कारण जिन लोगों का उपकार किया गया उनकी अपेक्षा उपकार करनेवालों को अधिक लाभ पहुंचा।

चेतना के ठीक दूसरे छोर पर थे उच्च और पावन करुणावाले बुद्ध। उनके अनुसार कष्ट जीवन का ही परिणाम है और वह जीवन को नष्ट करने से ही नष्ट हो सकता है। क्योंकि जगत् और जीवन मनुष्य की जीवित रहने की इच्छा का परिणाम एवं अज्ञान का फल है; इच्छा का नाश करो, अज्ञान को दूर करो और तब जगत् और उसके साथ-ही-साथ दुःख और कष्ट भी विलुप्त हो जायेंगे। एकाग्रता के महान् प्रयत्न के द्वारा उन्होंने एक साधना का, एक ऐसी उच्चतम और अत्यंत प्रभावशाली साधना का विकास किया जो मुक्ति के पिपासुओं को इससे पहले कभी उपलब्ध नहीं हुई थी।

लाखों मनुष्यों ने उनकी शिक्षा को स्वीकार किया, यद्यपि ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम थी जो उसे व्यवहार में भी ला सकते हों। किंतु संसार की अवस्था अब भी वैसी ही है, मानवीय कष्टों में कहीं भी कोई विशेष कमी दृष्टिगोचर नहीं होती।

तब भी लोगों ने उनके प्रति कृतज्ञता और सम्मान का भाव प्रकट करने के लिये एक को संत की उपाधि प्रदान की है और दूसरे को देवता का पद। किंतु बहुत ही कम ऐसे व्यक्ति होंगे जिन्होंने सच्चे दिल से उस शिक्षा या आदर्श को, जो उनके सामने रखा गया था, व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न किया हो, यद्यपि ऐसा करना ही कृतज्ञता-प्रदर्शन का एकमात्र वास्तविक ढंग है। पर, यदि ऐसा हुआ भी होता, तो भी मनुष्य-जीवन की स्थिति में कोई प्रत्यक्ष सुधार न होता। कारण, सहायता करना कोई इलाज नहीं है, न ही पलायन का अर्थ है विजय। शारीरिक कष्टों का निवारण—यह समाधान संत वैंसां द पोल का था—किसी भी प्रकार मनुष्यों को उनके दुःखों और कष्टों से मुक्त नहीं कर सकता; कारण, समस्त मानव कष्ट भौतिक अभावों से ही नहीं

उत्पन्न होते और न ही केवल बाह्य साधनों द्वारा दूर किये जा सकते हैं। बात इससे बिलकुल दूसरी है। शारीरिक कुशल-क्षेम से ही आवश्यक रूप में सुख और शांति नहीं मिलती, दरिद्रता भी आवश्यक रूप में कोई दुःख का कारण नहीं है, जैसा कि उन तपस्वियों के उदाहरण से स्पष्ट है जो दरिद्रता को अपनाते थे, जो अपनी अकिंचनता को ही पूर्ण शांति और आनंद का स्रोत एवं कारण समझते थे। ऐसे उदाहरण सभी देशों में मिलते हैं। इसके विपरीत, संसार के सुखों का उपभोग भी—उन सब सुखों का जिन्हें स्थूल धन सुख, आराम और बाह्य संतोषों के रूप में अपने साथ लाता है—उस मनुष्य को दुःख और कष्ट के आक्रमण से नहीं बचा सकता जिसके पास ये सब वस्तुएं हों।

दूसरा समाधान, जो बुद्ध का है, अर्थात् जीवन से पलायन भी समस्या का हल नहीं कर सकता। यह मान भी लिया जाये कि बहुत-से व्यक्ति इस साधना का अभ्यास करके अंतिम मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं, तब भी इसके द्वारा पृथ्वी से दुःख का लोप नहीं हो सकता, न ही दूसरों के, अर्थात् उन सबके कष्ट ही दूर किये जा सकते हैं जो अभी इस निर्वाण-पथ का अनुगमन करने में समर्थ नहीं।

वस्तुतः सच्ची प्रसन्नता वह है जिसे मनुष्य प्रत्येक स्थिति में, चाहे वह कैसी भी हो, अनुभव कर सके, क्योंकि वह जिस लोक से आती है उस पर बाह्य अवस्थाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। किंतु वह प्रसन्नता बहुत कम लोगों के हिस्से में आती है, अधिकतर लोग तो अभीतक पार्थिव अवस्थाओं के वश में हैं। अतएव हम कह सकते हैं कि एक ओर तो मानव चेतना में परिवर्तन होना अत्यंत आवश्यक है, और दूसरी ओर, पार्थिव वायुमंडल के पूर्ण रूपांतर के बिना मनुष्य-जीवन की अवस्थाओं में कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं हो सकता। हर हालत में उपाय एक ही है : पृथ्वी पर तथा मनुष्य में, एक साथ ही, एक नयी चेतना की अभिव्यक्ति होनी चाहिये। इस संसार में अतिमानसिक चेतना का अवतरण और उसके साथ-ही-साथ एक नयी शक्ति, नये प्रकाश और बल का प्रादुर्भाव ही मनुष्य को उस दुःख, पीड़ा और कष्ट से मुक्त कर सकता है जिसमें वह आपादमस्तक डूबा पड़ा है। कारण, केवल अतिमानसिक चेतना ही पृथ्वी पर एक उच्चतर संतुलन, एक अधिक पवित्र और सच्चा प्रकाश उतार कर रूपांतर के महान् चमत्कार को साधित कर सकती है।

इस नयी अभिव्यक्ति के लिये ही प्रकृति यत्नशील है। किंतु इसके मार्ग यातनापूर्ण हैं और प्रगति अनिश्चित; उसे स्थान-स्थान पर रुकना और पीछे हटना पड़ता है, यहांतक कि उसका सच्चा प्रयोजन समझना भी कठिन हो जाता है। फिर भी, यह अधिकाधिक स्पष्ट हो रहा है कि वह मनुष्यजाति में से एक नयी जाति, अतिमानसिक जाति का प्रादुर्भाव करना चाहती है; इस जाति का मनुष्य के साथ वही आनुपातिक संबंध होगा जो मनुष्य का पशु के साथ है। किंतु इस रूपांतर के लिये, एक नयी जाति के सृजन के लिये अंधे परीक्षण और अन्वेषण करने में सदियां लग सकती हैं; जब कि मनुष्य की विवेकपूर्ण इच्छा-शक्ति से यह कार्य न केवल थोड़े समय में ही,

किंतु बिना अपव्यय और हानि के भी साधित हो सकता है।

ठीक इसी प्रसंग में पूर्णयोग के उपयुक्त स्थान और उसकी उपयोगिता का पता चलता है। कारण, योग का उद्देश्य एकाग्रता और प्रयत्न की तीव्रता के द्वारा उस विलंब पर विजय प्राप्त करना है जिसे काल किसी भी आमूल रूपांतर और नये सृजन के कार्य पर थोप देता है।

पूर्णयोग का अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति इस भौतिक जगत् को स्थिर रूप से इसके भाग्य पर छोड़कर इससे भाग खड़ा हो। न ही यह योग भौतिक जीवन को, जिस रूप में यह है, बिना किसी निश्चयात्मक परिवर्तन की आशा के स्वीकार ही करता है। यह जगत् को भागवत इच्छा की अंतिम अभिव्यक्ति के रूप में अंगीकार नहीं करता।

पूर्णयोग का ध्येय है चेतना की सब सीढ़ियों पर, साधारण मानसिक चेतना से लेकर अतिमानसिक और भागवत चेतना तक, आरोहण करना और जब यह आरोहण पूरा हो जाये तो वापिस इस जड़ जगत् की ओर लौटना और इस प्रकार से प्राप्त अतिमानसिक शक्ति और चेतना को इसमें संचारित करना, ताकि यह पृथ्वी क्रमशः अतिमानसिक और दिव्य जगत् में रूपांतरित हो जाये।

पूर्णयोग विशेषकर उन लोगों के प्रति अभिमुख होता है जिन्होंने वह सब कुछ पा लिया है जिसे मनुष्य प्राप्त कर सकता है, लेकिन फिर भी संतुष्ट नहीं है, क्योंकि वे जीवन से उस चीज की मांग करते हैं जो वह नहीं दे सकता। जो अज्ञात को जानने के लिये आतुर हैं, जो पूर्णता के लिये अभीप्सा करते हैं, जो अपने से वेदनाप्रद प्रश्न पूछते हैं और जिन्हें उनका कोई निश्चित उत्तर नहीं मिलता, ठीक वही लोग पूर्णयोग के लिये तैयार कहे जा सकते हैं।

कुछ ऐसे आधारभूत प्रश्न भी हैं जिन्हें वे लोग, जो मानवजाति के भाग्य में रुचि रखते हैं और प्रचलित सिद्धांतों से संतुष्ट नहीं हैं, अनिवार्य रूप में, अपने से पूछते हैं। उन्हें इन शब्दों में रखा जा सकता है:

यदि मरना ही है तो जन्म क्यों लिया जाये ?

यदि दुःख ही भोगना है तो जीवन क्यों धारण करें ?

यदि वियोग ही होना है तो प्रेम क्यों किया जाये ?

यदि भूल ही करनी है तो विचार क्यों करें ?

यदि गलतियां ही करनी हैं तो कार्य क्यों करें ?

इनका समुचित उत्तर केवल एक ही हो सकता है कि अवस्थाएं वैसी नहीं हैं जैसी होनी चाहिये। और ये विरोध केवल अनिवार्य ही नहीं हैं, बल्कि इनका उपाय भी हो सकता है और एक दिन ये दूर भी हो जायेंगे। कारण जगत् का वर्तमान स्वरूप ऐसा नहीं है कि उसका समाधान न हो सके। पृथ्वी संक्रमण-काल में से गुजर रही है। यह काल मानवीय चेतना को लंबा अवश्य प्रतीत होता है, क्योंकि उसकी अपनी अवधि बहुत अल्प है। पर सनातन चेतना के लिये यह बहुत छोटा है। यह काल

अतिमानसिक चेतना के प्रकट होने के साथ ही समाप्त हो जायेगा। तब असंगति का स्थान सुसंगति ले लेगी और विरोध का स्थान समन्वय ले लेगा।

यह नयी सृष्टि, अतिमानवजाति का यह प्रादुर्भाव, अत्यधिक अनुमान और विवाद का विषय रहा है। अतिमानव कैसा होगा इस विषय में थोड़े-बहुत रोचक रूपकों की कल्पना करने में मनुष्य को आनंद आता है। किंतु "समान" ही "समान" को जानता है। दिव्य प्रकृति की चेतना को मूल रूप में प्राप्त करके ही व्यक्ति यह सोच सकता है कि उस दिव्य प्रकृति की अभिव्यक्ति का क्या रूप होगा। तथापि, जिन लोगों ने इस चेतना को अपने अंदर उपलब्ध कर लिया है वे सामान्यतः अतिमानव का वर्णन करने की अपेक्षा इस बात के लिये अधिक उत्सुक हैं कि स्वयं अतिमानव बन जायें।

फिर भी, यह बताना होगा कि अतिमानव निश्चित रूप में क्या नहीं होगा, ताकि मार्ग में आनेवाली कुछ भ्रांतियों से बचा जा सके। उदाहरणार्थ, मैंने कहीं पढ़ा है कि अतिमानवजाति अपने मूल रूप में क्रूर तथा संवेदनहीन होगी। चूंकि अतिमानव दुःख-कष्टों से ऊपर होंगे, वे दूसरों के दुःख-कष्टों को कोई महत्त्व नहीं देंगे, वे उन्हें उनकी अपूर्णता और हीनता का लक्षण समझेंगे। निःसंदेह, जो ऐसा सोचते हैं वे अतिमानव और मानव के संबंध को उसी भाव से देखते हैं जिस भाव से एक मनुष्य अपने हीन साथी-प्राणियों, अर्थात्, पशुओं को देखता है। किंतु यह व्यवहार उच्चता का प्रमाण होना तो दूर रहा, अचेतनता और मूर्खता का एक निश्चित लक्षण है। यह बात इस तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि ज्यों ही मनुष्य ऊंचे स्तर पर पहुंचता है, वह पशुओं के प्रति दया अनुभव करने लगता है तथा उनकी दशा सुधारने का प्रयत्न करता है। किंतु इस बात में अतिमानव असंवेदनशील हो जाता है, सत्य का कुछ अंश अवश्य है; वह यह कि उस उच्चतर जाति में अहंभावयुक्त, दुर्बल और भावुक प्रकार की दया नहीं होगी जिसे मनुष्य उदारता कहते हैं। यह दया उतनी फलप्रद नहीं, जितनी हानिकारक है। इसका स्थान एक ऐसी प्रबुद्ध और सशक्त करुणा ले लेगी जिसका प्रयोजन केवल कष्टों का सच्चा इलाज करना होगा, न कि उन्हें स्थायी बनाना।

इसके अतिरिक्त, यह विचार इस बात पर प्रकाश डालता है कि पृथ्वी पर प्राणिक सत्ताओं के आधिपत्य का क्या रूप होगा। वे सत्ताएं अपनी प्रकृति में अमर हैं और अपनी क्षमताओं में मनुष्य से कहीं अधिक शक्तिशाली, किंतु वे अपनी संकल्पशक्ति में भगवान् की अटल विरोधिनी भी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व में उनका कार्य भगवान् की प्राप्ति को तबतक टालते रहना है जबतक कि इस प्राप्ति के यंत्र, अर्थात्, मनुष्य सब बाधाओं को पार करने के लिये पर्याप्त रूप में पवित्र, सशक्त और पूर्ण नहीं हो जाते। बेचारी पीड़ित पृथ्वी को ऐसे अशुभ आधिपत्य की संभावना से सचेत कर देना शायद सर्वथा अनुपयोगी न हो।

जबतक अतिमानव स्वयं आकर मनुष्य को अपने सच्चे स्वभाव का प्रमाण न दे दे,

प्रत्येक सद्भावनापूर्ण व्यक्ति के लिये बुद्धिमत्ता का काम यह होगा कि वह उन सबके बारे में सचेतन हो जाये जिसे वह सर्वाधिक सुन्दर, श्रेष्ठ, सत्य, पवित्र, उज्ज्वल तथा उत्कृष्ट समझता है; वह इस बात की अभीप्सा करे कि यह विचार संसार तथा अन्य व्यक्तियों के परम हित के लिये उसके अंदर चरितार्थ हो जाये।

('बुलेटिन', नवम्बर १९५४)

स्त्रियों की समस्या

मैं आज स्त्रियों की समस्या के विषय में कुछ कहना चाहती हूं। यह समस्या देखने में तो उतनी ही पुरानी है जितनी की मनुष्यजाति, परंतु अपने मूल में यह इससे भी बहुत अधिक पुरानी है। कारण, यदि कोई एक ऐसे नियम को ढूंढ़ना चाहे जो इसका शासन तथा समाधान करता है, तो उसे विश्व के उद्‌गम तक, बल्कि सृष्टि के भी परे जाना होगा।

कुछ प्राचीनतर परंपराएं, संभवतः प्रचीनतम परंपराएं विश्व की उत्पत्ति का कारण 'सर्वोच्च सत्ता' का वह संकल्प बताती हैं जो आत्मनिष्ठ रूप में अपने-आपको व्यक्त करने के लिये होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषयीकरण का पहला कार्य था सृजनात्मक 'चेतना' का प्रकट होना। यह सत्य है कि ये प्राचीन परंपराएं अभ्यासवश ही 'सर्वोच्च सत्ता' की पुल्लिंग के रूप में और 'चेतना' की स्त्रीलिंग के रूप में चर्चा करती हैं तथा इस आदि भाव को ही पुरुष और स्त्री के विभेद का स्रोत बना देती हैं, इसी के द्वारा वे पुरुष को स्त्री पर प्रधानता भी दे देती हैं, जब कि वास्तविक बात यह है कि अभिव्यक्ति से पहले दोनों ही एक, अभिन्न तथा सहवर्ती थे। पुरुष-सत्ता ने ही पहला निर्णय किया और उसी ने उस निर्णय को चरितार्थ करने के लिये स्त्री-सत्ता को जन्म भी दिया। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि स्त्री-सत्ता के बिना सृष्टि-कार्य नहीं हो सकता, तो पुरुष-सत्ता के प्रारंभिक निश्चय के बिना स्त्री-सत्ता का आविर्भाव भी नहीं हो सकता।

निश्चय ही, यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या यह व्याख्या कुछ अत्यधिक मानवीय नहीं है। किंतु, सच्ची बात यह है कि समस्त व्याख्याएं ही, जो कि मनुष्य कर सकता है, कम-से-कम अपने बाह्य स्वरूप में, अवश्य ही मानवीय होंगी। कारण, कुछ असाधारण व्यक्ति उस 'अज्ञेय' और 'अचिंत्य' की ओर अपनी आध्यात्मिक चढ़ाई में मानव प्रकृति से ऊपर जा सके हैं तथा अपनी खोज के ध्येय के साथ, एक उच्च तथा एक प्रकार की अकल्पनीय अनुभूति में, एक हो सके हैं, किंतु ज्यों ही उन्होंने अपनी उपलब्धि से दूसरों को लाभ पहुंचाना चाहा, उन्हें उसे सूत्रबद्ध करना पड़ा और उनके सूत्र को तब ग्राह्य बनने के लिये मानवीय और प्रतीकात्मक होना पड़ा।

फिर भी, यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या ये अनुभव और इनके द्वारा प्रदर्शित सत्य प्रधानता के उस भाव के लिये उत्तरदायी हैं जो पुरुष स्त्री के प्रति हमेशा बनाये रखता है, या, इसके विपरीत, सामान्य रूप से प्रचलित यह प्रधानता का भाव ही अनुभूतियों के सूत्रबद्ध रूप के लिये उत्तरदायी है . . .

बहरहाल, यह तथ्य तो निर्विवाद ही है कि पुरुष अपने-आपको बड़ा समझता है तथा अपना प्रभुत्व जमाना चाहता है, उधर स्त्री अपने-आपको उत्पीड़ित अनुभव करती है और फिर परोक्ष या अपरोक्ष रूप में विद्रोह करती है; और इन दोनों का यह झगड़ा

युग-युग से चला आ रहा है; यह मूल में एक ही है, पर अनगिनत रूप-रंगों में प्रकट होता है।

यह तो मानी हुई बात है कि पुरुष सारा दोष स्त्री पर थोपता है और उसी प्रकार स्त्री सारा दोष पुरुष पर थोपती है। पर, वास्तव में, दोष समान रूप में दोनों का मानना चाहिये और दोनों में से किसी को भी अपने-आपको दूसरों से बड़ा मानने का गर्व नहीं करना चाहिये। बल्कि जबतक प्रधानता और हीनता का यह विचार दूर नहीं कर दिया जायेगा तबतक कोई भी वस्तु या कई भी व्यक्ति इस भ्रांति को दूर नहीं कर सकेगा जो मानवजाति को दो विरोधी शिविरों में बांट देती है, और न तबतक समस्या का कोई समाधान ही हो पायेगा।

इस समस्या पर बहुत कुछ कहा और लिखा गया है। इस पर इतने दृष्टिकोण से विचार किया गया है कि इसके सब पक्षों का विवेचन करने के लिये एक पोथा भी पर्याप्त न होगा। साधारणतया, सिद्धांत बहुत अच्छे होते हैं और हर एक के अपने-अपने गुण भी होते हैं, किंतु व्यवहार में ये उतने सुखदायी नहीं सिद्ध होते। मुझे नहीं मालूम कि सफलता के स्तर पर हम पाषाण-युग से कुछ आगे बढ़े हैं या नहीं। कारण, पारस्परिक संबंध में पुरुष और स्त्री एक दूसरे के पूरी तरह निरंकुश स्वामी और साथ ही कुछ दयनीय दास भी होते हैं।

हां, सचमुच दास; क्योंकि जबतक मनुष्य में इच्छाएं हैं, अभिरुचियां और आसक्तियां हैं, तबतक वह इन वस्तुओं का और उन व्यक्तियों का भी दास है जिन पर वह इन इच्छाओं की पूर्ति के लिये निर्भर रहता है।

अतएव, स्त्री पुरुष की दासी इसलिये है कि वह पुरुष और उसके बल के प्रति आकर्षण अनुभव करती है, उसके अंदर घर बसाने की इच्छा होती है, वह घर से प्राप्त होनेवाली सुरक्षा को चाहती है, और अंत में उसके अंदर मातृत्व के प्रति मोह भी होता है। इधर पुरुष भी स्त्री का दास है, अधिकार-भावना के कारण, शक्ति और प्रभुत्व की तृष्णा के कारण, काम-वासना की तृप्ति की इच्छा तथा विवाहित जीवन की छोटी-मोटी सुख-सुविधाओं के प्रति आसक्ति के कारण।

इसलिये कोई भी कानून स्त्री को तबतक बंधनमुक्त नहीं कर सकता जबतक वह स्वयं ही बंधनमुक्त न हो जाये; इसी प्रकार पुरुष भी अधिकार जमाने की आदतों के होते हुए तबतक दासता से मुक्त नहीं हो सकता जबतक वह अपने अंदर की सारी दासता से मुक्त न हो जाये।

यह गुप्त संघर्ष की अवस्था जिसे प्रायः कोई स्वीकार नहीं करता; किंतु जो, अच्छे-से-अच्छे दृष्टांतों में भी, सदा अवचेतन में उपस्थित रहती है, तबतक अनिवार्य प्रतीत होती है, जबतक मनुष्य पूर्ण चेतना के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिये, 'सर्वोच्च सत्ता' के साथ एक होने के लिये, अपनी सामान्य चेतना से ऊपर नहीं उठ जाते। कारण, जब तुम उस उच्च चेतना को प्राप्त कर लेते हो तो देखते हो कि

पुरुष और स्त्री का भेद केवल शारीरिक भेद रह जाता है।

हो सकता है कि वस्तुतः, प्रारंभ में पृथ्वी पर एक विशुद्ध पुल्लिंग और एक विशुद्ध स्त्रीलिंग का प्रतिरूप रहा हो, प्रत्येक के अपने-अपने स्पष्ट भिन्न प्रकार के गुण रहे होंगे, किंतु समय के प्रवाह में अनिवार्य मिश्रण, आनुवंशिकता, पुत्रों का माता से सादृश्य और पुत्रियों का पिता से सादृश्य, सामाजिक उन्नति, एक ही व्यवसाय—इन सबने मिलकर हमारे समय में एक विशुद्ध प्रतिरूप को पाना दुर्लभ कर दिया है। सब पुरुष अपने कई पक्षों में स्त्री-सदृश हैं। इसी प्रकार सब स्त्रियां भी कई गुणों के ख्याल से, विशेषतया आधुनिक समाज में, पुरुष-सदृश हैं। दुर्भाग्य से, शारीरिक आकृति के कारण झगड़े की आदत चली आ रही है, बल्कि प्रतिद्वंद्विता की भावना के कारण शायद बढ़ भी गयी है।

पुरुष और स्त्री, दोनों ही अपने अच्छे क्षणों में लिंग-भेद भूल जाते हैं, किंतु जरा-सी उत्तेजना पाते ही वह भेद फिर से आ जाता है; स्त्री अनुभव करने लगती है कि वह स्त्री है, और पुरुष तो यह जानता ही है कि वह पुरुष है और झगड़ा फिर अनिश्चित अवधि के लिये, किसी-न-किसी रूप में, प्रत्यक्ष या परोक्ष स्तर पर चलने लगता है और प्रकट रूप में जितना कम स्वीकार किया जाता है उतना ही कटु होता है। कोई पूछ सकता है कि क्या यह झगड़ा तबतक ऐसा ही न चलता रहेगा जबतक पुरुष और स्त्री न रहकर ऐसी जीवंत आत्माएं नहीं बन जाते जो लिंग-रहित शरीर में अपने एक ही अभिन्न स्रोत को अभिव्यक्त करती हों।

कारण, हम एक ऐसे संसार का स्वप्न देखते हैं जिसमें अंततः, ये सब विरोध विलीन हो जायेंगे, जहां केवल एक ऐसी सत्ता ही जीवित रह सकेगी तथा उन्नति को प्राप्त होगी जो उस सबका, जो मानव सृष्टि में सर्वश्रेष्ठ है, सामंजस्यपूर्ण समन्वय होगी और जो अखंड चेतना एवं क्रिया में, विचार एवं कार्यान्विति में, अंतर्दृष्टि एवं सृजन में एकत्व लाभ कर लेगी।

जबतक समस्या का यह सुखद और आमूल समाधान नहीं हो जाता, भारतवर्ष और बातों की भांति इस बात में भी उन प्रचंड विरोधात्मक भेदों का देश रहेगा जिन्हें फिर भी एक अत्यंत व्यापक एवं विस्तृत समन्वय में परिणत किया जा सकता है।

वस्तुतः, क्या भारतवर्ष में ही उस परम जननी की अत्यधिक तीव्र भक्ति और पूर्ण उपासना नहीं की जाती जो विश्व को बनानेवाली और शत्रुओं पर विजय पानेवाली है, जो समस्त देवताओं और समस्त जगतों की माता है, सकल-वरदायिनी है?

और क्या भारत में ही हम स्त्री-तत्त्व, 'प्रकृति', अर्थात्, 'माया' की अत्यंत आमूल रूप में निंदा और उसके प्रति अत्यधिक घृणा प्रदर्शित होते नहीं देखते, क्योंकि वह एक विकारजनक भ्रम है तथा समस्त दुःख और पतन का कारण है, अर्थात्, ऐसी प्रकृति है जो विमोहित और कलुषित करती है तथा व्यक्ति को भगवान् से दूर ले जाती है?

भारतवर्ष का सारा जीवन ही इस विरोध से सराबोर है; वह अपने मन और हृदय, दोनों में इससे पीड़ित है। यहां, सर्वत्र, मंदिरों में देवियों की मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं, मां दुर्गा से ही भारतवर्ष की संतानें मुक्ति और मोक्ष की आशा करती हैं। और फिर भी एक भारतवासी ने ही यह कहा है कि अवतार कभी स्त्री के शरीर में जन्म नहीं लेगा, क्योंकि तब कोई विचारवान् हिंदू उसे न पहचान पायेगा ! पर यह प्रसन्नता की बात है कि भगवान् इस संकीर्ण सांप्रदायिक भावना से प्रभावित नहीं होते और न ही इन तुच्छ विचारों द्वारा प्रेरित होते हैं। जब उनकी पार्थिव शरीर में अवतरित होने की इच्छा होती है तो वह इस बात की परवाह कम ही करते हैं कि लोग उन्हें पहचानेंगे या नहीं। इसके अतिरिक्त, ऐसा प्रतीत होता है कि अपने सब अवतारों में उन्होंने विद्वानों की अपेक्षा बच्चों और सरल हृदयों को अधिक पसंद किया है।

जो भी हो, जबतक एक ऐसी नयी जाति को, जिसे प्रजनन की आवश्यकता के अधीन होने की जरूरत न हो और जो सत्ता के दो पूरक लिंगों में विभाजित होने के लिये बाध्य न हो, उत्पन्न करने के लिये प्रकृति को प्रेरित करनेवाला नया विचार एवं नयी चेतना प्रकट नहीं हो जाते, तबतक वर्तमान मानवजाति की उन्नति के लिये अधिक-से-अधिक यही किया जा सकता है कि पुरुष और स्त्री दोनों के साथ पूर्ण समानता का व्यवहार किया जाये, दोनों को एक ही शिक्षा तथा प्रशिक्षा दी जाये तथा दिव्य सत्ता के साथ, जो कि समस्त लिंग-भेदों से ऊपर है, सतत संपर्क स्थापित करके समस्त संभावनाओं और समस्त समस्वरताओं के उद्‌गम को प्राप्त किया जाये।

और तब शायद भारतवर्ष, जो विषमताओं का देश है, नयी उपलब्धियों का देश बन जायेगा, जैसे यह इनकी परिकल्पना का पालना रहा है।

('बुलेटिन', अप्रैल १९५५)

भाग २

संदेश, पत्र, बातचीत

१

श्रीअरविन्द अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा-केंद्र

प्रस्तावना

१९२० और १९३० के दशकों में माताजी कुछ लोगों को फ्रेंच सीखने के बारे में कुछ निर्देश दिया करती थीं या अन्य विषयों के अध्ययन के बारे में सामान्य परामर्श देती थीं। उन दिनों, आश्रम में बच्चे नहीं लिये जाते थे। १९४० के बाद कुछ परिवारों को स्वीकृति मिली और उनके बच्चों के लिये शिक्षा की व्यवस्था की गयी। २ दिसम्बर, १९४३ को माताजी ने लगभग बीस बच्चों को लेकर बाकायदा विद्यालय का आरंभ किया। वे स्वयं भी पढ़ाती थीं। अगले सात वर्षों में धीरे-धीरे विद्यार्थियों की संख्या बढ़ती गयी।

२४ अप्रैल, १९५१ को माताजी की अध्यक्षता में एक सम्मेलन हुआ जिसमें एक अंतर्राष्ट्रीय विश्व-विद्यालय केंद्र स्थापित करने का निश्चय किया गया। ६ जनवरी, १९५२ को उन्होंने 'श्रीअरविन्द अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय केंद्र' का उद्घाटन किया। कुछ वर्षों बाद इसका नाम बदलकर अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा-केंद्र कर दिया गया।

आजकल इस शिक्षा-केंद्र में पूरा या आंशिक समय देनेवाले लगभग १५० अध्यापक और पांच सौ विद्यार्थी हैं जिनमें बालकक्ष से लेकर उच्चतर शिक्षातक के छात्र हैं। पाठ्यक्रम में मानविकी, भाषाएं, ललित कलाएं, विज्ञान, इंजीनियरिंग, उद्योग और व्यावसायिक शिक्षा आदि सम्मिलित हैं। पुस्तकालय, प्रयोगशाला, कारखाने, रंगमंच, नाटक, संगीत, नृत्य, चित्रकला आदि के अपने-अपने कक्ष भी हैं।

शिक्षा-केंद्र केवल मानसिक शिक्षा पर केंद्रित न रहकर व्यक्ति के हर पहलू को विकसित करने का प्रयास करता है। उसमें 'फ्री प्रोग्रेस सिस्टम' (मुक्त प्रगति-पद्धति) का प्रयोग होता है। माताजी के शब्दों में: "यह ऐसी प्रगति है जिसका निर्देशन अंतरात्मा करती है, जो अभ्यास, परिपाटी और पूर्वकल्पित विचारों पर आधारित नहीं हैं।" विद्यार्थी को अपने-आप सीखने के लिये प्रोत्साहित किया जाता है। वह विषयों का चुनाव अपने-आप करता है और अपनी ही गति से आगे बढ़ता है, और फिर, अपने विकास का दायित्व अपने ऊपर ले लेता है। अध्यापक इतना प्रशिक्षक नहीं होता जितना सलाहकार या सूचनाएं देनेवाला। कार्यक्षेत्र में अध्यापकों और विद्यार्थियों के स्वभाव के अनुसार इस पद्धति में हेर-फेर भी कर लिये जाते हैं। कुछ हैं जो अब भी परंपरागत शिक्षा-पद्धति को ज्यादा पसंद करते हैं और निश्चित कार्यक्रम के अनुसार अध्यापक से पढ़ते हैं।

गणित और विज्ञान की पढ़ाई फ्रेंच में होती है और बाकी विषय अंग्रेजी में पढ़ाये

जाते हैं। हर विद्यार्थी से आशा की जाती है कि वह अपनी मातृभाषा पढ़ेगा। उनमें से कुछ भारतीय यूरोपीय अन्य भाषाएं भी पढ़ते हैं।

शिक्षा-केंद्र उपाधियां नहीं दिया करता। वह विद्यार्थी में सीखने का आनंद और प्रगति के लिये अभीप्सा जगाने की कोशिश करता है जो इतर प्रयोजनों से मुक्त होती है।

संदेश

श्रीअरविन्द अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा-केंद्र के प्रतीक का अर्थ

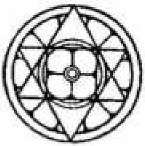

The effective manifestation of Ishwara and Ishwari in union.

ऐक्यबद्ध ईश्वर और ईश्वरी की समर्थ अभिव्यक्ति

—श्रीमां

*

श्रीअरविन्द ने अपने काम के विकास के बारे में जो अभिनव रूप सोचा था वह है पांडिचेरी में एक अंतर्राष्ट्रीय विश्व-विद्यालय की स्थापना जिसमें सारी दुनिया से विद्यार्थी आ सकें।

अब यह सोचा गया है कि उनके नाम का सबसे अधिक उचित स्मारक होगा इस विश्वविद्यालय की स्थापना जो इस बात को ठोस रूप में अभिव्यक्त कर सके कि उनका काम अबाध शक्ति के साथ चलता जा रहा है।

(१९५१)

*

श्रीअरविन्द स्मारक सम्मेलन के लिये उद्‌घाटन-संदेश

श्रीअरविन्द हमारे बीच में उपस्थित हैं और अपनी समस्त सृजनात्मक प्रतिभा के साथ विश्वविद्यालय केंद्र के निर्माण की अध्यक्षता कर रहे हैं। उन्होंने बरसों तक यह माना था कि भावी मानवता को अतिमानसिक ज्योति ग्रहण करने योग्य बनाने के लिये वह आज के श्रेष्ठ लोगों को धरती पर नयी ज्योति, शक्ति और जीवन अभिव्यक्त करनेवाली नयी जाति में रूपांतरित करें।

उनके नाम से आज मैं इस सम्मेलन का उद्‌घाटन करती हूं जो उनके सबसे अधिक प्रिय आदर्शों में से एक को चरितार्थ करने के लिये हो रहा है।

(२४-४-१९५१)

*

विद्यार्थियों की प्रार्थना[1]

हमें वह वीर योद्धा बना जो बनने के लिये हम अभीप्सा करते हैं। वर दे कि हम डटे रहने का प्रयास करनेवाले भूत के विरुद्ध, सफलतापूर्वक उस भविष्य का युद्ध लड़ सकें जो अभी जन्म लेने को है ताकि नयी चीजें अभिव्यक्त हो सकें और हम उन्हें ग्रहण करने योग्य बनें।

(६-१-१९५२)

*

मुझे पूरा विश्वास है, मैं बिलकुल आश्वस्त हूं, मेरे मन में लेशमात्र भी संदेह नहीं है कि यह विश्वविद्यालय, जो यहां स्थापित किया जा रहा है, धरती पर सबसे बड़ा ज्ञानपीठ होगा।

इसमें पचास वर्ष लग सकते हैं, इसमें सौ वर्ष लग सकते हैं, तुम्हें मेरे यहां रहने के बारे में संदेह हो सकता है। मैं यहां होऊं या न होऊं, मेरा काम पूरा करने के लिये मेरे ये बच्चे यहां होंगे।

और जो आज इस दिव्य कार्य में सहयोग देंगे उन्हें ऐसी असाधारण उपलब्धि में भाग लेने का आनंद और गर्व प्राप्त होगा।

(२८-५-१९५३)

*

हम यहां वही करने के लिये नहीं हैं जो और करते हैं (उससे थोड़ा अच्छा क्यों न हो)।

[1] 'श्रीअरविन्द अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय केंद्र' के उद्‌घाटन के समय यह दी गयी थी।

हम यहां वह करने के लिये हैं जो और नहीं कर सकते क्योंकि उन्हें यह ख्याल ही नहीं है कि यह किया जा सकता है।

हम यहां भविष्य के बच्चों के लिये दिव्य भविष्य का मार्ग खोलने के लिये हैं।

और कोई चीज कष्ट उठाने लायक और श्रीअरविन्द की सहायता के योग्य नहीं है।

(६-९-१९६१)

*

कक्षाओं के वार्षिक उद्‌घाटन के समय दिये गये संदेश

एक और वर्ष बीत गया और अपने पीछे पाठों का बोझा छोड़ता गया जिनमें कुछ कठोर हैं और कुछ पीड़ाजनक भी।

अब एक नया वर्ष शुरू हो रहा है और अपने साथ प्रगति और उपलब्धियों की संभावनाएं ला रहा है। लेकिन इन संभावनाओं का पूरा लाभ उठाने के लिये . . . हमें पिछले पाठों को समझना चाहिये।

यह जानना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि सभी दुर्घटनाएं निश्चेतना का परिणाम होती हैं। फिर भी, बाहरी रूप से, उनके मुख्य कारणों में से एक है अनुशासनहीनता का भाव। अनुशासन के लिये एक प्रकार का तिरस्कार।

यह हमारे ऊपर छोड़ा गया है कि हम अनुशासनयुक्त सतत प्रयास के द्वारा यह प्रमाणित करें कि हम अधिक सचेतन और अधिक सत्य जीवन की अपनी अभीप्सा में सच्चे और निष्कपट हैं।

(१६-१२-१९६६)

सत्य ही तुम्हारा स्वामी और तुम्हारा पथ-प्रदर्शक हो।

हम अपनी सत्ता और अपने क्रिया-कलाप में सत्य और उसकी विजय के लिये अभीप्सा करते हैं।

सत्य के लिये अभीप्सा ही हमारे प्रयासों की गति और ऊर्जा हो।

हे सत्य! हम तेरा पथ-प्रदर्शन चाहते हैं। धरती पर तेरा ही राज्य आये।

(१६-१२-१९६७)

जब कोई सत्य में निवास करता है तो वह सभी विरोधों के ऊपर होता है।

(१६-१२-१९६८)

तुम जो सिखाना चाहते हो वह पहले तुम्हें जीना चाहिये।

नूतन चेतना के बारे में बोलने के लिये, वह चेतना तुम्हारे अंदर प्रवेश करे और

तुम्हें अपने रहस्य बतलाये। केवल तभी तुम कुछ क्षमता के साथ बोल सकते हो।

नूतन चेतना में ऊपर उठने के लिये पहली शर्त है मन की इतनी विनयशीलता कि तुम्हें यह विश्वास हो कि जो कुछ तुम समझते हो कि तुम जानते हो वह जो कुछ सीखना बाकी है उसके आगे कुछ भी नहीं है।

बाहरी तौर पर जो कुछ तुमने सीखा है वह उच्चतर ज्ञान की ओर उठने में सहायक एक कदम हो।

(१६-१२-१९६९)

केवल शांत-स्थिरता में ही सब कुछ जाना और किया जा सकता है। जो कुछ उत्तेजना और उग्रता में किया किया जाता है वह मतिभ्रंश और मूर्खता है। सत्ता में भागवत उपस्थिति का पहला चिह्न है शान्ति।

हम यहां और जगहों से ज्यादा अच्छा करने के लिये और अपने-आपको अतिमानसिक भविष्य के लिये तैयार करने के लिये हैं। इसे कभी न भूलना चाहिये। मैं सबसे सच्चे, निष्कपट सद्भाव से अनुरोध करती हूं ताकि हमारा आदर्श चरितार्थ हो सके।

(१६-१२-१९७१)

*

दिल्ली के 'मदर्स इंटरनेशनल स्कूल' के नाम संदेश

पृथ्वी पर एक नयी ज्योति प्रकट हुई है। आज जिस नये विद्यालय का उद्घाटन हो रहा है वह उसका पथ-प्रदर्शन पाये।

आशीर्वाद।

(२३-४-१९५६)

सत्य के प्रति अपने प्रयास में हमें वास्तविक रूप से सच्चा और निष्कपट होना सिखा।

(२३-४-१९५७)

विगत कल की सिद्धियां आगामी कल की उपलब्धियों की ओर छलांग लगाने के लिये लचकदार तख्ता हों।

(२३-४-१९५८)

आओ, हम अपने-आपको धरती पर अभिव्यक्त होते हुए नये जीवन के लिये तैयार करें।

(२३-४-१९५९)

सबसे अच्छे विद्यार्थी वे हैं जो जानना चाहते हैं, वे नहीं जो दिखाना चाहते हैं।

(२३-४-१९६६)

मदर्स स्कूल—सचाई, निष्कपटता।

(२३-४-१९६७)

निष्कपटता का माप सफलता का माप है।

(२३-४-१९६८)

भविष्य प्रत्याशा से भरा है। अपने-आपको उसके लिये तैयार करो।
आशीर्वाद।

(२३-४-१९६९)

*

'श्री मीराम्बिका विद्यालय, अहमदाबाद' के उद्घाटन पर संदेश

श्रद्धा और सच्चाई सफलता के जुड़वां एजेंट हैं।
आशीर्वाद।

(१४-६-१९६५)

उद्देश्य

हम श्रीअरविन्दाश्रम में क्यों हैं ?

प्रकृति में एक ऊपर उठनेवाला विकास है जो पत्थर से पौधों में और पौधे से पशु में तथा पशु से मनुष्य में उठता है, चूंकि अभीतक मनुष्य ही इस उठते हुए विकास की अंतिम सीढ़ी है, वह समझता है कि इस आरोहण में वही सबसे ऊंचा स्तर है और यह मानता है कि धरती पर उससे ऊंचा कुछ हो ही नहीं सकता। लेकिन यह उसकी भूल है। अपनी भौतिक प्रकृति में वह अभीतक पूरा-पूरा पशु है, एक विचारशील और बोलनेवाला पशु है, फिर भी, अपने भौतिक अभ्यासों और सहज बोधों में पशु है। निःसंदेह, प्रकृति ऐसे अपूर्ण परिणामों से संतुष्ट नहीं हो सकती। वह एक ऐसी सत्ता को लाने के लिये प्रयत्नशील है जो मनुष्य की तुलना में वैसा ही होगा जैसा मनुष्य पशु की तुलना में, वह ऐसी सत्ता होगी जो अपने बाहरी रूप में तो मनुष्य ही होगी, लेकिन उसकी चेतना मन तथा उसकी अज्ञान की दासता से बहुत ऊंची उठ जायेगी।

श्रीअरविन्द धरती पर मनुष्य को यही सत्य सिखाने के लिये आये थे। उन्होंने कहा कि मनुष्य केवल एक संक्रमणशील सत्ता है जो मानसिक चेतना में निवास करता है, लेकिन उसमें एक नयी चेतना, सत्य-चेतना प्राप्त करने की संभावना है। वह पूरी तरह सामंजस्यपूर्ण, शिव, सुंदर, सुखी और पूर्णतः सचेतन जीवन जीने के योग्य होगा। अपने सारे पार्थिव जीवन में श्रीअरविन्द ने अपना पूरा समय अपने अंदर उस चेतना को स्थापित करने में लगाया जिसे उन्होंने अतिमानस का नाम दिया है, और जो लोग उनके इर्द-गिर्द इकट्ठे थे उन्हें सहायता दी कि वे भी इसे पा सकें।

तुम्हें यह बहुत बड़ा लाभ है कि तुम बहुत छोटी अवस्था में ही आश्रम में आ गये हो, यानी, अभी नमनीय अवस्था में आये हो जिसे नये आदर्श के अनुसार गढ़ा जा सकता है और तुम नयी जाति के प्रतिनिधि बन सकते हो। यहां आश्रम में तुम वातावरण, प्रभाव, शिक्षा और उदाहरण की दृष्टि से अच्छी-से-अच्छी अवस्था में हो ताकि तुम्हारे अंदर यह अतिमानसिक चेतना जगायी जा सके और तुम उसके विधान के अनुसार बढ़ सको।

अब, सब कुछ निर्भर है तुम्हारे संकल्प और तुम्हारी सच्चाई पर। अगर तुम्हारे अंदर यह संकल्प है कि अब और सामान्य मानवजाति के होकर न रहोगे, अब और विकसित पशु बनकर न रहोगे; अगर तुम्हारा संकल्प है कि नयी जाति के मनुष्य बनकर श्रीअरविन्द के अतिमानसिक आदर्श को चरितार्थ करोगे, एक नयी धरा पर नया और उच्चतर जीवन जियोगे तो तुम अपना अभीष्ट उद्देश्य पाने के लिये यहां समस्त आवश्यक सहायता पाओगे, तुम अपने आश्रम में रहने का पूरा-पूरा लाभ

उठाओगे और अंततः, संसार के लिये जीते-जागते उदाहरण बनोगे।

(२४-७-१९५१)

*

हमारे शिक्षा-केंद्र का असली उद्देश्य और लक्ष्य क्या है? क्या श्रीअरविन्द के ग्रंथ पढ़ाना? केवल यही? सभी ग्रंथ या उनमें से कुछ? या हमें विद्यार्थियों को इस योग्य बनाना है कि वे माताजी और श्रीअरविन्द के ग्रंथ पढ़ सकें? हमें उन्हें आश्रम-जीवन के लिये तैयार करना है या "बाहरी" काम के लिये भी? इस बारे में बहुत सारे मत हवा में चक्कर लगा रहे हैं और वे पुराने लोग जिनसे हम जानने की आशा करते हैं, वे भी बहुत-सी अलग-अलग बातें कहते हैं, समझ में नहीं आता कि किस पर विश्वास किया जाये। किसी निश्चित और वास्तविक ज्ञान के बिना हम किस आधार पर काम करें? माताजी, मैं आपसे मार्गदर्शन के लिये प्रार्थना करता हूं।

यह इन ग्रंथों या अन्य ग्रंथों को पढ़ने के लिये तैयार करने का सवाल नहीं है। सवाल है उन सबको जो इसके योग्य हों साधारण मानव विचार, भाव और क्रिया की रूढ़ि में से खींचने का; जो यहां हैं उन सबको अपने अंदर से मानव विचार और क्रिया-पद्धति की दासता को निकाल फेंकने के अवसर देना। जो लोग सुनना चाहते हैं उन सबको यह सिखाना है कि जीने का एक और अधिक सत्य मार्ग है, कि श्रीअरविन्द ने हमें बताया है कि किस प्रकार जीवित रहा और सत्य सत्ता बना जा सकता है—और यह कि यहां की शिक्षा बच्चों को उस जीवन के लिये तैयार करने और उसके योग्य बनाने के लिये है।

बाकी सबके लिये, मानव विचार और जीवन-पद्धति के लिये संसार बहुत विशाल है और वहां सबके लिये जगह है।

It is not a number that we want — it is a selection; it is not brilliant students that we want, it is living souls.

हम संख्या नहीं, एक चयन चाहते हैं; हम प्रखर विद्यार्थी नहीं जीवित आत्माएं चाहते हैं।

*

यह मालूम होना चाहिये और हमें यह खुलकर कहने में संकोच न करना चाहिये कि हमारे विद्यालय का उद्देश्य है उन लोगों का पता लगाना और उन्हें प्रोत्साहित करना जिनमें प्रगति की आवश्यकता इतनी सचेतन हो गयी है कि उनके जीवन को दिशा दे सके।

*

सांसारिक दृष्टि-बिंदु से, प्राप्त परिणामों की दृष्टि से निश्चय ही चीजें ज्यादा अच्छी तरह की जा सकती हैं। परंतु मैं किये गये प्रयास की बात कह रही हूं, और प्रयास अपने अधिक-से-अधिक गहरे अर्थों में। काम शरीर के द्वारा की गयी प्रार्थना है। तुम्हारे काम के उस प्रयास से भगवान् संतुष्ट हैं; जिस चेतना ने इसे देखा है वह सचमुच संतुष्ट है। ऐसी बात नहीं है कि मानव दृष्टि से इससे ज्यादा अच्छा नहीं किया जा सकता। बहरहाल, हमारे लिये यह उद्यम-विशेष बहुतों में से एक है; यह हमारी साधना में एक गति मात्र है। हम और भी बहुत-सी चीजों में लगे हैं। काम के किसी एक अंग-विशेष को लगभग पूर्णता तक पहुंचाने में समय, साधन और उपायों की जरूरत है और वे हमारे पास नहीं हैं। लेकिन हम किसी एक चीज में पूर्णता नहीं चाहते, हमारा लक्ष्य है संपूर्ण उपलब्धि।

बाहरी दृष्टि समालोचना योग्य बहुत कुछ पा सकती है और समालोचना करती भी है, लेकिन आंतरिक दृष्टि से जो कुछ किया गया है, भली-भांति किया गया है। बाहरी दृष्टिकोण से तुम सब प्रकार के मानसिक, बौद्धिक रूपों को लेकर आते हो और तुम्हें लगता है कि यहां जो कुछ किया गया है उसमें कुछ भी असाधारण नहीं है। लेकिन इस तरह तुम उसे नहीं देख पाते जो साधना के पीछे है। एक अधिक गहरी चेतना उपलब्धि की ओर बढ़ते उस अभियान को देख सकेगी जो सबसे बाजी ले जाता है। बाहरी दृष्टि आध्यात्मिक जीवन को नहीं देखती। वह अपनी तुच्छता से ही निर्णय करती है।

लोग हमारे विश्वविद्यालय में भरती होने के लिये चिट्ठियां लिखते हैं और पूछते हैं कि हम किस प्रकार की उपाधि या प्रमाणपत्र के लिये तैयारी करवाते हैं, किस प्रकार की आजीविका के लिये रास्ता खोलते हैं। मैं उनसे कहती हूं : अगर तुम यही चाहते हो तो कहीं और चले जाओ, इससे कहीं ज्यादा अच्छी और बहुत-सी जगहें हैं, स्वयं

भारत में भी इससे बहुत ज्यादा अच्छी जगहें हैं। उस दिशा में हमारे पास न तो उनकी साज-सज्जा है, न वह शान है। तुम्हें जिस प्रकार की सफलता की चाह है वह तुम्हें वहां मिल जायेगी। हम उनसे प्रतियोगिता नहीं करते। हम एक और ही क्षेत्र में, एक और ही स्तर पर गति करते हैं।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं चाहती हूं कि तुम अपने-आपको औरों से श्रेष्ठ मानो। सच्ची चेतना अपने-आपको औरों से श्रेष्ठ मानने में अक्षम होती है। केवल तुच्छ चेतना ही अपनी श्रेष्ठता दिखाने की कोशिश करती है। ऐसी सत्ता से एक बच्चा भी श्रेष्ठ होता है, क्योंकि वह अपनी गतिविधि में सहज-स्वाभाविक होता है। इस सबसे ऊपर उठो। भगवान् के साथ अपने संबंध और उनके लिये तुम जो करना चाहते हो उसे छोड़कर और किसी बात में रस न लो। यही एकमात्र रुचिकर चीज है।★[१]

(३०-११-१९५५)

*

हम यहां एक सरल और आरामदेह जीवन बिताने के लिये नहीं हैं। हम यहां भगवान् को पाने के लिये, भगवान् बनने के लिये, भगवान् को अभिव्यक्त करने के लिये हैं।

हमारा क्या होता है यह भगवान् की चिंता का विषय है, हमारी चिंता का नहीं।

हमारी अपेक्षा भगवान् ज्यादा अच्छी तरह जानते हैं कि दुनिया की प्रगति के लिये और हमारी प्रगति के लिये क्या अच्छा है।

(२३-८-१९६७)

*

सेवा भाव विकसित करना यहां के प्रशिक्षण का भाग है और यह बाकी पढ़ाई-लिखाई को पूरा करता है।

(१३-६-१९६१)

*

तुम्हें धार्मिक शिक्षा को आध्यात्मिक शिक्षा न समझ बैठना चाहिये।

धार्मिक शिक्षा भूतकाल की चीज है और प्रगति को रोकती है।

आध्यात्मिक शिक्षा भविष्य की शिक्षा है—यह चेतना को प्रदीप्त करती है और उसे भावी उपलब्धियों के लिये तैयार करती है।

[१] जहां कहीं ऐसा चिह्न (★) आता है, उसका मतलब यह है कि यह माताजी की मौखिक टिप्पणी है जिसे किसी साधक ने लिख लिया था और बाद में माताजी को दिखाकर स्वीकृति ले ली थी।

आध्यात्मिक शिक्षा धार्मिक शिक्षा से ऊपर है और सार्वभौम सत्य की ओर प्रयास करती है।

वह हमें भगवान् के साथ सीधा नाता जोड़ना सिखाती है।

(१२-२-१९७२)

*

शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को जीवन में और समाज में सफलता के लिये तैयार करना नहीं है, बल्कि उसकी पूरणीयता को ऊपरी चरम गति तक बढ़ाना है।

*

सफलता को लक्ष्य न बनाओ। हमारा लक्ष्य है पूर्णता। याद रखो तुम नये जगत् की देहली पर हो, उसके जन्म में भाग ले रहे हो और उसके सृजन में सहायक हो। रूपांतर से अधिक महत्त्वपूर्ण कुछ भी नहीं है। इससे अधिक मूल्यवान् कोई हित नहीं है।

*

साधारण तौर पर शिक्षा, संस्कृति, इन्द्रियों की सुरुचिपूर्णता गंवारू सहजवृत्ति, कामना और आवेग की गतियों का मार्जन करने के साधन हैं। उन्हें मिटा देना उनका उपचार नहीं है; इसकी जगह उन्हें सुसंस्कृत बनाना, बौद्धिक और सुरुचिपूर्ण बनाना चाहिये। उनका प्रतिकार करने का यही सबसे अच्छा तरीका है। उन्हें चेतना की प्रगति और विकास की दृष्टि से अपना अधिक-से-अधिक विकास प्रदान करना मनुष्य की शिक्षा और संस्कृति का भाग है, ताकि मनुष्य सामंजस्य के भाव और प्रत्यक्ष दर्शन की यथार्थता पा ले।

विद्यार्थी

विजय के लिये आह्वान

मेरे वीर छोटे सिपाहियो! मैं तुम्हारा अभिवादन करती हूं। मैं विजय के साथ मिलने के लिये तुम्हारा आह्वान करती हूं।

*

तुम जो युवा हो, तुम ही देश की आशा हो। इस प्रत्याशा के योग्य बनने के लिये तैयारी करो।

आशीर्वाद।

*

एक चीज के बारे में तुम निश्चित हो सकते हो—**तुम्हारा भविष्य तुम्हारे ही हाथों में है।** तुम वही आदमी बनोगे जो तुम बनना चाहते हो। तुम्हारा आदर्श और तुम्हारी अभीप्सा जितने ऊंचे होंगे, तुम्हारी सिद्धि भी उतनी ही ऊंची होगी। लेकिन तुम्हें दृढ़ निश्चय रखना चाहिये और अपने जीवन के सच्चे लक्ष्य को कभी न भूलना चाहिये।

(२-४-१९६३)

*

युवा होने का अर्थ है भविष्य में जीना।

युवा होने का अर्थ है हमें जो कुछ होना चाहिये वह बनने के लिये, हम जो कुछ हैं उसे छोड़ने के लिये हमेशा तैयार रहना।

युवा होने का अर्थ है कभी यह न स्वीकार करना कि कोई चीज सुधारी नहीं जा सकती।

(२८-३-१९६७)

*

केवल वही वर्ष जो व्यर्थ में बिताये जाते हैं तुम्हें बूढ़ा बनाते हैं।

जिस वर्ष में कोई प्रगति नहीं की गयी, चेतना में कोई वृद्धि नहीं हुई, पूर्णता की ओर कोई अगला कदम नहीं उठाया गया वह वर्ष व्यर्थ में बिताया गया।

अपने जीवन को अपने-आपसे कुछ उच्चतर और विशालतर वस्तु को चरितार्थ करने पर एकाग्र करो तो तुम्हें बीतते हुए वर्षों का भार कभी न लगेगा।

(२१-२-१९५८)

*

तुम जितने वर्ष जिये हो उनकी संख्या तुम्हें बूढ़ा नहीं बनाती। तुम बूढ़े तब होते हो जब प्रगति करना बंद कर दो।

जैसे ही तुम्हें लगे कि तुम्हें जो कुछ करना था वह कर चुके, जैसे ही तुम अनुभव करो कि तुम्हें जो कुछ जानना था वह जान चुके, जैसे ही तुम बैठकर अपने परिश्रम का फल भोगना चाहो और यह सोचो कि तुम जीवन में काफी कुछ कर चुके हो तो तुम एकदम बूढ़े हो जाते हो और तुम्हारा क्षय शुरू हो जाता है।

इसके विपरीत, जब तुम्हें यह विश्वास हो कि जो जानना बाकी है उसकी तुलना में तुम जो जानते हो वह कुछ भी नहीं है, जब तुम्हें लगे कि तुमने जो कुछ किया है वह जो कुछ करना बाकी है उसका केवल आरंभ बिंदु है, जब तुम भविष्य को प्राप्त करने योग्य अनंत संभावनाओं से भरे चमकते सूर्य के रूप में देखो तब तुम युवा हो। तुमने धरती पर चाहे जितने वर्ष बिताये हों तुम युवा और भावी कल की उपलब्धियों से समृद्ध हो।

और अगर तुम नहीं चाहते कि तुम्हारा शरीर तुम्हें धोखा दे तो व्यर्थ की उत्तेजना में अपनी शक्ति नष्ट करने से बचो। तुम जो भी करो, शांत, स्थिर और प्रकृतिस्थ होकर करो। शांति और नीरवता में अधिकतम शक्ति है।

(२१-२-१९६८)

*

सुखी और सार्थक जीवन के लिये आवश्यक तत्त्व हैं निष्कपटता, विनय, अध्यवसाय और प्रगति के लिये कभी न बुझनेवाली प्यास। और सबसे बढ़कर तुम्हें प्रगति की असीम संभावना के बारे में विश्वास होना चाहिये। प्रगति ही यौवन है। सौ वर्ष की अवस्था में भी तुम युवक हो सकते हो।

(१४-१-१९७२)

अगर चेतना के विकास को जीवन का मुख्य लक्ष्य मान लिया जाये तो बहुत-सी कठिनाइयों का समाधान मिल जायेगा।

बूढ़ा न होने का सबसे अच्छा तरीका है प्रगति को अपने जीवन का लक्ष्य बनाना।

(१८-१-१९७२)

*

शाश्वत यौवन का रहस्य है हर क्षण नये जीवन में पुनरुज्जीवित होना।

*

आदमी को हमेशा केवल बौद्धिक ढंग से ही नहीं, मनोवैज्ञानिक ढंग से भी सीखते रहना चाहिये, उसे चरित्र की दृष्टि से प्रगति करनी चाहिये, अपने अंदर गुण उपजाने और दोष ठीक करने चाहिये; हर चीज को अपने अज्ञान और अक्षमता को दूर करने का अवसर बनाना चाहिये; तब जीवन बहुत अधिक समय और जीने का कष्ट उठाने योग्य बन जाता है।

(२७-१-१९७२)

*

बच्चा अपने विकास के बारे में चिंता नहीं करता, वह बस बढ़ता जाता है।

*

बच्चे के सरल विश्वास में बड़ी शक्ति होती है।

(१७-११-१९५४)

*

जब बच्चा सामान्य परिस्थितियों में रहता है, तो उसे सहज विश्वास होता है कि उसे जिन चीजों की जरूरत होगी वे सब उसे मिल जायेंगी।

यह विश्वास जीवन-भर अडिग बना रहना चाहिये; लेकिन बच्चे के अंदर अपनी आवश्यकताओं का सीमित, अज्ञान-भरा और ऊपरी भान होता है, उसकी जगह उत्तरोत्तर, अधिक विशाल, अधिक गहरे और अधिक सत्य विचार को लेना चाहिये जो परम प्रज्ञा के साथ मेल खाता हो, यहांतक कि हमें यह अनुभव हो जाये कि केवल भगवान् ही जानते हैं कि हमारी सच्ची आवश्यकताएं क्या हैं और हम हर चीज के लिये उन्हीं पर निर्भर रह सकें।

(१९-११-१९५४)

*

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण शर्त है विश्वास, एक बालक का-सा विश्वास और यह सरल भाव कि जरूरी चीज आ जायेगी, इसके बारे में कोई प्रश्न ही नहीं। जब बच्चे

को किसी चीज की जरूरत होती है तो उसे विश्वास होता है कि वह आ जायेगी। इस प्रकार का सरल विश्वास या निर्भरता सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण शर्त है।

*

बच्चों में भय क्यों होता है? क्योंकि वे कमजोर होते हैं।

वे अपने चारों ओर के वयस्क लोगों से शारीरिक तौर पर कमजोर होते हैं और साधारणतः प्राणिक और मानसिक तौर पर भी कमजोर होते हैं। भय हीनता-भाव से पैदा होता है।

फिर भी, उससे छुटकारा पाने का एक उपाय है, और वह है: भागवत कृपा पर विश्वास रखना और सभी परिस्थितियों में रक्षा के लिये उसी पर निर्भर रहना।

तुम जैसे-जैसे विकसित होते जाओगे, वैसे-वैसे यदि तुम अपने अंदर अंतरात्मा—यानी, अपनी सत्ता के सत्य—के साथ संपर्क को विकसित होने दो, तो अपने भय पर विजय पाते जाओगे और हमेशा यह प्रयास करो कि तुम जो कुछ सोचो, जो कुछ बोलो, जो कुछ करो वह सब इस सत्य की अधिकाधिक अभिव्यक्ति हो।

जब तुम सचेतन रूप से उसमें निवास करोगे, तो फिर तुम्हें अपने जीवन के किसी भी क्षेत्र में किसी चीज का भय न रहेगा, क्योंकि तुम उस वैश्व 'सत्य' के साथ एक होगे जो संसार पर शासन करता है।

(८-८-१९६४)

*

मधुर मां,

कोई बालक अपने मां-बाप या अध्यापकों की सहायता के बिना यह कैसे जान सकता है कि वह क्या है?

तुम्हें अपने-आप उसका पता लगाना चाहिये, लेकिन अपने मन के द्वारा नहीं।

केवल चैत्य पुरुष ही तुम्हें बता सकता है।

मधुर मां,

हमें बचपन में बताया जाता है कि यह अच्छा है और वह बुरा है और हम सारे जीवन यही रट लगाये रहते हैं कि यह अच्छा है और वह बुरा है। वास्तव में, यह कैसे जाना जाये कि क्या अच्छा है और क्या बुरा।

तुम सत्य को तभी जान सकते हो जब तुम भगवान् के बारे में सचेतन होते हो।

*

मैं भूल-भ्रांति से कैसे बच सकता हूं?

यह जानकर कि सत्य क्या है।

*

प्रभो, हम तुझसे प्रार्थना करते हैं:
हम ज्यादा अच्छी तरह समझ सकें कि हम यहां क्यों हैं,
हमें जो करना है उसे ज्यादा अच्छी तरह कर सकें,
हमें यहां जो बनना चाहिये वह बन सकें,
ताकि तेरी इच्छा सामंजस्य के साथ पूरी हो सके।

(२५-१-१९६२)

*

हमारा हर रोज और हर समय का प्रयास यही हो कि हम 'तुझे' ज्यादा अच्छी तरह जान सकें और 'तेरी' सेवा ज्यादा अच्छी तरह कर सकें।

(१-१-१९७३)

*

मधुर मां, वर दे कि इस क्षण और सदा ही हम तेरे सरल बालक बने रहें, और हमेशा तुझे अधिकाधिक प्यार करते चलें।

*

मेरी एक छोटी-सी अम्मी रहती मेरे हिय में;
हम दोनों मिल मुदित हुए हैं, कभी न बिछुड़ें जिय में।

*

मधुर मां,

क्या जब कभी मैं आपको बुलाता हूं तो आप सुन सकती हैं?

मेरे प्रिय बालक,

विश्वास रखो कि तुम जब कभी मुझे बुलाते हो तो मैं सुनती हूं और मेरी सहायता और मेरी शक्ति सीधी तुम्हारी ओर जाती हैं।

मेरे आशीर्वाद सहित।

(१-६-१९६०)

शुभ जन्मदिन।

मैं पूरे दिल के साथ तुम्हें अपनी बांहों में भरती हूं और तुम्हारी उच्चतम अभीप्सा की पूर्ति के लिये आशीर्वाद देती हूं।

सप्रेम।

(३०-८-१९६३)

शुभ जन्मदिन।

गुलाबों (समर्पण) के एक पूरे गुच्छे के साथ ताकि तुम्हारी अभीप्सा चरितार्थ हो और तुम मेरे आदर्श बालक बन जाओ, अपनी अंतरात्मा और अपने जीवन में सच्चे लक्ष्य से अवगत रहो।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

(३०-८-१९६४)

*

छात्रावास के विद्यार्थियों के लिये संदेश

('दॉर्त्वार' छात्रावास के विद्यार्थियों के लिये संदेश)

हम सब अपनी दिव्य जननी के सच्चे बालक बनना चाहते हैं। लेकिन मधुर मां, उसके लिये हमें धीरज और साहस, आज्ञाकारिता, सद्भावना, उदारता और निःस्वार्थता तथा अन्य सभी आवश्यक गुण प्रदान कर।

यही हमारी प्रार्थना और अभीप्सा है।

(१५-१-१९४७)

(बड़े लड़कों के छात्रावास के लिये)

यह दिन तुम्हारे लिये एक नये जीवन का आरंभ हो, एक ऐसे जीवन का जिसमें तुम यह अधिकाधिक जानने की कोशिश करो कि तुम यहां क्यों हो और तुमसे क्या आशा की जाती है।

हमेशा अपनी पूर्णतम और सत्यतम पूर्णता को चरितार्थ करने की अभीप्सा में रहो।

और आरंभ के लिये स्वयं अपने ऊपर लगाये गये नियंत्रण में ईमानदार, सच्चे, सीधे-सादे, उदात्त और पवित्र होने की चेष्टा करो।

मैं हमेशा सहायता करने और राह दिखाने के लिये तुम्हारे साथ रहूंगी।

मेरे आशीर्वाद।

(१९६३)

(संलग्न 'दॉर्त्वार' छात्रावास के लिये)

आज हम सब जो एक सामूहिक स्मरण में इकट्ठे हुए हैं, यह अभीप्सा करते हैं कि यह तीव्रता उस सच्चे ऐक्य का प्रतीक हो जो सदा-सर्वदा अधिक सच्ची और अधिक पूर्ण उपलब्धि के लिये प्रयास पर आधारित हो।

(२५-२-१९६८)

(युवकों का छात्रावास)

हमेशा अपने 'आदर्श' के प्रति निष्ठावान और अपनी क्रिया में सच्चे और निष्कपट रहो।

*

अध्ययन

मेरे प्रिय बालक,

सच्ची बुद्धिमत्ता है किसी भी स्रोत से आनेवाले ज्ञान को सीखने के लिये तैयार रहना।

हम फूल से, पशु से, एक बच्चे से चीजें सीख सकते हैं बशर्ते कि हम हमेशा अधिक जानने के लिये उत्सुक हों क्योंकि संसार में केवल एक ही 'शिक्षक' है—परम

प्रभु—और वे हर चीज में से अभिव्यक्त होते हैं।

मेरे समस्त प्रेम के साथ।

(९-३-१९६७)

*

अच्छा काम करने के लिये अच्छी रुचि होनी चाहिये।

रुचि अध्ययन और सुरुचिपूर्ण लोगों की सहायता से शिक्षित की जा सकती है।

सीखने के लिये, पहले तुम्हें यह अनुभव होना चाहिये कि तुम नहीं जानते।

(१५-१२-१९६५)

*

जब तुम्हें लगे कि तुम कुछ नहीं जानते हो तुम सीखने के लिये तैयार होते हो।[१]

(दिसंबर १९६५)

*

सारा प्रश्न यह है कि क्या विद्यार्थी अपना ज्ञान बढ़ाने और अच्छी तरह रहने के लिये, जो जानना जरूरी है उसे सीखने के लिये विद्यालये जाते हैं—या वे दिखावा करने के लिये और अच्छे अंक लेने के लिये विद्यालय जाते हैं ताकि वे इस बारे में घमंड छांट सकें।

'शाश्वत चेतना' के आगे, सचाई और निष्कपटता की एक बूंद का मूल्य दिखावे और आडंबर के समुद्र से बढ़कर है।

*

देखो, वत्स, दुर्भाग्य की बात यह है कि तुम अपने-आपमें बहुत ज्यादा रमे रहते हो। तुम्हारी उम्र में, मैं पूरी तरह से अपनी पढ़ाई में लगी रहती थी—अपने-आपको जानकारी देने, सीखने, समझने और जानने में लगी रहती थी। इसी में मुझे रस आता था, यही मेरा आवेग था। मेरी मां, जो मुझसे और मेरे भाई से बहुत प्रेम करती थी, हमें कभी अनमना, असंतुष्ट या आलसी न होने देती थी। वह हमारे ऊपर हंसती, हमें डांटती और हमसे कहती थी : "यह क्या मूर्खता है ? हास्यास्पद न बनो, जाओ और अपना काम करो, अपनी अच्छी या बुरी मनोदशा की परवाह न करो ! इसमें कोई मजा नहीं है।"

[१] तकनीकी पाठ्यक्रम के उद्घाटन के समय दिया गया संदेश।

मेरी मां की बात बिलकुल ठीक थी और मैं अनुशासन तथा काम करते हुए एकाग्रता और आत्म-विस्मृति सिखाने के लिये उनकी बहुत कृतज्ञ हूं।

मैंने तुम्हें यह इसलिये बताया है क्योंकि तुम जिस चिंता की बात करते हो वह इसलिये आती है क्योंकि तुम अपने-आपमें बहुत ज्यादा रमे रहते हो। तुम्हारे लिये बहुत ज्यादा अच्छा होगा कि जो कर रहे हो (चित्रकला या संगीत) उसमें मन लगाओ, अपने मन को विकसित करो जो अभीतक बहुत अशिक्षित है, और ज्ञान के वे तत्त्व सीखने में लगाओ जिनका जानना अनिवार्य है यदि तुम अज्ञानी और असंस्कृत नहीं रहना चाहते।

अगर तुम नियमित रूप से दिन में आठ-नौ घंटे काम करो तो तुम्हें भूख लगेगी। तुम अच्छी तरह से खाओगे और शांति से सोओगे और तुम्हारे पास यह सोचने के लिये समय न होगा कि तुम अच्छी मनोदशा में हो या बुरी।

मैं ये सब बातें तुम्हें पूरे प्यार के साथ बता रही हूं और आशा करती हूं कि तुम उन्हें समझ लोगे।

तुम्हारी मां जो तुमसे प्यार करती है।

(२५-५-१९३४)

*

हे मां, मैं आपकी इच्छा के अनुसार चलना चाहता हूं, और कुछ नहीं चाहता।

तो जल्दी से वह रास्ता छोड़ दो जो तुमने अपना रखा है—अपना समय मटरगश्ती और लड़कियों के साथ बातचीत में न गंवाओ। फिर से गंभीरता के साथ काम करना शुरू करो, पढ़ो, अपने-आपको शिक्षित बनाओ, अपने मन को रुचिकर और उपयोगी चीजों में लगाओ, व्यर्थ की बकवास में नहीं और अपने प्राणिक आकर्षणों के लिये झूठे बहाने न बनाओ। अगर सचमुच यह तुम्हारी सच्ची (निष्कपट) इच्छा है तो विश्वास रखो कि मेरी शक्ति विजय पाने में तुम्हें सहायता देगी।

(२७-९-१९३४)

जिन दिनों मैं पढ़ाई नहीं करता, मुझे बुरा लगता है। लेकिन जब मैं पढ़ना शुरू कर देता हूं तो प्रसन्नता वापिस आ जाती है। मैं यह प्रक्रिया नहीं समझ पाता।

प्रक्रिया से तुम्हारा क्या मतलब है? यह कोई प्रक्रिया नहीं है; बुरा लगने का अंत स्वाभाविक रूप से मन को पढ़ाई पर एकाग्र करने का स्वाभाविक परिणाम है। पढ़ाई एक ओर, मन को एक स्वस्थ क्रियाशीलता देती है और दूसरी ओर, उसकी एकाग्रता को छोटे-से भौतिक अहंकार के रुग्ण चिंतन से दूर हटाती है।

(३-१२-१९३४)

माताजी, क्या 'द' के यहां उसकी गुजराती कविताएं पढ़ने के लिये जाना ठीक है ?

यह सब इस पर निर्भर है कि उसका तुम पर क्या प्रभाव पड़ता है। अगर वहां से अधिक शांत और संतुष्ट होकर आते हो तो ठीक है। इसके विपरीत, अगर इससे तुम दुःखी और असंतुष्ट हो जाते हो तो वहां न जाना ज्यादा अच्छा होगा। तुम अवलोकन करो कि तुम्हारे ऊपर क्या असर होता है और उसके अनुसार निर्णय करो।

(१३-१२-१९३४)

मैंने स्वप्न में देखा कि आपने लिखा है : "मेरे बच्चे, तुमने पढ़ना क्यों छोड़ दिया ?" आपने और भी बहुत कुछ लिखा था। मैं चाहूंगा कि अगर संभव हो तो आप वह यहां लिख दें।

हां, वास्तव में कल रात मैंने तुमसे पूछा था कि तुम क्यों नहीं पढ़ते, और मैंने तुमसे कहा था कि प्राणिक आवेगों के आगे इस तरह से झुक जाना, निश्चित रूप से, उन्हें वश में करने का तरीका नहीं है। अगर तुम प्राणिक दुर्भावना और मानसिक अवसाद को खतम करना चाहते हो तो तुम्हें अपने लिये अनुशासन नियत करना चाहिये, और चाहे किसी कीमत पर क्यों न हो, उसे अपने ऊपर लागू करना चाहिये। अनुशासन के बिना आदमी जीवन में कुछ नहीं कर सकता और समस्त योग उसके बिना असंभव है।

जब मुझे बुरा लगता है तो शारीरिक काम करना तो कठिन नहीं होता, पर पढ़ाई में अनुशासन के अनुसार चलना कठिन हो जाता है। फिर भी, मैंने निश्चय किया है कि जब मैं पढ़ाई-लिखाई नहीं करूंगा तो खाना नहीं खाऊंगा।

कैसा अजीब-सा विचार है न तुम्हारा! प्राण के अपराध के लिये शरीर को दंड देना! यह उचित नहीं है।

(२२-१२-३४)

आज सवेरे से बहुत अवसाद छाया है और इसलिये पढ़ना-लिखना असंभव हो गया है।

यह नहीं चलेगा।

तो माताजी, मैं क्या करूं ?

अपने-आपको पढ़ने के लिये बाधित करो और अवसाद भाग जायेगा। क्या तुम यह कल्पना कर सकते हो कि कोई छात्र विद्यालय में जाकर अध्यापक से कहे: "महाशय, आज मैंने गृहकार्य नहीं किया क्योंकि में अवसादग्रस्त था" ?

अध्यापक निश्चय ही उसे कड़ी सजा देगा।

(१६-१-१९३५)

मेरा ख्याल है कि एक बात आपको पसंद नहीं है—कि मैं पढ़ाई-लिखाई लगकर नहीं करता।

पढ़ाई मन को मजबूत बनाती है और उसकी एकाग्रता को प्राण के आवेगों और कामनाओं से हटाती है। मन और प्राण पर काबू पाने के तरीकों में से पढ़ाई-लिखाई पर एकाग्र होना एक बहुत शक्तिशाली तरीका है; इसीलिये पढ़ना-लिखना इतना जरूरी है।

(२८-१-१९३५)

मेरा मन शांत नहीं होता, शायद इसलिये कि मैं पढ़ाई में मेहनत नहीं करता। पढ़ाई में मुझे बहुत मजा नहीं आता।

आदमी मजे के लिये नहीं पढ़ता—वह पढ़ता है सीखने और अपने मस्तिष्क को विकसित करने के लिये।

(१-२-१९३५)

मेरे लिये पढ़ना एकदम असंभव है, क्योंकि जड़ता आ जाती है।

अगर तुम नहीं पढ़ोगे तो जड़ता बढ़ती जायेगी।

(४-३-१९३५)

समझ में नहीं आता, समय कैसे काटूं, समझ में तो कुछ आता नहीं।

पढ़ो, समझने का सबसे अच्छा तरीका यही है।

आप कहती हैं, पढ़ो, लेकिन मुझे पढ़ना अच्छा नहीं लगता।

तुम पढ़ाई में काफी समय नहीं लगाते, इसलिये तुम्हें मजा नहीं आता। आदमी

सावधानी के साथ जो भी करे वह निश्चय ही मजेदार हो जाता है।

(१०-४-१९३५)

तो मैं कौन-सा रास्ता अपनाऊं ? प्रयास करने का ठीक और सच्चा रास्ता कौन-सा है ?

वही करो जो मैंने कल बतलाया था—नियमित और सुव्यवस्थित ढंग से पढ़कर अपने मस्तिष्क से काम करवाओ; तब उन घंटों में जब तुम पढ़ न रहे होगे, तुम्हारा मस्तिष्क काफी काम कर चुकने के कारण आराम कर सकेगा और तुम्हारे लिये यह संभव होगा कि अपने हृदय की गहराई में एकाग्र हो सको और वहां चैत्य स्रोत को पा सको; वहां तुम कृतज्ञता और सच्चे सुख, दोनों के बारे में सचेतन हो सकोगे।

(२२-५-१९३५)

सतत अवसाद के कारण मेरी पढ़ाई खटाई में पड़ी है।

मैं तुम्हें बता चुकी हूं कि **पढ़ाई के द्वारा** ही तुम अवसाद पर विजय पा सकते हो।

(२७-७-१९३५)

मैं यह जानना चाहता हूं कि क्या नियमानुसार छोटे बच्चों के लिये सारे समय खेलते रहना अच्छा है ?

बच्चों के लिये काम और पढ़ाई का एक समय होना चाहिये और खेल का भी समय होना चाहिये।

(१६-११-१९३६)

क्या आपका ख्याल है कि मेरा मन विकसित हो रहा है ?

नियमित पढ़ाई उसे विकसित किये बिना न रहेगी।

(७-१२-१९३६)

मैं पढ़ाई की ओर अधिकाधिक झुक रहा हूं और साधना की ओर कम ध्यान देता हूं। पता नहीं यह वांछनीय है या नहीं।

यह ठीक है; पढ़ाई साधना का अंग बन सकती है।

(८-१२-१९३६)

अगर कोई मुझे पढ़ाता है तो क्या यह जरूरी है कि वह मेरे ऊपर एकाग्र होने के लिये मेरे साथ तादात्म्य स्थापित करे ?

एकाग्रता के बिना कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता।

(१८-५-१९३७)

क्या आपका ख्याल है कि बहुत ज्यादा मानसिक काम की वजह से थकान आती है ?

नहीं, वह **मानसिक तमस्** के कारण आती है ?

(२१-१-१९४१)

*

(किसी अध्यापक ने लिखा कि मेरे विद्यार्थी ने मेहनत नहीं की।)

धीरज बनाये रखो—यह किसी प्रकार का मानसिक तमस् है; एक दिन वे जाग उठेंगे।

*

अपनी किताबें होते हुए भी विद्यार्थी अपने पाठ नहीं सीख सकते।

छोटे बच्चों के साथ बहुत धीरज होना चाहिये और एक ही बात बार-बार दोहराते जाओ, तरह-तरह से समझाते जाओ। धीरे-धीरे वह उनके मन में प्रवेश करेगी।

*

काम में नियमित होने की अपेक्षा बुद्धि और समझने की क्षमता निश्चित रूप से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। स्थिरता बाद में प्राप्त की जा सकती है।

*

माताजी, आलस्य से कैसे छुटकारा पाया जा सकता है ?

आलस्य दुर्बलता या रस के अभाव से आता है। पहली चीज का उपचार करने के लिये—तुम्हें मजबूत होना चाहिये।

दूसरी चीज को ठीक करने के लिये—कुछ रुचिकर काम करना चाहिये।

*

मधुर मां,

आपने मुझसे कहा है कि दुर्बलता को दूर करने के लिये मजबूत बनना चाहिये। माताजी, क्या आप मुझे बतायेंगी कि मजबूत कैसे बना जाता है ?

पहले तुम्हारे अंदर समग्र संपूर्ण रूप से उसके लिये चाह होनी चाहिये और फिर जो कुछ जरूरी है वह करना चाहिये।

*

मानसिक जड़ता से कैसे पिंड छुड़ाया जाये ?

इसका इलाज मन को जगाने का प्रयास नहीं है। उसे अचल, नीरव अवस्था में ऊपर की ओर, अंतर्भासिक ज्योति के क्षेत्र की ओर स्थिर, शांत अभीप्सा में मोड़ो और नीरवता में प्रतीक्षा करो ताकि ज्योति नीचे उतरे और तुम्हारे मस्तिष्क में बाढ़ ला दे। इससे मस्तिष्क थोड़ा-थोड़ा करके इस प्रभाव की ओर खुलेगा और अंतर्भास को ग्रहण और प्रकट करने योग्य बनेगा।

प्रेम और आशीर्वाद।

(२६-९-१९६७)

*

मधुर मां,

पता नहीं इस वर्ष क्या बात है। हम विद्यालय में या क्रीड़ांगण में जरा भी प्रगति नहीं कर पा रहे। हमारे मन हमेशा बेचैन और क्षुब्ध रहते हैं। हम एकाग्रता खो चुके हैं। हम गप्पें लगाने और बुरी बातों के बारे में सोचने में अपना समय नष्ट करते हैं। हम अपनी असफलताओं को पार नहीं कर पाते। माताजी, हम आपसे विनय करते हैं कि हमें इस कष्टकर स्थिति में से उबारिये। हम प्रगति करना चाहते हैं। हम आपके सच्चे बालक बनना चाहते हैं। कृपया मार्ग दिखाइये।

विलाप करने से कोई लाभ नहीं होता।

तुम्हारे अंदर संकल्प होना चाहिये, आवश्यक प्रयास करो।

*

संकल्प-शक्ति को मजबूत बनाने के लिये क्या करना चाहिये ?

उसे प्रशिक्षित करो, जैसे मांसपेशियों से काम लेकर उनसे कसरत करवायी जाती है, वैसे ही इससे कसरत करवाओ।

(२३-३-१९३४)

*

एकाग्रता और संकल्प-शक्ति को मांसपेशियों की तरह विकसित किया जा सकता है; वे नियमित प्रशिक्षण और कसरत से विकसित होते हैं।

*

माताजी,
अपनी संकल्पशक्ति को मजबूत कैसे बनाया जाये ?

कसरत करके।

*

कोई चीज सीखने में कुछ महीनों से अधिक लगते हैं। प्रगति करने के लिये तुम्हें अध्यवसाय के साथ काम करना चाहिये।

(१२-११-१९५४)

*

एक प्रबल आवेग मुझे इतना अधिक अध्ययन करने के लिये बाधित करता है।

जबतक तुम्हें अपने-आपको गठित करने की जरूरत है, अपने मस्तिष्क का निर्माण करने की जरूरत है तबतक तुम्हें अध्ययन के लिये इस आवेग का अनुभव होता रहेगा; लेकिन जब मस्तिष्क भली-भांति बन चुकेगा तो धीरे-धीरे अध्ययन के लिये रुचि भी कम हो जायेगी।

*

हमारे जीवन में तर्कबुद्धि का क्या उपयोग है ?

तर्कबुद्धि के बिना मानव जीवन असंगत और अनियंत्रित रहेगा; हम आवेगमय पशुओं या असंतुलित पागलों जैसे होंगे।

(६-४-१९६१)

*

माताजी, ज्ञान और बुद्धि क्या हैं ? क्या हमारे जीवन में उनकी कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका है ?

ज्ञान और बुद्धि यथार्थ रूप में मनुष्य के उच्चतर मन के गुण हैं जो उसे पशु से अलग करते हैं।

ज्ञान और बुद्धि के बिना व्यक्ति मनुष्य नहीं, मानव रूप में पशु होता है।

आशीर्वाद।

(३०-१२-१९६९)

*

अपने 'वार्तालाप' में आपने कहा है कि बुद्धि सत्य ज्ञान और धरती पर उसकी चरितार्थता के बीच मध्यस्थ का काम करती है। क्या इसका यह मतलब नहीं है कि मन से ऊपर उठकर सत्य ज्ञान प्राप्त करने के लिये बौद्धिक शिक्षण अनिवार्य है ?

एक अच्छा, विशाल, नमनीय और समृद्ध मानसिक यंत्र बनाने के लिये बौद्धिक शिक्षण अनिवार्य है, परंतु उसकी क्रिया वहीं समाप्त हो जाती है।

मन से ऊपर उठने में, वह सहायक की अपेक्षा बाधक अधिक है क्योंकि साधारणतः, एक सुसंस्कृत और शिक्षित मन अपने-आपसे संतुष्ट रहता है और ऐसा विरल ही होता है कि वह अपने-आपको चुप करने की कोशिश करे ताकि उसे पार किया जा सके।

*

तुम जो कुछ जानते हो वह सब, वह चाहे कितना भी अच्छा क्यों न हो, जो तुम

जान सकते हो उसकी तुलना में कुछ भी नहीं है, बशर्ते कि तुम अन्य उपायों का उपयोग कर सको।

*

समझने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि अपनी चेतना में हमेशा इतने ऊंचे उठो कि तुम सभी परस्पर-विरोधी विचारों को एक सामंजस्यपूर्ण समन्वय में एक कर सको।

और उचित वृत्ति के लिये, यह जानना कि क्षणभर के लिये भी अपने एकमात्र लक्ष्य—भगवान् के प्रति आत्म-निवेदन और उनके साथ तादात्म्य—को नजर से ओझल किये बिना नमनीयता के साथ एक स्थिति से दूसरी स्थिति में कैसे जाया जाये।

(२९-४-१९६४)

*

महत्त्वपूर्ण बात है यह जानना कि मन उस एक परम पुरुष को जानने में अक्षम है—इसलिये उनके बारे में जो कुछ कहा या सोचा जाता है वह एक विडंबना और मोटा-मोटा अनुमान है और निश्चित रूप से ऐसे विरोधों से भरा है जिनमें कोई संगति नहीं हो सकती।

इसीलिये हमेशा यह शिक्षा दी गयी है कि सत्य ज्ञान प्राप्त करने के लिये मानसिक नीरवता अनिवार्य है।

(३१-८-१९६५)

*

स्पष्ट समझ, अंतर्दर्शन और उचित क्रिया के लिये एक बहुत-बहुत स्थिर, शांत मस्तिष्क अनिवार्य है।

*

कृपया मुझे विचारों के बुदबुदों और आवश्यकताओं के अंतर्दर्शन के बीच भेद कर सकने में सहायता दीजिये।

ऊपर से प्रेरणा पाने के पहले मन को स्थिर-शांत और नीरव होना चाहिये।

*

मन को स्थिर शांत रहना चाहिये ताकि संपूर्ण अभिव्यक्ति के लिये 'शक्ति' उसके द्वारा प्रवाहित हो सके।

*

हम विद्यार्थी को ठीक तरह सोचना कैसे सिखा सकते हैं?

मानसिक क्षमता नीरव ध्यान में विकसित होती है।

(२३-३-१९६६)

*

मैं अंतर्भास की सहायता से काम करने की कोशिश करूंगा। मेरे प्रयास में सहायता कीजिये।

प्राण को अचंचल बनाओ।

मन को शांत करो।

मस्तिष्क को नीरव और स्थिर रखो—एक समतल भूमि की न्याईं। ऊर्ध्वमुख और एकाग्र।

और प्रतीक्षा करो...

(२९-९-१९६७)

*

तुम मानसिक क्रिया-कलाप के द्वारा मन को स्थिर-शांत नहीं कर सकते, तुम्हें जिस सहायता की आवश्यकता है वह किसी उच्चतर या गहनतर स्तर से प्राप्त हो सकती है। और दोनों को नीरवता में ही पाया जा सकता है।

(१८-१२-१९७१)

*

मन में वाद-विवाद को कैसे रोका जाये?

पहली शर्त है जितना हो सके उतना कम बोलो।

दूसरी शर्त है, केवल उसी चीज के बारे में सोचो जो तुम इस समय कर रहे हो, उसके बारे में मत सोचो जो तुम्हें करना है या जो तुम कर चुके हो।

जो हो चुका है उसके लिये कभी न पछताओ और जो होनेवाला है उसकी कल्पना न करो।

जहांतक बन पड़े अपने विचारों में निराशा को रोको और स्वेच्छापूर्वक आशावादी बनो।

*

माताजी,

स्वतंत्र, शांत, नीरव मन बहुत अच्छी चीज है; मैं उसे ज्यादा-ज्यादा पाना चाहूंगा। मैं अपने अंदर विचारों और भावनाओं के भंवर से बचना चाहूंगा जो मुझे खिलौने की तरह इधर-से-उधर फेंकते रहते हैं।

यह क्रमशः आता है।

जोर मत डालो।

शांत और विश्वस्त रहो।

(१२-३-१९७३)

*

अब, बुद्धि जिस चीज को समझ गयी है उसे सारी सत्ता अनुभव करे। मानसिक ज्ञान का स्थान प्रगति की प्रज्ज्वलित शक्ति को लेना चाहिये।

*

पढ़ना

मधुर मां, आपने कहा है कि मैं ठीक तरह नहीं सोचती। हम अपने विचारों को कैसे विकसित कर सकते हैं ?

तुम्हें बहुत एकाग्रता और ध्यान के साथ ऐसी पुस्तकें पढ़नी चाहिये जो तुम्हें सोचने के लिये बाधित करती हैं, उपन्यास या नाटक नहीं। तुम जो पढ़ो उसका ध्यान लगाओ, जबतक तुम किसी विचार को समझ न जाओ तबतक उसपर मनन करो। कम बोलो, शांत और एकाग्र रहो और तभी बोलो जब बोलना अनिवार्य हो।

(३१-५-१९६०)

*

मैं मोटरकार के बारे में एक पुस्तक पढ़ रहा हूं, लेकिन मैं तेजी से पढ़ जाता हूं, जटिल मशीनों के वर्णन को छोड़ता जाता हूं।

अगर तुम किसी विषय को पूरी तरह से, ईमानदारी के साथ पूरे विस्तार से नहीं सीखना चाहते तो उसे हाथ न लगाना ही ज्यादा अच्छा है। यह मानना एक बहुत बड़ी भूल है कि वस्तुओं के बारे में अधूरा, ऊपरी ज्ञान किसी उपयोग का हो सकता है; यह लोगों का सिर फुला देने के सिवा और किसी काम का नहीं होता, क्योंकि वे मान बैठते हैं कि वे जानते हैं, जब कि सचमुच कुछ भी नहीं जानते।

*

जो कुछ पढ़ो ध्यान से पढ़ो, और अगर तुम उसे भली-भांति नहीं समझ पाये हो तो फिर से दोबारा पढ़ो।

*

'य' ने मुझे लिखा है कि तुम कितने सारे उपन्यास पढ़ते हो। मुझे नहीं लगता कि इस तरह का पढ़ना तुम्हारे लिये हितकर है—और जैसा कि तुमने मुझे बतलाया था, तुम शैली के लिये पढ़ते हो, तो किसी अच्छे लेखक की कोई अच्छी पुस्तक ध्यान से पढ़ना, तेजी से की गयी इस ऊपरी पढ़ाई से ज्यादा अच्छा है।

मेरे उपन्यास पढ़ने के दो कारण हैं, शब्द और शैली सीखना।

सीखने के लिये तुम्हें बहुत ध्यान से पढ़ना चाहिये और जो पढ़ना हो उसे बहुत ध्यान से चुनो।

(२५-१०-१९३४)

क्या आपका ख्याल है कि मुझे गुजराती साहित्य पढ़ना बंद कर देना चाहिये?

यह सब इस पर निर्भर है कि इस साहित्य का तुम्हारी कल्पना पर क्या प्रभाव पड़ता है। अगर वह तुम्हारे सिर में अवांछनीय विचार और तुम्हारे प्राण में कामनाएं भर देता है तो निश्चय ही इस प्रकार की पुस्तकों का पढ़ना बंद कर देना चाहिये।

(२-११-१९३४)

क्या फ्रेंच उपन्यास पढ़ने में कोई हर्ज है?

उपन्यास पढ़ना कभी हितकर नहीं होता।

(२४-४-१९३७)

*

जब कोई गंदी पुस्तकें या अश्लील उपन्यास पढ़ता है तो क्या उसका प्राण मन के द्वारा उसमें रस नहीं लेता?

मन में भी विकार होते हैं। वह प्राण बहुत ही तुच्छ और अपरिष्कृत है जो ऐसी चीजों में रस लेता है।

*

अनगढ़ मनवाले जो कुछ पढ़ते हैं, वह उसके मूल्य की परवाह किये बिना उनमें पैठ जाता है और सत्य के रूप में अपनी छाप छोड़ जाता है। इसलिये उन्हें पढ़ने के लिये जो चीजें दी जायें उनके चुनाव में बहुत सावधानी बरतनी चाहिये और यह देखना चाहिये कि इसमें ऐसी चीजों को ही स्थान मिले जो सच्ची और उनके निर्माण के लिये उपयोगी हों।

(३-६-१९३९)

*

मैं ऐसी साहित्य की कक्षाओं को स्वीकृति नहीं देती जो दिखावटी तौर पर ज्ञान के लिये हैं (?), वे ऐसी मानसिक कीचड़ की अवस्था में धंस जाती हैं जिनके लिये यहां स्थान नहीं है, और जो आगामी कल की चेतना के निर्माण में किसी प्रकार की सहायता नहीं दे सकतीं। तुम्हारे पत्र के सिलसिले में कल मैंने 'क' से यही बात कही थी और मैंने संक्षेप में बताया था कि जो होना चाहिये और जो है उनके बीच के संक्रमणकाल को मैं किस रूप में देखती हूं।

अगर हम, यहां या वहां एक सच्ची और ज्योतिर्मयी अभीप्सा की अभिव्यक्ति देख सकें, तो उसे अध्ययन का अवसर बनाया जा सकता है और वह एक मजेदार उन्नति होगी।

तुम साथ मिलकर इस विषय का निरीक्षण करो और मुझे बताओ कि तुम क्या निश्चय करते हो।

बहरहाल : "साहित्य की कक्षाएं" बंद।★

(१८-७-१९५९)

*

साहित्य का मूल्य क्या है ?

यह इस पर निर्भर है कि तुम क्या होना या करना चाहते हो। अगर तुम साहित्यिक बनना चाहते हो तो तुम्हें बहुत-सा साहित्य पढ़ना चाहिये। तब तुम जानोगे कि क्या लिखा गया है और तुम पुरानी चीजों को नहीं दोहराओगे। तुम्हें एक जाग्रत मन रखना चाहिये और यह जानना चाहिये कि चीजें प्रभावशाली ढंग से कैसे कही जायें।

लेकिन अगर तुम सच्चा ज्ञान चाहते हो, तो वह तुम्हें साहित्य में नहीं मिलेगा। मेरी दृष्टि में, साहित्य अपने-आपमें बहुत ही निम्न स्तर पर है—इसमें अधिकांश सृजनात्मक प्राण का कार्य है, और जब वह बहुत ऊंचा उठता है तो विशुद्ध चक्र (कंठ स्थित चक्र) तक जा पाता है जो बाह्य अभिव्यक्ति वाले मन का स्थान है। यह मन तुम्हें बाहरी चीजों के संपर्क में ला देता है। और, अपने क्रिया-कलाप में, साहित्य शब्दों और विचारों को आपस में जोड़ने का खेल है। यह मन में एक प्रकार का कौशल विकसित कर सकता है, विवाद, वर्णन, मनोरंजन और विनोद की कुछ क्षमता पैदा कर सकता है।

मैंने अंग्रेजी साहित्य में बहुत कुछ नहीं पढ़ा—मैंने कुछ सौ पुस्तकें ही देखी हैं। लेकिन मैं फ्रेंच साहित्य को बहुत अच्छी तरह जानती हूं—मैंने एक पूरा पुस्तकालय पढ़ रखा है और मैं कह सकती हूं कि 'सत्य' की दृष्टि से देखें तो उसका कोई अधिक मूल्य नहीं है। सच्चा ज्ञान मन के ऊपर से आता है। साहित्य बहुत सामान्य या तुच्छ विचारों का खेल होता है। कुछ विरले अवसरों पर ऊपर से कोई किरण आ जाती है। अगर तुम हजारों पुस्तकों में खोजो तो कहीं इधर-उधर जरा-सा अंतर्भास दीख जायेगा। बाकी कुछ नहीं है।

मैं यह नहीं कह सकती कि साहित्य पढ़ने से तुम श्रीअरविन्द को ज्यादा अच्छी तरह समझने के योग्य हो जाते हो। इसके विपरीत, यह बाधक भी हो सकता है। क्योंकि शब्द तो वही होते हैं लेकिन उनका उपयोग श्रीअरविन्द के उपयोग से इतना भिन्न होता है, उन्हें जिस ढंग से इकट्ठा रखा गया है वह श्रीअरविन्द के ढंग से इतना अलग होता है कि ये शब्द तुम्हें उस ज्योति से बहुत दूर कर देते हैं जिस ज्योति का श्रीअरविन्द इन शब्दों द्वारा वहन करना चाहते हैं। श्रीअरविन्द के प्रकाश तक पहुंचने के लिये हमें अपने मन को साहित्य ने जो कुछ कहा है या किया है उस सबसे खाली कर लेना चाहिये। हमें अंदर पैठकर ग्रहणशील नीरवता में निवास करना और फिर उसे ऊपर की ओर मोड़ना चाहिये। केवल तभी हम ठीक ढंग से कोई चीज पा सकते हैं। अपने सबसे बुरे रूप में, मैंने देखा है कि साहित्य का अध्ययन आदमी को इतना मूढ़ और विकृत बना देता है कि वह श्रीअरविन्द की अंग्रेजी का मूल्य आंकने बैठ जाये और उनके व्याकरण में भूल निकाले!

लेकिन हां, मैं साहित्य के अध्ययन को बिलकुल अस्वीकृत नहीं कर रही। हमारे

बच्चों में से बहुत-से अनगढ़ अवस्था में हैं और साहित्य उन्हें कुछ रूप, कुछ लचकीलापन दे सकता है। उन्हें कई स्थानों पर काफी तराशने की जरूरत है। उन्हें बड़ा बनाने, सक्रिय और फुर्तीला बनाने की जरूरत है। साहित्य एक प्रकार की जिम्नास्टिक्स का काम देकर, उन्हें झकझोर कर तरुण बुद्धि को जगा सकता है।

मैं इतना और कह दूं कि अभी पिछले दिनों अध्यापकों में साहित्य के मूल्यांकन के बारे में जो विवाद चला था वह तुम्बी में तूफान के जैसा था। यह वास्तव में उस समस्या का एक अंग है जिसका संबंध शिक्षा के पूरे आधार के साथ है। मेरी दृष्टि में हमारे विद्यालय के प्रत्येक विभाग में जो कुछ हो रहा है वह अपनी नींव में एक ही समस्या है। जब मैं हर जगह की शिक्षा पर नजर डालती हूं तो मुझे उस योगी के जैसा अनुभव होता है जिससे कहा गया था कि एक दीवार के आगे बैठकर ध्यान करे। मुझे अपने सामने एक दीवार-सी दिखायी देती है। यह एक भूरी-सी दीवार है जिसमें इधर-उधर कुछ नीली धारियां हैं—ये अध्यापकों के कुछ सार्थक काम करने के प्रयास हैं—लेकिन सब कुछ ऊपरी सतह पर हो रहा है और इस सबके पीछे सब कुछ इस दीवार के जैसा है जिस पर मैं इस समय अपना हाथ मार रही हूं। यह कठोर और अभेद्य है, यह सच्चे प्रकाश को बंद कर देती है। कोई द्वार नहीं है—इसमें से घुसकर उस प्रकाश में नहीं जाया जा सकता।

जब युवा विद्यार्थी मेरे पास आते हैं और मुझे अपने काम के बारे में कुछ बतलाते हैं तो हर बार जब मैं उनसे कोई उपयोगी चीज कहना चाहती हूं तो यही ठोस दीवार मेरे मार्ग में बाधक होती है।

मेरा इरादा है कि शिक्षा की समस्या को अपने हाथ में लूं। मैं उसके लिये अपने-आपको तैयार तैयार कर रही हूं। इसमें दो वर्ष लग सकते हैं। मैंने पवित्र[१] को चेतावनी दे दी है कि जब मैं हस्तक्षेप करूंगी और चीजों को फिर से गढूंगी तो एक बवण्डर के जैसा लगेगा। लोगों को ऐसा लगेगा कि वे अपने पैरों पर खड़े तक नहीं रह सकते! इतने प्रकार की चीजें उलट-पुलट जायेंगी। पहले चारों ओर घबराहट फैलेगी। लेकिन, इस बवण्डर के परिणामस्वरूप, दीवार टूट जायेगी और प्रकाश फट पड़ेगा।

मुझे लगा कि पहले से बतला देना अच्छा है कि आमूल परिवर्तन होगा। इस तरह अध्यापक उसके लिये तैयार हो सकते हैं।

मैं साहित्य के अध्यापकों की सद्भावना के बारे में शंका या अवहेलना नहीं करना चाहती। और कुछ पुराने अध्यापक हैं जो सचमुच अपना अच्छे-से-अच्छा प्रयास कर रहे हैं। मैं इस सबकी सराहना करती हूं। और विश्वविद्यालय में परिवर्तन के बारे में मैंने हर चीज का ख्याल रखा है। लेकिन मैं फिर से कहती हूं कि यह सारी बहस,

[१] आश्रम के शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष।—अनु०

एक व्यर्थ की और बहुत सारी उत्तेजना रही है जिसे हम चीटियों की लड़ाई या सांप निकल जाने पर लकीर पीटना कह सकते हैं।★

*

एक सूक्ष्म जगत् है जहां तुम चित्रकारी, उपन्यास, सब प्रकार के नाटक और सिनेमा तक के लिये समस्त संभव विषय पा सकते हो।

अधिकतर लेखक वहीं से अपनी प्रेरणा पाते हैं।

*

(एक अध्यापक ने सुझाव दिया कि अपराध, हिंसा, स्वच्छंदता आदि से संबंध रखनेवाली पुस्तकें विद्यर्थियों की पहुंच से बाहर होनी चाहिये।)

यह इतना विषय का प्रश्न नहीं है बल्कि जीवन की धारणा में गंवारूपन और संकीर्णता और स्वार्थपूर्ण सामान्य बुद्धि का प्रश्न है जो कलाहीन, महानताहीन और सुरुचिहीन ढंग से अभिव्यक्त है। ऐसी चीजों को सावधानी के साथ बड़े और छोटे बच्चों की पाठ्य सामग्री में से हटा देना चाहिये। वे सब चीजें जो चेतना को नीचा करती और घटाती हैं निकाल दी जानी चाहिये।

(१-११-१९५९)

*

किताबों का चुनाव सावधानी के साथ करना चाहिये। कुछ किताबों में ऐसे विचार होते हैं जो निश्चय ही हमारे बच्चों की चेतना को नीचा करते हैं। सिर्फ ऐसी पुस्तकों के बारे में ही सलाह दी जा सकती है जो हमारे आदर्श के अनुकूल हों या जिनमें ऐतिहासिक कहानियां, साहसभरी कहानियां या खोजबीन की बातें हों।

ऐसी किताबों के बारे में तुम कभी जरूरत से ज्यादा सावधान नहीं हो सकते जिनका बहुत विषैला असर होता है।

आशीर्वाद।

(१७-४-१९६७)

*

मैं रामायण-महाभारत की कहानियों और तुलसी, कबीर, मीरा आदि के गीतों पर बहुत जोर देता हूं। क्या इन प्राचीन चीजों को जारी रखना आपके मार्ग के विपरीत है ?

हर्गिज नहीं—महत्त्व मनोवृत्ति का है। भूत को भविष्य की ओर उछलने का तख्ता होना चाहिये, प्रगति को रोकनेवाली जंजीर नहीं। जैसा कि मैंने कहा है, सब कुछ भूतकाल की ओर तुम्हारी मनोवृत्ति पर निर्भर है।

कुछ अच्छे-अच्छे कवियों और संतों ने राधा और कृष्ण के प्रेम के बारे में इस तरह लिखा है मानों वह ऐहिक प्रेम हो।

मैंने इसे हमेशा सच्चे शब्द और ठीक भाषा पाने की अक्षमता माना है।

*

यह सब बेहूदगी पढ़ना बंद कर दो। जो रहस्यवाद पुस्तकों में मिल सकता है वह प्राणिक और अत्यंत भयावह होता है।

*

अगर तुम सचमुच जानना चाहते हो कि संसार में क्या हो रहा है तो किसी प्रकार के भी अखबार पढ़ना बंद कर दो क्योंकि वे झूठ से भरे होते हैं।

अखबार पढ़ने का मतलब है महान् सामूहिक मिथ्यात्व में भाग लेना।

(२-२-१९७०)

माताजी, अगर हम अखबार न पढ़ें तो यह कैसे जान सकते हैं कि हमारे देश में तथा अन्य देशों में क्या हो रहा है। हमें उनसे कम-से-कम कुछ अंदाज तो हो ही जाता है, है न ? या उन्हें बिलकुल न पढ़ना ज्यादा अच्छा होगा।

मैंने यह नहीं कहा कि तुम्हें अखबार नहीं पढ़ने चाहिये। मैंने कहा है कि तुम जो कुछ पढ़ो उस पर आख मूंद कर विश्वास न कर लो। तुम्हें जानना चाहिये कि सत्य एक अलग ही चीज है।

आशीर्वाद।

(४-२-१९७०)

*

मैं देखना चाहता हूं कि मैं पढ़ना बिलकुल बंद कर दूं तो क्या होगा ?

अपने मन को सदा एक ही चीज पर स्थिर रखना मुश्किल है, और अगर उसे व्यस्त रखने के लिये काफी काम न दिया जाये तो वह बेचैन हो उठता है। इसलिये मेरा ख्याल है कि पढ़ना एकदम बंद कर देने की जगह ज्यादा अच्छा यह है कि पुस्तकों का चुनाव सावधानी के साथ करो।

*

(किसी आश्रमवासी को अपनी पुस्तक 'प्रार्थना और ध्यान' देते हुए माताजी ने यह टिप्पणी लिखी थी)

इस पुस्तक को मत पढ़ो जबतक कि तुम्हारे अंदर यह इरादा न हो कि तुम उसके अनुसार काम करोगे।

*

पुस्तकालय को एक बौद्धिक मंदिर होना चाहिये जहां आदमी प्रकाश और प्रगति पाने के लिये आता है।

*

आचरण

बच्चों को सदा क्या याद रखना चाहिये

पूर्ण सच्चाई की आवश्यकता।
'सत्य' की अंतिम विजय की निश्चयता।
सिद्धि के संकल्प के रहते निरंतर उन्नति की संभावना।

*

आदर्श बालक

शान्त स्वभाव होता है

जब सारी बातें उसके विरुद्ध जाती हुई मालूम होती हैं अथवा सभी निर्णय उसके विपक्ष में होते हैं तब भी वह क्रोधित नहीं होता।

उत्साही होता है

जो कुछ वह करता है उसे वह अपनी योग्यता के अनुसार उत्तम-से-उत्तम रूप में करता है और यह जानते हुए भी कि असफलता प्रायः निश्चित है, वह अपना कार्य निरंतर करता रहता है। वह सर्वदा सीधे ढंग से ही विचार करता है और सीधे ढंग से ही कार्य करता है।

सत्यनिष्ठ होता है

वह कभी सत्य बोलने से नहीं डरता—परिणाम चाहे कुछ भी क्यों न हो।

धैर्यशील होता है

अपने प्रयासों का फल देखने के लिये यदि उसे दीर्घ काल तक प्रतीक्षा करनी पड़े तो भी वह निरुत्साहित नहीं होता।

सहनशील होता है

वह सभी अनिवार्य कठिनाइयों और दुःखों का सामना करता है और उनके कारण मन में जरा भी नहीं झुंझलाता।

अध्यवसायी होता है

वह अपने प्रयास को कभी ढीला नहीं होने देता—चाहे जितने लंबे समय तक उसे क्यों न जारी रखना पड़े।

समचित्त होता है

वह सफलता और विफलता दोनों अवस्थाओं में समता बनाये रखता है।

साहसी होता है

चाहे उसे बहुत बार पराजय का सामना क्यों न करना पड़े, वह हमेशा अंतिम विजय के लिये संग्राम में लगा रहता है।

आनन्दी होता है

वह जानता है कि सब प्रकार की परिस्थितियों में किस तरह हंसा जा सकता है और हृदय को प्रसन्न रखा जा सकता है।

विनयी होता है

वह अपनी सफलता के ऊपर गर्व नहीं करता और न अपने साथियों से अपने को बड़ा ही समझता है।

उदार होता है

वह दूसरों के गुणों की प्रशंसा करता है और सफलता प्राप्त करने में दूसरों को सहायता देने के लिये बराबर तत्पर रहता है।

ईमानदार और आज्ञाकारी होता है

वह सब प्रकार के अनुशासनों को मानता है और सदा ही ईमानदारी से काम लेता है।

('बुलेटिन', अगस्त १९५०)

*

आदर्श बालक समझदार होता है। उसे जो कुछ कहा जाये वह सब समझता है, वह सीखने से पहले अपने पाठ को जानता है और उससे जो भी पूछा जाये वह उसका उत्तर देता है।

*

उसे भविष्य पर श्रद्धा होती है, भविष्य सौंदर्य और प्रकाश से भरा हुआ और आनेवाली उपलब्धियों से भरपूर है।

बचपन भविष्य का प्रतीक और आनेवाली विजयों की आशा है।

*

आदर्श बालक

...जब विद्यालय में हो तो पढ़ना चाहता है,
...खेल के मैदान में हो तो खेलना चाहता है,
...भोजन के समय खाना चाहता है,
...सोने के समय सोना चाहता है,
...हमेशा अपने चारों ओर के लोगों के लिये प्रेम से भरा होता है,
...को हमेशा भागवत 'कृपा' पर विश्वास होता है,
...भगवान् के लिये गहरे आदर से भरा होता है।

बच्चे को जो चीजें सिखानी चाहियें

१. पूरी पूरी सचाई और निष्कपटता की जरूरत।
२. अंत में 'सत्य' की ही विजय की निश्चिति।
३. प्रगति की संभावना और उसके लिये संकल्प।
अच्छा स्वभाव, न्याय-संगत व्यवहार, सत्यनिष्ठा।
धैर्य, सहनशीलता, अध्यवसाय।
समता, साहस, प्रसन्नता।

*

११ और १३ वर्ष की अवस्था के बच्चों की पढ़ाई में मुख्य रूप से किस बात पर ध्यान देना चाहिये ?

सबसे महत्त्वपूर्ण बात जो उन्हें सिखानी चाहिये वह है सच्चे और निष्कपट होने की परम आवश्यकता।

समस्त असत्य को, चाहे वह कितना भी हल्का क्यों न हो, अस्वीकार करो।

उन्हें सदा प्रगति करते रहना भी सिखाना चाहिये, क्योंकि जैसे ही कोई प्रगति करना बंद करता है, वैसे ही वह पीछे गिरता है और यह क्षय का आरंभ है।

*

मैं जैसा देखती और जानती हूं उसके अनुसार, सामान्य नियम यह होना चाहिये कि चौदह वर्ष से ऊपर के बच्चों को स्वाधनीता मिलनी चाहिये। उन्हें सलाह तभी दी जाये जब वे सलाह मांगें।

उन्हें यह पता होना चाहिये कि अपने जीवन की व्यवस्था करने के लिये वे स्वयं जिम्मेदार हैं।

*

अभी तुमने जो विचार और भाव प्रकट किये हैं उन्हें सुनकर मैं बहुत प्रसन्न हूं और मैं तुम्हें अपने आशीर्वाद देती हूं। मैं बस, यही चाहती हूं कि तुम्हारे विचार केवल आदर्श न बने रहें बल्कि वास्तविकताएं बन जायें। तुम्हारी यह प्रतिज्ञा होनी चाहिये कि आदर्श को अपने जीवन और चरित्र में चरितार्थ करो। मैं इस अवसर पर तुम्हें कुछ ऐसी बात बताती हूं जो मैं तुम्हें बहुत दिनों से बतलाना चाहती थी। यह तुम्हारी पढ़ाई के बारे में है। स्वभावतः अपवाद होते हैं पर अपवाद ही नियम को बल देते हैं। उदाहरण के लिये, तुमने आज छुट्टी मांगी। मुझे नहीं लगा कि तुम्हें अधिक विश्राम की जरूरत है। तुम्हारा यहां का जीवन लगभग सतत विश्राम के क्रम पर गठित है। फिर भी, मैंने तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार कर ली। लेकिन तुमने "शुभ-समाचार" को जिस तरह लिया उससे मुझे कष्ट हुआ। तुममें से कुछ ने तो इसे विजय भी मान लिया। लेकिन मैं पूछती हूं, किसकी विजय ? किसके विरुद्ध विजय ? अधिकाधिक सीखने और जानने के आनंद पर निश्चेतना की विजय ? सुव्यवस्था और नियम पर अव्यवस्था की विजय ? प्रगति और आत्म-विजय के प्रयास पर अज्ञानपूर्ण और ऊपरी इच्छा-शक्ति की विजय ?

तुम्हें मालूम होना चाहिये कि यह जीवन और शिक्षा की सामान्य अवस्था में रहनेवाले लोगों की सामान्य प्रवृत्ति है। लेकिन तुम—अगर तुम उस महान् आदर्श को चरितार्थ करना चाहते हो जो हमारा लक्ष्य है, तो तुम्हें सामान्य जीवन की अंधी और अज्ञानपूर्ण स्थितियों में रहनेवाले सामान्य लोगों की सामान्य और निरर्थक प्रतिक्रियाओं में संतुष्ट न रहना चाहिये।

जब मैं ऐसी बातें कहती हूं तो लगता है कि मैं बहुत पुराने ख्यालों की हूं, फिर भी, मुझे कहना चाहिये कि तुम्हें बाहरी प्रभाव और सामान्य आदतों के बारे में बहुत ज्यादा सावधान रहना चाहिये। तुम्हें उनको अपनी भावनाओं और अपनी जीवन-प्रणाली को आकार देने की स्वीकृति न देनी चाहिये। जो कुछ भी बाहरी और विजातीय वातावरण से आये उसे अपने अंदर न कूद पड़ने दो—वह सब अतिसामान्य और अज्ञानपूर्ण होता है। अगर तुम नव मानव के परिवार के बनना चाहते हो तो दयनीय रूप में आज और बीते कल के बच्चों का अनुकरण न करो। दृढ़, बलवान् और श्रद्धा से भरपूर बनो। जैसा कि तुम कहते हो महान् विजय प्राप्त करने के लिये युद्ध करो और उसमें जीतो। मुझे तुम पर भरोसा है और मैं तुम पर विश्वास करती हूं।

विश्वविद्यालय के वार्षिकोत्सव के समय मैंने जो कहा था उसे मैंने अभीतक

प्रकाशित नहीं किया है। मैंने आशा की थी कि तुम इस पाठ से लाभ उठाओगे और अपनी गतिविधि को सुधार लोगे। खेद के साथ मुझे कहना पड़ता है कि स्थिति सुधरी नहीं है : ऐसा मालूम होता है कि कुछ विद्यार्थियों ने कक्षा का समय अपने बुरे-से-बुरे रूप को प्रकट करने के लिये चुना है। वे सड़क के छोकरों से भी ज्यादा बुरा व्यवहार करते हैं। न केवल यह कि वे उन्हें दिये गये अध्यापक से लाभ नहीं उठाते, बल्कि औरों को भी पाठ का लाभ न उठाने देने में शरारत-भरी प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

हम जगत् को यह दिखाना चाहते हैं कि भावी कल का मनुष्य कैसा होना चाहिये। क्या हम उनके आगे यही उदाहरण रखेंगे ?★

(अप्रैल १९५३ में प्रकाशित)

*

अध्यापकों की सभा ने कुछ विद्यार्थियों के नियंत्रण, सदाचार और सद्व्यवहार के बारे में चिंता प्रकट की।

मैं शिष्ट व्यवहार की आवश्यकता पर जोर देती हूं। मैं नाली के कीड़े जैसे व्यवहार में कोई बड़ी बात नहीं देखती।

(४-३-१९६०)

*

सच्चा बल और सुरक्षा हृदय में स्थित भागवत सत्ता से आते हैं।

अगर तुम इस सत्ता को हमेशा अपने अंदर रखना चाहो तो सावधानी के साथ वाणी, आचार और क्रिया से समस्त अशिष्टता और गंवारूपन को दूर रखो।

स्वाधीनता को स्वच्छंदता और आजादी को अभद्र व्यवहार न मान बैठो : विचार शुद्ध होने चाहिये और अभीप्सा तीव्र।

(२६-२-१९६५)

*

क्या यह जो स्वाधीनता हमें दी गयी है वह उन लोगों के लिये खतरनाक नहीं है जो अभी तक जाग्रत् नहीं हैं, जो अभीतक अचेतन हैं ? किस बिरते पर हमें यह सौभाग्य प्रदान किया गया है ?

संकट और जोखिम प्रगति का भाग होते हैं। उनके बिना, कभी कोई चीज आगे न बढ़ेगी; इसके अतिरिक्त, ये उन लोगों के चरित्र-निर्माण के लिये अनिवार्य हैं जो प्रगति करना चाहते हैं।

(१३-४-१९६६)

*

दो चीजें करने की जरूरत है। बच्चों को यह सिखाना चाहिये :

क) परिणाम चाहे कुछ क्यों न हो, वे कभी झूठ न बोलें;

ख) उग्रता, कोप, क्रोध पर संयम रखें।

अगर ये दो चीजें की जा सकें, तो वे अतिमानवता की ओर ले जाये जा सकते हैं। यह ख्याल है कि अगर हम परंपराओं और बंधनों को तोड़ें तो हम सामान्य मानवजाति की सीमाओं से मुक्त हो जाते हैं। लेकिन यह गलत है।

जिसे हम "परामानव" कह सकते हैं वह होने के लिये इन दो चीजों को पाना जरूरी है : झूठ न बोलना और अपने-आपको वश में रखना।

भगवान् के लिये संपूर्ण भक्ति सबसे अंतिम अवस्था है, लेकिन ये दो बातें पहले चरितार्थ करनी होंगी।★

(१८-७-१९७१)

*

मनुष्य होने के लिये अनुशासन अनिवार्य है। अनुशासन के बिना तुम जानवर के सिवा कुछ नहीं हो। मैं तुम्हें दो सप्ताह देती हूं ताकि तुम यह दिखा सको कि तुम सचमुच बदलना चाहते हो और नियंत्रण में रहना चाहते हो। अगर तुम नियंत्रित और आज्ञाकारी बनना चाहते हो तो मैं तुम्हें एक और अवसर देने के लिये तैयार हूं। लेकिन धोखेबाजी की कोशिश मत करो...। कपट का जरा-सा भी चिह्न दिखायी दिया तो मुझे तुम्हें भेज देना पड़ेगा।

व्यक्ति आदमी बनना तभी शुरू करता है जब वह उच्चतर और सत्यतर जीवन के लिये अभीप्सा करना शुरू करता है और रूपांतर का अनुशासन स्वीकार करता है।

इसके लिये तुम्हें अपनी निम्नतर प्रकृति और अपनी कामनाओं को वश में करने से प्रारंभ करना चाहिये।

(८-३-१९७२)

*

विद्यार्थियों से

कक्षा में शोर मचाना स्वार्थपूर्ण मूढ़ता का कार्य है।

अगर तुम चुपचाप ध्यान देकर कक्षा में उपस्थित होने का इरादा नहीं रखते तो न आना ज्यादा अच्छा है।

*

विद्यालय में लड़ना, कक्षा में लड़ना, क्रीड़ांगण में लड़ना, गली में लड़ना, घर पर

लड़ना (चाहे अपने घर में हो या छात्रावास में) मना है।

हमेशा और हर जगह बच्चों को आपस में लड़ने की मनाही है, क्योंकि हर बार, जब तुम किसी पर प्रहार करते हो तो वह तुम्हारी अपनी अंतरात्मा पर प्रहार होता है।

(१५-१-१९६३)

*

जब मैं अपने खेल के साथियों से असहमत होती थी तब जिस उपाय को काम में लाती थी, तुम्हें भी वही उपाय सुझा रही हूं। उन दिनों मैं बहुत संवेदनशील थी, जैसे तुम हो। जब वे बुरा-भला कहते तो मुझे बहुत चोट लगती थी, विशेषकर जब वे ऐसे लोग होते जिन्हें मैंने हमेशा सहानुभूति और सद्भावना दिखायी थी। मैं अपने-आपसे कहा करती थी : "मैं दुःखी और दीन क्यों बनूं ? अगर वे जो कहते हैं वह ठीक है तो मुझे खुश होना चाहिये कि मुझे यह पाठ मिला और मुझे अपने-आपको ठीक कर लेना चाहिये; और अगर वे गलती पर हैं तो मैं उनके लिये चिंता क्यों करूं ? —उन्हें अपनी भूलों के लिये दुःखी होना चाहिये। दोनों अवस्थाओं में मेरे लिये सबसे अच्छी और प्रतिष्ठापूर्ण बात यही है कि मैं बलवान्, शांत और अविचल बनी रहूं।"

मैं अपने-आपको जो पाठ आठ वर्ष की अवस्था में पढ़ाया करती थी और जिसका अनुसरण करने की कोशिश करती थी वह इसी प्रकार के सभी उदाहरणों में अब भी उपयोगी हैं।

(१७-४-१९३२)

*

बच्चों से कुछ बातें

१. अगर तुम यह नहीं चाहते कि दूसरे तुम्हारा मजाक करें तो तुम भी औरों का मजाक न उड़ाओ।

२. अगर तुम चाहते हो कि लोग तुम्हारा सम्मान करें तो तुम भी हमेशा सम्माननीय ढंग से काम करो।

३. अगर तुम चाहते हो कि सब तुमसे प्यार करें तो तुम भी सबसे प्यार करो।

*

चूंकि यहां लड़के-लड़कियां एक साथ पढ़ते हैं इसलिये हमने हमेशा आग्रह किया है कि उनके आपसी संबंध सामान्य साथियों जैसे हों जिनमें सेक्स या कामुकता का कोई स्थान न हो; और सब प्रकार के प्रलोभनों से बचने के लिये उन्हें एक-दूसरे के कमरे में जाने या अकेले में गुप्त रूप से मिलने के लिये मना किया गया है। यह हर

एक के आगे स्पष्ट कर दिया गया है। अगर इन नियमों का कठोरता से पालन किया जाये तो कोई अप्रिय चीज नहीं हो सकती।

(१६-८-१९६०)

*

ज्योतिषियों का कहना है कि जिनका जन्म नवम्बर में होता है वे सेक्स के पीछे पागल होते हैं।

ज्योतिषी जो कहते हैं उस पर विश्वास ही क्यों करते हो ? यह विश्वास ही कष्ट लाता है।

श्रीअरविन्द कहते हैं कि आदमी वही बन जाता है जो वह अपने बारे में सोचता है।

इस उपाय का उपयोग करके देखो, यह सोचो कि तुम अच्छे बच्चे हो और सेक्स से छुटकारा पा जाओगे।

आग्रह के साथ लगातार पांच वर्षों तक इस उपाय का प्रयोग करो। अपने अंदर संदेह या अनुत्साह को घुसने मत दो और पांच साल के बाद मुझे परिणाम बताना।

इसका बहुत ख्याल रखो कि परिणाम के बारे में कभी संदेह न करना।

(१९६५)

तुम इस सेक्स के मामले को बहुत अधिक महत्त्व दे रहे हो।

उसके बारे में बिलकुल न सोचो—ज्यादा रुचिकर चीजों में रस लो। ज्ञान और चेतना में बढ़ने की कोशिश करो और जब सेक्स के विचार या सेक्स के आवेग आये तो उन्हें लात मारकर भगा दो—तब तुम मेरे सैनिकों में से एक बनने की आशा कर सकते हो।

(१९६५)

*

मैं पहले ही तुम सबसे कह चुकी हूं कि यह न सोचो कि तुम लड़के हो या लड़की। अपने-आपको मानव सत्ताएं मानो जो समान रूप से भगवान् को पाने, वही होने और उन्हें अभिव्यक्त करने के लिये प्रयत्नशील हैं।

(१६-२-१९६६)

*

सेक्स के बारे में जानकारी का एकदम अभाव गंभीर तकलीफें पैदा कर सकता है। मैं जिन बच्चों को जानता हूं उन्हें कुछ जानकारी देना चाहता हूं।

शरीर-विधान की दृष्टि से कुछ विचार देना विकृति लानेवाले लज्जा के पुराने हानिप्रद और मूर्खतापूर्ण भाव को दूर कर सकते हैं।

कुछ विद्यार्थी कहते हैं कि हम लिंगहीन समाज की बाट जोह रहे हैं, फिर भाषा में लिंग के झमेले में क्यों पड़ें ?

यह केवल मजाक है... या मन की एक मरोड़ है और जो सलाह दी गयी है उसे होशियारी के साथ समझने से इंकार करती है।

कुछ अच्छे विद्यार्थी धन को इतना अधिक महत्त्व देते हैं कि सुनकर एक धक्का लगता है। क्या हम इस विषय पर बातचीत कर सकते हैं ?

हां, कोशिश करो—इसकी बहुत अधिक जरूरत है। ऐसा लगता है कि आजकल धन ही परम प्रभु बन गया है—सत्य पृष्ठभूमि में हटता जा रहा है, रहा प्रेम, वह तो बिलकुल अदृश्य है !

मेरा आशय है भागवत प्रेम से, क्योंकि मनुष्य जिसे प्रेम कहते हैं वह तो धन का बड़ा अच्छा मित्र है।

जब कोई बच्चा तुम्हें अपने परिवार के धन-दौलत की कहानियां सुनाकर प्रभावित करना चाहे तो चुपचाप मत बैठे रहो। तुम्हें उसे समझाना चाहिये कि यहां संसारी दौलत का महत्त्व नहीं है, केवल उसी धन का कुछ महत्त्व है जो भगवान् को अर्पण कर दिया गया हो, कि तुम बड़े मकान में रहने से, पहले दर्जे में यात्रा करने से या बहुत खुले हाथों खर्च करने से बड़े नहीं बन जाते। तुम्हारी महत्ता सत्यवादी, निष्कपट और कृतज्ञ होने से ही बढ़ सकती है।★

*

मैंने कहा है और मैं इस निर्णय को फिर से दोहराती हूं कि पन्द्रह साल से छोटे बच्चों को नौ बजे तक सो जाना चाहिये—जो ऐसा नहीं करते वे आज्ञाकारी नहीं हैं और यह बात दुःखद है।

*

माताजी, नींद के लिये आधी रात से पहले का समय आधी रात के बाद के समय से ज्यादा अच्छा क्यों है?

क्योंकि प्रतीकात्मक रीति से, आधी रात के समय तक सूर्यास्त होता रहता है जब कि आधी रात के तुरंत बाद, पहले घंटे से ही सूर्योदय हो जाता है।

आशीर्वाद।

(२२-८-१९६९)

माताजी, जल्दी सोना और जल्दी जागना कैसे लाभप्रद होता है?

जब सूर्यास्त होता है तो धरती पर एक प्रकार की शांति उतरती है और यह शांति नींद के लिये हितकर है।

जब सूर्योदय होता है तो धरती पर एक ओजस्वी शक्ति उतरती है और यह शक्ति काम में सहायक होती है।

जब तुम देर में सोते और देर में उठते हो, तो तुम प्रकृति की शक्तियों से उल्टे चलते हो और यह बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है।

आशीर्वाद।

(२१-१२-१९६९)

माताजी, यहां अध्यापकों और कप्तानों के प्रति हमारी क्या वृत्ति होनी चाहिये?

आज्ञाकारी, विनीत और स्नेहभरी वृत्ति। वे तुम्हारे बड़े भाई या बड़ी बहनें हैं जो तुम्हारी सहायता करने के लिये बहुत कष्ट उठाते हैं।

आशीर्वाद।

(१-२-१९७०)

*

छुट्टियां

छुट्टियों के बारे में आश्रम में दो अफवाहें फैली हुई हैं।

पहली यह कि इस वर्ष तो आप हमें बाहर जाने की स्वीकृति दे रही हैं, पर अगले वर्ष स्वीकृति न मिलेगी। दूसरी यह कि आप नहीं चाहतीं कि हम बाहर जायें।

मैं जानना चाहूंगा कि कौन-सी अफवाहें ठीक हैं क्योंकि बहुत-से विद्यार्थियों को आपसे जाने की स्वीकृति मिल चुकी है।

दोनों में से कोई भी सत्य नहीं है।

दोनों में से कोई भी मिथ्या नहीं है।

ये दोनों और इनके अतिरिक्त और भी बहुत-सी मेरी समन्वयात्मक और सामंजस्यपूर्ण इच्छा-शक्ति की विकृत अभिव्यक्तियां हैं।

व्यक्तिगत रूप से हर एक को मेरा उत्तर, यदि वह सच्चा, निष्कपट हो, उसकी आवश्यकता की अभिव्यक्ति होता है।

(१७-१०-१९६४)

*

माताजी, बाहर जाने से हम अपना आध्यात्मिक लाभ क्यों और कैसे खो बैठते हैं ? हम सचेतन रूप से प्रयास कर सकते हैं और फिर, आपका संरक्षण तो है ही, है न ?

अपने मां-बाप के पास जाना उस प्रभाव के पास लौटना है जो सबसे अधिक मजबूत होता है : और ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं जहां मां-बाप तुम्हारी आध्यात्मिक प्रगति में सहायक होते हों, क्योंकि वे साधारणतः सांसारिक उपलब्धि में ज्यादा रस लेते हैं।

जो मां-बाप मुख्य रूप से आध्यात्मिक उपलब्धि में रस लेते हैं वे साधारणतः अपने बच्चों को मिलने के लिये नहीं बुलाते।

आशीर्वाद। (८-११-१९६९)

*

जो विद्यार्थी १६ दिसंबर को विद्यालय के सत्रारंभ पर उपस्थित न होंगे उन्हें सारे वर्ष विद्यालय में प्रवेश न मिलेगा।

(नवंबर १९६९)

*

"हॉलीडेज" या छुट्टियां ?

हम "होली" डेज[१] कह सकते हैं ? इनके दो प्रकार होते हैं : एक मान्यता के अनुसार

[१] अंग्रेजी में छुट्टी को "हॉलीडे" कहते हैं और "होली डे" हुआ पवित्र दिन।

भगवान् ने छः दिन (या युग) तक काम करके यह सृष्टि बनायी और सातवें दिन विश्राम, एकाग्रता और ध्यान-चिंतन के लिये काम बंद रखा। इसे भगवान् का दिन कहा जा सकता है।

दूसरे : मनुष्य, भगवान् के बनाये हुए जीव, छः दिन तक अहंकारमय उद्देश्यों के लिये, व्यक्तिगत हितों के लिये काम करते हैं, और सातवें दिन आराम करने और अपने अंदर और ऊपर देखने के लिये समय निकालने के लिये, अपनी सत्ता और चेतना के स्रोत का ध्यान करने और उसमें गोता लगाकर नयी शक्ति प्राप्त करने के लिये काम बंद रखते हैं।

इस शब्द को आधुनिक अर्थ में समझने के ढंग के बारे में कुछ कहने की शायद ही जरूरत हो, अर्थात् अपने मनोविनोद के व्यर्थ के प्रयास के लिये हर संभव रूप से समय नष्ट करना।

*

क्या ओरोवील के जो लोग सच्चे सेवक बनना चाहते हैं, उनके लिये रविवार छुट्टी का दिन है ?

शुरू में सप्ताह की व्यवस्था इस तरह से की गयी थी : छः दिन व्यक्ति उस समुदाय के लिये काम करे जिसका वह अंग है; सप्ताह का सातवां दिन आंतरिक खोज के लिये, भगवान् के लिये और अपनी सत्ता, भगवान् की इच्छा के प्रति निवेदित करने के लिये आरक्षित था। तथाकथित रविवार के विश्राम का यही एकमात्र अर्थ और उसका सच्चा कारण है।

यह कहने की जरूरत नहीं है कि उपलब्धि के लिये निष्कपटता एक आवश्यक स्थिति है; समस्त कपट पतन है।

(२५-१०-१९७१)

*

अन्यत्र पढ़ाई

मेरा इरादा था कि तुम्हें अपनी पढ़ाई के लिये, उसके बारे में कुछ भी कहे बिना जाने दूं क्योंकि हर एक को अपना चुना हुआ मार्ग अपनाने की छूट होनी चाहिये। लेकिन तुमने जो लिखा है वह मुझे कुछ लिखने के लिये बाधित कर रहा है।

निःसंदेह, बाह्य दृष्टि से इंग्लैंड में तुम्हें वह सब मिलेगा जो तुम पाना चाहते हो, जिसे मनुष्य ज्ञान कहते हैं। लेकिन 'सत्य' और 'चेतना' की दृष्टि से तुम्हें वह वातावरण कहीं नहीं मिलेगा जिसमें तुम यहां रह रहे हो। दूसरी जगहों पर तुम धार्मिक या दार्शनिक भाव पा सकते हो, लेकिन सच्ची आध्यात्मिकता, भगवान् के साथ सीधा संबंध, उन्हें मन, प्राण और क्रिया में पाने की सतत अभीप्सा आदि ऐसी चीजें हैं जिन्हें जगत् में बिखरे हुए विरले व्यक्तियों ने ही पाया है और वे किसी भी विश्वविद्यालय में जीवित तथ्य के रूप में नहीं हैं, वह चाहे कितना भी उन्नत क्यों न हो।

व्यावहारिक रूप में, जहांतक तुम्हारा संबंध है, तुमने जो अनुभूति प्राप्त की है उससे बह जाने का बड़ा खतरा है और तब यह नहीं कहा जा सकता कि तुम्हारा क्या होगा।

मैं इतना ही कहना चाहती थी—अब चुनना और निश्चय करना तुम्हारे हाथ में है।

(२२-१०-१९५२)

*

हम बहुतों को या तो आजीविका की खोज में या अध्ययन के लिये आश्रम छोड़कर जाते हुए देखते हैं; ये ऐसे लोग हैं जो बचपन से यहां रहे हैं। जब हमारे युवक औरों को जाते हुए देखते हैं तो उनमें एक प्रकार की अनिश्चितता-सी पैदा होती है और वे सावधानी के साथ कहते हैं: "कौन जाने किसी दिन कहीं मेरी बारी भी न आ जाय!" मुझे लगता है कि इन सबके पीछे कोई शक्ति है। वह क्या है?

यह अनिश्चितता और ये प्रयाण निम्न प्रकृति के कारण हैं जो योग-शक्ति का प्रतिरोध करती है और भागवत क्रिया को धीमा करने की कोशिश करती है, किसी बुरी भावना से नहीं, बल्कि यह निश्चित करने के लिये कि लक्ष्य की ओर बढ़ने की जल्दी में कोई चीज भुला न दी जाये, किसी की अवहेलना न हो जाये। बहुत ही कम हैं वे लोग जो संपूर्ण समर्पण के लिये तैयार हैं। बहुत-से बच्चे जो यहां पढ़ रहे हैं उन्हें भागवत कार्य के लिये तैयार होने से पहले जीवन के साथ भिड़ने की जरूरत है। इसीलिये वे सामान्य जीवन की कसौटी पर कसे जाने के लिये यहां से जाते हैं।

(११-११-१९६४)

*

(एक विद्यार्थी को कलकत्ते में क्रियात्मक पाठ्यक्रम में सम्मिलित होने का निमंत्रण मिला।)

जो सचाई के साथ सीखना चाहते है उनके लिये यहां सब प्रकार की संभावनाएं हैं। एक ही चीज है जो बाहर मिल सकती है और यहां नहीं मिलती, वह है बाह्य अनुशासन का नैतिक दबाव।

यहां तुम स्वतंत्र हो और एकमात्र वही दबाव रहता है जिसे तुम अपने-आप डालो—बशर्ते कि तुम निष्कपट और सच्चे हो।

अब फैसला तुम्हें करना है।

(३-८-१९६६)

*

कुछ लड़के-लड़कियों का कहना है कि वे यहां पढ़ाई के लिये आये हैं, साधना के लिये नहीं, इसलिये वे जो चाहें कर सकते हैं। उन्हें क्या उत्तर देना चाहिये या उनके प्रति कैसी वृत्ति रखनी चाहिये ?

उनसे कहा जा सकता है कि उन्हें यहां नहीं रहना चाहिये। हम किसी पर योग थोपते नहीं हैं; लेकिन उन्हें एक स्वस्थ और समुचित जीवन बिताना चाहिये, और अगर वे यह नहीं चाहते तो उन्हें कहीं और चले जाना चाहिये।

माताजी, क्या उन्हें यहां से भेजा जा सकता है ?

उनमें से किसी एक को मेरे पास ले आओ जो पढ़ाई में बहुत कमजोर हो। मैं बोलूंगी नहीं, कुछ परीक्षण करूंगी, अगर वह सफल हुआ तो तुम औरों को भी ला सकते हो।★

*

(एक अध्यापक ने लिखा कि कुछ विद्यार्थी हमारे शिक्षा-केंद्र से संतुष्ट नहीं हैं।)

तुम उनसे कह सकते हो अगर उन्हें यह विश्वास नहीं है कि यहां पर वे कुछ ऐसी चीज सीख सकते हैं जो कहीं और नहीं पढ़ायी जाती तो अच्छा है कि वे विद्यालय बदल लें। उनके बिना हमें कोई हानि न होगी।

साधारण-सी भीड़ होने की जगह कुछ चुने हुए लोगों का होना ज्यादा अच्छा है।

*

(एक विद्यार्थी ने अपना पाठ्यक्रम लगभग समाप्त कर लिया। उसके सामने दुविधा थी कि अमरीका में जाकर आगे की पढ़ाई करे या आश्रम में रहकर काम करे। उसने माताजी से पूछा)

मैं तुम्हें तुरंत बता सकती हूं कि यह इस पर निर्भर है कि तुम जीवन से क्या चाहते हो। अगर तुम साधारण जीवन या सामान्य पुराने ढंग के अनुसार सफल जीवन बिताना चाहते हो तो अमरीका चले जाओ और भरसक प्रयास करो।

इसके विपरीत, अगर तुम भविष्य के लिये और उसमें बननेवाली नयी सृष्टि के लिये तैयार होने की अभीप्सा करते हो तो यहीं बने रहो और जो आनेवाला है उसके लिये अपने-आपको तैयार करो।

(१७-१-१९६९)

*

हम यहां केवल उन्हीं बच्चों को चाहते हैं जो अपने-आपको नये जीवन के लिये तैयार करना चाहते हैं और जो जीवन में सफलता की अपेक्षा, प्रगति को ज्यादा महत्त्व देते हैं। हम उन्हें नहीं चाहते जो आजीविका कमाने और सांसारिक सफलता पाने के लिये अपने-आपको तैयार करना चाहते हैं। वे कहीं और जा सकते हैं।

हम बच्चों से क्या आशा करते हैं यह समझ सकने के लिये उन्हें दस वर्ष से ऊपर होना चाहिये। जो बच्चे एक नये साहसिक कार्य के लिये तैयार हैं, जो नवजीवन चाहते हैं, जो उच्चतर उपलब्धि के लिये तैयार हैं, जो चाहते हैं कि अभीतक जो बना रहा है वह न रहकर बदले, उन बच्चों का स्वागत है।

हम उनकी सहायता करेंगे।★

(जनवरी १९७२)

*

पुनर्दर्शनाय, मेरे बच्चे, तुम्हें जो अनुभूति हुई है उसे कभी न भूलो, और कोई बाहरी अंधेरा तुम्हारे अंदर घुसकर तुम्हारी चेतना को ढकने न पाये।

मैं तुम्हारे साथ हूं।

*

पुनर्दर्शनाय, मेरे बच्चो, मैं चाहती हूं कि तुम्हारे लिये जीवन सुखद हो, और एक दिन तुम 'ज्योति' और 'सत्य' में जन्म लो।

अध्यापक

किसी बच्चे को देने लायक सबसे अनमोल उपहार है उसमें सीखने के लिये ललक पैदा करना, हमेशा और हर जगह सीखते रहना।

*

हर जीवित सत्ता के लिये अपने-आपको जानना और अपने ऊपर काबू रखना सीख लेना एक अमूल्य संपदा है। अपने-आपको जानने का अर्थ है अपनी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का हेतु जानना, अपने अंदर जो कुछ होता है उसका 'क्यों' और 'कैसे' जानना। अपने-आप पर काबू पाने का अर्थ है जो निश्चय कर लिया है वही करना, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं, आवेगों, कामनाओं या सनकों की न तो सुनना और न उनका अनुसरण करना।

स्पष्ट है कि किसी बालक को नैतिक नियम बतलाना कोई आदर्श चीज नहीं है; लेकिन उसके बिना काम चलाना बहुत कठिन है। जैसे-जैसे बच्चा बढ़ता जाये, उसे सभी नैतिक और सामाजिक नियमों की सापेक्षता बतलायी जा सकती है ताकि वह अपने अंदर उच्चतर और सत्यतर नियम को पा सके। लेकिन इस मामले में सावधानी से आगे बढ़ना चाहिये और सच्चे नियम को खोज पाने की कठिनाई पर जोर देना चाहिये। जो मानव विधि-विधान को अस्वीकार करके अपनी स्वाधीनता की घोषणा करते हैं और कहते हैं कि वे "अपना ही जीवन जीते हैं" उनमें से अधिकतर अति सामान्य प्राणिक गतिविधि की आज्ञा के अनुसार चलते हैं और उसे अपनी आंखों में न सही, कम-से-कम दूसरों की आंखों में छद्मरूप देकर न्यायसंगत ठहराने की कोशिश करते हैं। वे नैतिकता को सिर्फ इसलिये ठोकर मारते हैं क्योंकि वह उनकी सहजवृत्तियों की तुष्टि में बाधक होती है।

किसी को नैतिक और सामाजिक विधानों के बारे में कोई निर्णय करने का अधिकार तबतक नहीं है जबतक कि वह उनसे ऊपर का आसन न पा ले; आदमी उन्हें तबतक नहीं छोड़ सकता जबतक कि उनके स्थान पर कोई ज्यादा ऊंची चीज प्रतिष्ठित न कर ले, जो इतना आसान नहीं है।

बहरहाल, बच्चे को हम जो अच्छे-से-अच्छा उपहार दे सकते हैं वह है उसे अपने-आपको जानना और अपने ऊपर शासन करना सिखलाना।

(जुलाई १९३०)

*

सफल अध्यापक के व्यक्तित्व की विशेषताएं[1]

१. पूरा-पूरा आत्म-संयम, केवल इतना ही नहीं कि अपना क्रोध न दिखलाओ, बल्कि सभी परिस्थितियों में पूरी तरह शांत, स्थिर और अविचल बने रहना।

२. आत्मविश्वास के मामले में, अपने महत्त्व की सापेक्षता का भी भान होना चाहिये।

सबसे बढ़कर, यह ज्ञान होना चाहिये कि अगर अध्यापक चाहता है कि उसके विद्यार्थी प्रगति करें तो स्वयं उसे भी हमेशा प्रगति करनी चाहिये। उसे कभी, वह जो है या वह जितना जानता है उससे संतुष्ट न होना चाहिये।

३. अध्यापक में अपने विद्यार्थियों के प्रति मूलभूत श्रेष्ठता का भाव न होना चाहिये और न ही उनमें से किसी के लिये वरीयता या आसक्ति।

४. उसे यह मालूम होना चाहिये कि आध्यात्मिक दृष्टि से सब समान हैं और उसके अंदर केवल सहिष्णुता की जगह व्यापक बोध और समझ होनी चाहिये।

५. "अध्यापक और मां-बाप दोनों का यह काम है कि बच्चे को अपने-आपको शिक्षित करने के योग्य बनायें और इसमें उसकी मदद करें, उसे अपनी बौद्धिक, नैतिक, सौंदर्य-बोधात्मक और व्यावहारिक क्षमताओं को विकसित करने और एक मूलभूत सत्ता के रूप में खुले तौर पर विकसित होने में मदद दें जिसे जड़ लोचदार पदार्थ की तरह कोई आकार देने के लिये गूंथने या दबाने की जरूरत नहीं।" (श्रीअरविन्द, "मानव क्रम-विकास")

(जून १९५४ में प्रकाशित)

*

यह कभी न भूलो कि एक अच्छा अध्यापक होने के लिये तुम्हें अपने अंदर से समस्त अहंकार का उन्मूलन करना होगा।[2]

(१० दिसम्बर १९५९)

और श्रीअरविन्द के बतलाये अतिमानसिक सत्य के अनुसार पढ़ाने के योग्य होने के लिये तुम्हारे अंदर अहंकार बिलकुल न रहना चाहिये।[3]

(दिसंबर १९६०)

*

[1] किसी शिक्षक-प्रशिक्षण-महाविद्यालय की प्रश्नावली पर माताजी की टिप्पणियां।

[2] अध्यापकों की वार्षिक बैठक के लिए संदेश।

[3] अध्यापकों की वार्षिक बैठक के लिए संदेश।

समस्त अध्ययन, कम-से-कम अध्ययन का अधिकांश, भूतकाल के बारे में सीखना ही होता है, उससे आशा की जाती है कि उसके सहारे तुम वर्तमान को ज्यादा अच्छी तरह समझ सकोगे। लेकिन अगर तुम इस खतरे से बचना चाहते हो कि विद्यार्थी कहीं भूत से ही न चिपटे रह जायें और भविष्य में देखने से इंकार कर दें तो तुम्हें बड़ी सावधानी के साथ उन्हें यह समझाना चाहिये कि भूतकाल में जो कुछ हुआ है उसका उद्देश्य था, आज जो हो रहा है उसकी तैयारी करना, और यह कि आज जो कुछ हो रहा है वह भविष्य की ओर ले जानेवाले मार्ग की तैयारी से बढ़कर कुछ नहीं है। वह भविष्य ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चीज है जिसके लिये हमें तैयारी करनी चाहिये।

अंतर्भास को पोषण देकर ही तुम भविष्य में जीने की तैयारी कर सकते हो।

(१८-९-१९६७)

*

भूतकाल की जगह भविष्य के बारे में सोचो।[१]

(१५-१२-१९७२)

*

अध्यापन

विद्यालय अध्यापक और विद्यार्थी, दोनों की प्रगति का अवसर होना चाहिये। हर एक को मुक्त रूप से विकसित होने का अवसर मिलना चाहिये।

कोई पद्धति उतनी अच्छी तरह से कभी नहीं लागू की जा सकती जबतक कि स्वयं अध्यापक ने ही उसे न खोजा हो। अन्यथा वह अध्यापक के लिये उतना ही ऊबाऊ होता है जितना विद्यार्थी के लिये।

*

एक बात है जिस पर मुझे जोर देना चाहिये। बाहर के विश्वविद्यालयों में जो किया जाता है उसका अनुसरण करने की कोशिश मत करो। विद्यार्थियों में केवल आंकड़े और जानकारी ठूंसने की कोशिश न करो। उन्हें इतना अधिक काम न दो कि उन्हें और किसी चीज के लिये समय ही न मिले। तुम्हें रेल पकड़ने की जल्दी नहीं है। विद्यार्थी जो सीखते हैं उसे समझने दो। उन्हें उसे आत्मसात् करने दो। पाठ्यक्रम

[१] अध्यापकों की वार्षिक बैठक के लिए संदेश।

समाप्त करना तुम्हारा लक्ष्य नहीं होना चाहिये। तुम्हें कार्यक्रम इस तरह बनाना चाहिये कि विद्यार्थियों को उन दूसरी चीजों के लिये भी समय मिल सके जिन्हें वे सीखना चाहते हैं। उन्हें शारीरिक व्यायाम के लिये काफी समय मिलना चाहिये। मैं नहीं चाहती कि वे बहुत अच्छे विद्यार्थी तो हों, पर रहें दुबल-पतले, रक्तहीन और पांडुर। शायद तुम्हारा जवाब यह हो कि इस तरह उन्हें पढ़ने-लिखने के लिये काफी समय न मिलेगा, लेकिन यह कमी पूरी करने के लिये उनके अध्ययन-काल को बढ़ाया जा सकता है, कोई पाठ्यक्रम चार वर्ष में पूरा करने की जगह, तुम उसमें छः वर्ष लगा सकते हो। यह उनके लिये ज्यादा अच्छा होगा; वे यहां के वातावरण को ज्यादा आत्मसात् कर सकेंगे और उनकी प्रगति और सब छोड़कर एक ही दिशा में नहीं होगी। यह हर दिशा में चौमुखी प्रगति होगी।★

(१०-९-१९५३)

*

उच्चतर पाठ्यक्रम के विद्यार्थियों की पढ़ाई का स्तर नीचा किये बिना, उन्हें ज्यादा काम-भार न देने का यह उपाय है कि जिन्हें काम ज्यादा लगता हो उन्हें कुछ विषय छोड़ने की सलाह दी जाये। तब वे अपना समय और अपनी शक्ति उन्हीं विषयों पर एकाग्र कर सकेंगे जिन्हें वे सीखना चाहते हैं। पाठ्यक्रम हल्का करने की अपेक्षा यह ज्यादा अच्छा होगा। पाठ्यक्रम हल्का करने से औरों की हानि होगी। यह स्वाभाविक है कि हमारे यहां प्रतिभाशाली विद्यार्थियों के साथ ऐसे विद्यार्थी भी हैं जो इतने प्रतिभाशाली नहीं हैं, जो उसी गति से नहीं चल सकते। ये अभी के लिये कुछ विषय छोड़ सकते हैं और बाद में एक वर्ष अधिक लगाकर उसे भी सीख सकते हैं। क्या यह एक अच्छा हल है ?

यह निर्भर करता है। इसे सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता, उनमें से बहुतों के लिये यह विशेष उपयोगी न होगा। वे उस स्थिति तक नहीं पहुंचे हैं कि पढ़ने के विषय कम हों तो अमुक विषयों पर ज्यादा एकाग्र हो सकें। परिणाम यही होगा कि उनमें ढीले पड़ने की वृत्ति बढ़ेगी—और यह एकाग्र होने से एकदम उल्टा है!—और इससे समय बरबाद होगा।

समाधान इसमें नहीं है। तुम्हें करना यह चाहिये कि विद्यार्थी जो भी कर रहे हों उसमें रस लेना सिखाओ—यह विद्यार्थियों की रुचिकर चीज करने के समान नहीं है! तुम्हें उनके अंदर ज्ञान और प्रगति के लिये इच्छा जगानी चाहिये। तुम किसी भी काम में, उदाहरण के लिये, कमरे में झाड़ू लगाने में—रस ले सकते हो, बशर्ते कि तुम एकाग्रता के साथ करो, अनुभव प्राप्त करने के लिये, प्रगति करने और अधिक सचेतन

होने के लिये करो। मैं प्रायः यह बात उन विद्यार्थियों से कहा करती हूं जो यह शिकायत करते हैं कि उनका अध्यापक अच्छा नहीं है। भले उन्हें अध्यापक पसंद न हो, भले वह बेकार बातें किया करता हो, भले वह ठीक स्तर का न हो, फिर भी, वे अपनी कक्षा में कुछ लाभ उठा सकते हैं : कोई बहुत मजेदार चीज सीख सकते हैं और चेतना में प्रगति कर सकते हैं।

अधिकतर अध्यापक **अच्छे विद्यार्थी** पाना चाहते हैं, ऐसे विद्यार्थी चाहते हैं जो अध्ययनशील, ध्यान देनेवाले हों, बात समझते हों : बहुत सारी चीजें जानते हों और अच्छे उत्तर दे सकते हों—यानी, अच्छे विद्यार्थी हों। इससे सब कुछ बिगड़ जाता है। विद्यार्थी पढ़ने और सीखने के लिये किताबें देखना शुरू करते हैं और केवल दूसरों की कही और पुस्तकों में पढ़ी चीजों पर ही निर्भर रहते हैं, और उस अतिचेतन भाग से संपर्क खो बैठते हैं जो अंतर्भास के द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है। प्रायः छोटे बच्चों में यह संपर्क रहता है, परंतु पढ़ाई की प्रक्रिया खो जाता है।

विद्यार्थी इस तरह की ठीक दिशा में प्रगति कर सकें इसके लिये स्पष्ट है कि अध्यापक इस बात को समझें और देखने तथा पढ़ाने के अपने पुराने तरीके बदलें। उसके बिना, मेरा काम अटका हुआ है।★

(१६-१२-१९५९)

*

(अध्यापकों में इस विषय में मतभेद था कि उच्चतर कक्षाओं के साहित्य के विद्यार्थियों के लिये अंग्रेजी साहित्य को अनिवार्य बनाया जाये या ऐच्छिक। जब निर्णय के लिये यह बात माताजी के सामने रखी गयी तो उन्होंने उत्तर दिया :)

अध्यापकों से :

संगठन के ब्योरों को इतना अधिक नहीं, वृत्ति को बदलना चाहिये।

ऐसा मालूम होता है कि जबतक स्वयं अध्यापक सामान्य बौद्धिक स्तर से ऊपर नहीं उठते तबतक उनके लिये अपना कर्तव्य पूरा करना और अपने कार्य को सिद्ध करना कठिन होगा।

(१०-८-१९६०)

*

एकरूपता के द्वारा एकता नहीं प्राप्त की जाती।

कार्यक्रमों और पद्धतियों की एकरूपता के द्वारा शिक्षा की एकता नहीं पायी जा सकती।

एकता प्रश्न की मांग के अनुसार मौन या प्रकट रूप से केंद्रीय आदर्श, केंद्रीय शक्ति या ज्योति, शिक्षा के उद्देश्य या लक्ष्य के साथ सतत संपर्क द्वारा ही आ सकती है।

सत्य और परम 'एकता' अपने-आपको विविधता के द्वारा ही प्रकट करती है। मानसिक तर्क ही अभिन्नता की मांग करता है। व्यवहार में, हर एक को अपनी ही पद्धति—जिसे वह समझता और अनुभव करता है—खोजनी और काम में लानी होगी। केवल इसी तरह शिक्षा प्रभावकारी हो सकती है।

(१३-१०-१९६०)

*

माताजी, क्या आप कृपया थोड़े-से शब्दों में बतला सकेंगी कि "मुक्त प्रगति" से आपका क्या मतलब है ?

एक ऐसी प्रगति जिसका निदेशन अंतरात्मा करती हो, आदतें, परिपाटियां या पूर्वकल्पित विचार नहीं।

*

(कई अध्यापकों ने अपनी रिपोर्ट देते हुए विद्यार्थियों की अनियमित उपस्थिति और पढ़ाई के बारे में चिंता व्यक्त की। अध्यापकों की राय थी कि कुछ ही विद्यार्थी संतोषजनक काम कर रहे हैं। उन्होंने कक्षाओं की ज्यादा कड़ी व्यवस्था करने का सुझाव दिया। माताजी ने उत्तर दिया :)

पहले अध्यापकों के लिये :

रिपोर्ट में जो आंकड़े दिये गये हैं उनसे मैं संतुष्ट हूं। लोग चाहे कुछ भी सोचें, बहुत अच्छे विद्यार्थियों का अनुपात संतोषजनक है। अगर डेढ़-सौ विद्यार्थियों में सात विशुद्ध मूल्यवाले हैं तो यह बहुत अच्छा है।

अब संगठन के बारे में :

सब मिलाकर कक्षाओं का पुनर्गठन बहुमत की आवश्यकताओं को पूरा करने की दृष्टि से किया जा सकता है, यानी, उनकी दृष्टि से जो, किसी बाहरी दबाव या ऊपर से लगाये गये नियंत्रण के बिना, बुरी तरह काम करते हैं और कोई प्रगति नहीं करते।

लेकिन यह आवश्यक है कि नयी कक्षाओं में वर्तमान शिक्षा-पद्धति बनी रहे, ताकि विलक्षण व्यक्ति आगे बढ़ सके और मुक्त रूप से विकसित हो सके। यह हमारा

सच्चा लक्ष्य है। यह बात मालूम होनी चाहिये—हमें इसकी घोषणा करते हुए सकुचाना न चाहिये—कि हमारे विद्यालय का समस्त उद्देश्य है उन लोगों को खोजना और उन्हें प्रोत्साहित करना जिनमें प्रगति की आवश्यकता इतनी सचेतन हो गयी है कि उनके जीवन को दिशा दे सके। इन "मुक्त प्रगति" कक्षाओं में प्रवेश पाना एक विशेषाधिकार होना चाहिये।

नियमित अवधि के बाद (उदाहरण के लिये, हर महीने) चुनाव होना चाहिये और जो इस विशेष शिक्षा से लाभ नहीं उठा सकते उन्हें साधारण धारा में वापिस भेज देना चाहिये।

रिपोर्ट में जो आलोचनाएं की गयी हैं वह जितनी विद्यार्थियों पर लागू होती हैं उतनी ही अध्यापकों पर भी। अच्छी क्षमतावाले विद्यार्थियों के लिये, अपने विषय का अच्छा जानकार एक अध्यापक काफी है—बल्कि एक अच्छी पाठ्य-पुस्तक जिसके साथ विश्व-कोश तथा अन्य कोश हों, काफी है। लेकिन जैसे-जैसे तुम नीचे उतरते हो और विद्यार्थियों की क्षमता कम होती जाती है, वैसे-वैसे अध्यापक की क्षमता अधिकाधिक होनी चाहिये: अनुशासन, आत्म-संयम, समर्पण-भाव, मनोवैज्ञानिक समझ, संक्रामक उत्साह, विद्यार्थियों में सोये हुए भाग—जानने की इच्छा, प्रगति की आवश्यकता, आत्मसंयम आदि—को जगाने की क्षमता।

जैसे हम विद्यालय की व्यवस्था इस तरह करते हैं कि विशिष्ट छात्रों की खोज कर सकें और उनकी सहायता कर सकें, उसी तरह, कक्षाओं की जिम्मेदारी विशिष्ट अध्यापकों को देनी चाहिये।

अतः मैं हर अध्यापक से मांग करती हूं कि वह अपने विद्यालय के काम को अपनी योग-साधना का सर्वोत्तम और द्रुततम मार्ग समझे। और फिर, प्रत्येक कठिनाई और प्रत्येक कठिन विद्यार्थी उसके लिये समस्या का दिव्य समाधान पाने का अवसर हो।

(५-८-१९६३)

*

माताजी, मेरे विद्यार्थी कहते हैं कि 'क्ष' ने उनसे कहा है कि रीतिपूर्वक अभ्यासों के द्वारा सुप्त क्षमताओं को विकसित किया जा सकता है, कहते हैं कि आपने उसे ये अभ्यास बतलाये हैं। उसने यह भी कहा है कि हमारे शिक्षा-केंद्र में इनका परीक्षण होगा।

'क्ष' के आग्रह पर मैंने, पहले अभ्यास का संकेत दिया था—परंतु परिणाम दुर्भाग्यपूर्ण-से निकले, और मुझे बंद करना पड़ा।

जब समय आता है तो ये चीजें स्वभावतः, यूं कहें, सहजरूप में आती हैं। और

ज्यादा अच्छा यह है कि मनमाने संकल्प न किये जायें।

आजकल यहां हमें जो शिक्षा दी जाती है वह बाहर कहीं दी गयी शिक्षा से बहुत भिन्न नहीं है। ठीक इसी कारण हमें विद्यार्थियों की गुप्त आध्यात्मिक क्षमताओं को प्रशिक्षित करने की कोशिश करनी चाहिये। लेकिन यह विद्यालय में कैसे किया जाये ?

यह किसी बाहरी उपाय से नहीं किया जा सकता। यह लगभग पूरी तरह अध्यापक की वृत्ति और चेतना पर निर्भर है। अगर स्वयं उसमें अंतर्दृष्टि और अंतर्ज्ञान नहीं है तो वह ये चीजें विद्यार्थियों को कैसे दे सकता है ?

सच पूछो तो, हम मुख्य रूप से आध्यात्मिक शक्ति से भरे वातावरण पर निर्भर हैं जो चारों ओर से घेरे हुए है, जिसका प्रभाव अवश्य होता है, भले वह दिखायी न दे या अनुभव न हो।

(२०-४-१९६६)

*

अध्यापकों और विद्यार्थियों के नाम :
"वैर ला पैर्फेक्सियों"[१] की कक्षाएं श्रीअरविन्द की शिक्षा के अनुसार हैं।
वे 'सत्य' की सिद्धि की ओर ले जाती हैं।
जो इस बात को नहीं समझते वे अपने भविष्य की ओर पीठ कर रहे हैं।

(सितंबर १९६६)

*

(किसी अध्यापक ने शिकायत की कि बहुत-सी व्यर्थ की बातें पढ़ायी जाती हैं—उदाहरण के लिये, भाषाओं की कक्षा में विद्यार्थियों से मूर्खताभरी कहानियां पढ़ने के लिये कहा जाता है और उन्हें लोगों के जीवन और रीति-रिवाजों के बारे में नगण्य चीजें बतलायी जाती हैं।)

तुम्हारी कठिनाई इस कारण आती है क्योंकि तुम्हारे अंदर अभीतक वह पुरानी मान्यता है कि जीवन में कुछ चीजें ऊंची हैं और कुछ नीची। यह ठीक नहीं है। चीजें या क्रियाएं अपने-आपमें ऊंची-नीची नहीं होतीं, करनेवाले की चेतना सत्य या मिथ्या होती है।

[१] 'मुक्त प्रगति पद्धति' के अनुसार वर्गीकृत कक्षाओं का नाम।

अगर तुम अपनी चेतना को 'परम चेतना' के साथ एक करके 'उसे' अभिव्यक्त करो तो तुम जो कुछ सोचोगे, जो कुछ अनुभव करोगे या जो कुछ करोगे वह सब ज्योतिर्मय और सत्य बन जायेगा। पढ़ाने का विषय बदलने की जरूरत नहीं है, तुम जिस चेतना के साथ पढ़ाते हो उसे प्रबुद्ध होना चाहिये।

(३१-७-१९६७)

*

मुझे नहीं मालूम कि मेरे अंदर अंतरात्मा के जैसी कोई चीज है भी या नहीं, फिर भी अध्यापक के नाते मुझसे आशा की जाती है कि मैं विद्यार्थियों की अंतरात्मा के विकास पर जोर दूं—इस पर कुछ प्रकाश डालिये।

विरोध इस कारण आता है कि तुम इसे मानसिक रूप देना चाहते हो और यह असंभव है। यह वृत्ति की बात है, मुख्य रूप से आंतरिक वृत्ति की जो यथासंभव बाहरी क्रियाओं का भी संचालन करती है। यह पढ़ाने की नहीं, उससे कहीं अधिक जीने की चीज है।

*

अगर हमें कोई नयी पद्धति अपनानी है तो उसका ठीक-ठीक रूप क्या होगा?

वह हर अध्यापक की क्षमता के अनुसार, यथासंभव अधिक-से-अधिक अच्छे ढंग से क्रियान्वित की जायेगी।

(२५-७-१९६७)

*

(किसी अध्यापक ने अमुक आयु के बच्चों का कार्यक्रम बदलने का सुझाव दिया। उसने सलाह दी कि अनुसूचित कक्षाएं कम कर दी जायें; अध्यापक व्यक्तिगत रूप से सवेरे के समय विद्यार्थियों की सहायता करें और केवल दोपहर को कक्षा के रूप में मिलें। अंत में उसने लिखा :)

बहुत-से अध्यापक यह अनुभव करते हैं कि 'क्ष' की कक्षाओं और "पुरानी पद्धति" कहानेवाली कक्षाओं में विभाजन अवांछनीय है। हम आशा करते हैं कि पुनर्गठन के कारण दोनों के बीच का फर्क बहुत कम रह जायेगा। क्या आपका ख्याल है कि यह विभाजन जारी रहना चाहिये? क्या हमें उसके गायब होने के लिये राह देखते रहना चाहिये?

यह कहीं अधिक अच्छा होगा कि भेद तुरंत गायब हो जाये। जो तुम सुझा रहे हो उसकी सार्थकता व्यवहार में ही दिखायी देगी। इसलिये मुझे लगता है कि सबसे अच्छा यही है कि प्रयोग करके देखा जाये, अगर परिणाम आने में देर लगे तो पूरे एक वर्ष तक, और अगर परिणाम तबतक स्पष्ट होने लगें तो तीन महीने के लिये परीक्षण करके देखा जाये।

सचाई और लचीलेपन के साथ तुम समस्या हल कर सकोगे।

(६-११-१९६७)

*

९-११-१९६७ को उच्चतर पाठ्यक्रम के अध्यापकों की बैठक में उच्चतर पाठ्यक्रम में परिवर्तन के बारे में बातचीत के बाद निम्नलिखित सुझाव दिये गये :[1]

१. विद्यार्थी पूरी स्वतंत्रता के साथ विषयों का चुनाव करे और यह चुनाव विद्यार्थी की वास्तविक खोज और उसके उत्साह को प्रतिबिम्बित करे।

२. इस तरह चुने हुए हर विषय की एक परियोजना हो जो आवश्यकता के अनुसार छोटी-बड़ी हो।

३. प्रत्येक परियोजना में विद्यार्थी उस विषय के जानकार अध्यापक या अध्यापकों की सहायता ले सकें।

४. कोई निश्चित मौखिक कक्षाएं न होंगी; लेकिन विद्यार्थियों के साथ समझौता करके जब जरूरी हो मौखिक कक्षाएं ली जा सकती हैं, परंतु यह कक्षाएं दोपहर को हों तो ज्यादा अच्छा है।

५. यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि हर विद्यार्थी अपने चुने हुए कार्यक्रम में से कितना करेगा। अपना पाठ्यक्रम पूरा कर लेने के लिये विद्यार्थी में सतत प्रयास, क्षमताओं का विकास, अपने विषयों की समझ, काफी स्पष्टता और यथार्थता के साथ लिखने तथा विषयसंगत प्रश्नों का मौखिक उत्तर देने की क्षमता होनी चाहिये। काम की राशि की अपेक्षा उसके स्तर का महत्त्व ज्यादा होगा, यद्यपि राशि की उपेक्षा नहीं होगी। पर उसे हमारे उच्च स्तर के अनुरूप होना चाहिये।

उक्त प्रस्ताव, कुछ अपवादों को छोड़कर, प्राय: सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ और यह तय हुआ कि इसे मार्ग-दर्शन के लिये माताजी के पास भेजा जाये।

[1] यहां चौदह प्रस्तावों में से केवल वे पांच प्रस्ताव ही दिये गये हैं जिनपर माताजी का उत्तर आधारित है।

School is just
a preparation
to make the
students capable
of thinking,
studying, progressing
and becoming
intelligent if
they can --
All that must
be done during
the <u>entire</u> life
and not only in school.

यह ठीक है। अब महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसे सचाई तथा सम्यकता के साथ किया जाये।

आशीर्वाद।

(नवंबर १९६७)

*

'क्ष' ने कहा कि हमें माताजी से पूछना चाहिये कि इस योजना-पद्धति के अनुसार हर विद्यार्थी से कहा जायेगा कि वह गहन अध्ययन और गवेषणा के लिये एक या अधिक विषयों का चुनाव करे तो क्या उसके साथ छात्रों को ज्ञान की अन्य प्रशाखाओं का अधिक विस्तृत परिचय देने के लिये कुछ और व्यापक अध्ययन नहीं करना चाहिये ?

विद्यालय विद्यार्थियों को सोचने, अध्ययन करने, प्रगति करने और हो सके तो बुद्धिमान बनने की तैयारी करवाने के लिये है—यह सब केवल विद्यालय में ही नहीं, सारे जीवन में चलता रहना चाहिये।

(नवंबर १९६७)

*

यह मानी हुई बात है कि माध्यमिक स्तर के विद्यार्थी योग करने के लिये या यह निश्चय करने के लिये कि उन्हें योग-साधना करनी है या नहीं, बहुत छोटे होते हैं। इसलिये उनकी शिक्षा केवल शिक्षा है, और कुछ नहीं।

लेकिन 'उच्चतर कक्षाओं' में, मेरा ख्याल है, यह स्पष्ट कर देना चाहिये कि उनमें वही लोग प्रवेश पा सकते हैं जो योग करना चाहते हों—तब शिक्षा योग बन जाती है।

अगर माताजी इस विषय पर निर्देशन दे सकें तो हममें से कइयों के लिये यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जायेगी।

बात बिलकुल ऐसी नहीं है। सभी स्तरों पर, प्राथमिक, माध्यमिक और उच्चतर, सभी कक्षाओं में बच्चे योग-पद्धति का अनुसाण करेंगे और नये ज्ञान को नीचे लाने की तैयारी और कोशिश करेंगे। अतः कहा जा सकता है कि सभी बच्चे योग कर रहे हैं।

लेकिन, फिर भी, योग करनेवालों और शिष्यों में भेद करना चाहिये। शिष्य होने के लिये व्यक्ति को समर्पण करना होता है और इसका निर्णय संपूर्ण और सहज होना चाहिये। ऐसा निश्चय व्यक्तिगत रूप से, जब पुकार आये तभी लिया जा सकता है

और यह थोपा नहीं जा सकता, यहां तक कि इसका सुझाव भी नहीं दिया जा सकता।★

आशीर्वाद।[१]

(१६-११-१९६७)

*

(गणित की कक्षा के लिये पाठ्य-पुस्तक के चुनाव के बारे में)

मुझे केवल फ्रेंच पुस्तक ही काम लायक लगती है—दूसरी तो असंभव है और काम में अरुचि पैदा करती हैं।

लेकिन मैं यह सलाह नहीं दूंगी कि यह फ्रेंच पुस्तक विद्यार्थियों को दी जाये। उन्हें सचमुच पुस्तकों की जरूरत नहीं है। अध्यापक या अध्यापकों को पुस्तक का उपयोग करके विद्यार्थियों की आवश्यकता के अनुसार, उनकी जानकारी और क्षमता के अनुसार पाठ तैयार करने चाहिये। मतलब यह कि अध्यापक को पढ़ना चाहिये कि पुस्तक में क्या है, उसे थोड़ा-थोड़ा करके, काफी व्याख्या के साथ, टिप्पणियों और उदाहरणों के साथ विद्यार्थियों को समझाना चाहिये ताकि विषय सुगम और आकर्षक बन सके, यानी, निर्जीव सूखा सिद्धांत न बनकर सजीव व्यावहारिक चीज बन जाये।

(३-१२-१९६७)

*

मधुर मां, लगभग एक सप्ताह हुआ, जब हमने 'उच्चतर कक्षाओं' में नया परीक्षण शुरू किया था। इतने में ही कुछ प्रश्न उठ खड़े हुए हैं जिन पर मैं आपसे 'प्रकाश' और 'मार्गदर्शन' चाहता हूं।

अध्यापकों और विद्यार्थियों की व्यवस्था और कार्यक्रम को ऐसा रूप दिया गया है कि व्यक्ति का खुलकर विकास और प्रगति हो सके।

१. कुछ अध्यापकों का कहना है कि यह श्रेष्ठ विद्यार्थियों के लिये ठीक है, लेकिन साधारण या औसत विद्यार्थी के लिये ठीक नहीं है।

लेकिन, माताजी, क्या हमें यह प्रयास न करना चाहिये कि साधारण और औसत विद्यार्थी को श्रेष्ठ विद्यार्थी में बदल सकें? अगर हां, तो क्या यह ज्यादा अच्छा न होगा कि श्रेष्ठ लोगों के प्रशिक्षण पर जोर दिया जाये और कभी-कदास, कुछ थोड़ी या अधिक अवधि के लिये औसत विद्यार्थियों के लिये कुछ सुविधाएं दी जायें—लेकिन हमेशा लक्ष्य यही रहे कि ये सुविधाएं अनावश्यक हो जायें?

[१] अपनी समीक्षा का यह विवरण पढ़कर माताजी ने "आशीर्वाद" लिखा और अपने हस्ताक्षर किये।

हम यहां उन्हीं बच्चों को लेना चाहते हैं जो श्रेष्ठ कहला सकें। व्यवस्था उन्हीं के लिये होनी चाहिये। जो इसमें ठीक न बैठें उन्हें एक साल के परीक्षण के बाद चले जाना चाहिये।

२. कुछ अध्यापकों का कहना है कि वैयक्तिक प्रगति और व्यक्ति जिस समुदाय का अंग है उस समुदाय की प्रगति में टक्कर होती है। इसे कैसे ठीक किया जाये? इस टक्कर का क्या उपाय है?

कहा गया है कि अगर व्यक्ति न्यूनाधिक रूप में अपने दल के साथ रहता है तो वह समुदाय के अनुभव से लाभ उठा सकता है, सामुदायिक अध्ययन, बातचीत आदि से लाभ उठा सकता है।

यह सब बेकार है—अगर व्यक्ति अपनी अधिक-से-अधिक गति से प्रगति कर सके तो निश्चय ही दल को उससे लाभ होगा। अगर व्यक्ति को समुदाय की संभावना या क्षमता के अधीन रखा जाये तो वह अपनी समग्र प्रगति का अवसर खो बैठता है।

(२२-१२-१९६७)

*

'क्ष' ने कुछ समय पहले मुझसे पूछा था कि क्या मैं 'मुक्त प्रगति' कक्षाओं में काम करना चाहूंगा। अभी मैं उन कक्षाओं में काम कर रहा हूं जिन्हें "पुरानी पद्धति" की कक्षाएं कहा जाता है।

माताजी, बतलाइये कि मैं जहां हूं वहीं बना रहूं या 'मुक्त प्रगति' कक्षाओं में काम करूं?

पढ़ाने का पुराना ढंग निश्चय ही पुराना पड़ चुका है और धीरे-धीरे सारे संसार से उठ जायेगा।

सच्ची बात तो यह है कि हर अध्यापक को, आधुनिक विचारों से प्रेरणा लेते हुए वह पद्धति खोजनी चाहिये जो उसकी प्रकृति के अधिक अनुकूल है। अगर उसे पता न हो कि क्या करना चाहिये तो वह 'क्ष' की कक्षा के साथ मिल सकता है।

*

साधारण कक्षाएं भूतकाल की चीजें हैं और धीरे-धीरे गायब हो जायेंगी। रही बात अलग काम करने की या "पूर्णता की ओर" कक्षाओं के साथ मिलने की, तो यह चुनाव पूरी तरह तुम पर निर्भर है। क्योंकि किसी को चलाने, उसे पढ़ाने के लिये

तुम्हें सिद्धांतों और बौद्धिक चिंतनों से हटकर बहुत ठोस व्यावहारिकता और उसके सभी ब्योरों में आना होगा।

कक्षा लेते समय पढ़ाना सिखाना निश्चय ही अध्यापक बननेवाले के लिये बहुत अच्छा है, परंतु निश्चय ही विद्यार्थियों के लिये कम उपयोगी है।

"पूर्णता की ओर" कक्षाओं में जाना शुरू करनेवाले के लिये बहुत उपयोगी हो सकता है, जो वहां पढ़ाने का क्रियात्मक ढंग सीख सकता है।

चुनाव तुम्हारे हाथों में है।

*

मैंने अपने अंदर दो परस्पर विरोधी विचार देखे हैं: एक प्रकार के विचार व्यक्तिगत कार्य के पक्ष में हैं, दूसरे प्रकार के सामुदायिक कार्य के।

क्या यह संभव नहीं है कि कक्षा के समय को दो बराबर या आवश्यकता के अनुसार कम-ज्यादा भागों में बांटा जाय और दोनों पद्धतियों का निरीक्षण किया जाये ? इससे पढ़ाने में विविधता आयेगी और विद्यार्थियों तथा उनकी क्षमता का अवलोकन करने के लिये ज्यादा विस्तृत क्षेत्र मिलेगा।

*

(१४ से १८ की उम्र के बच्चों के दो दलों के बारे में कुछ प्रश्नों का सारांश दे रहा हूं। यद्यपि दोनों दल 'मुक्त प्रगति-पद्धति' पर आधारित थे, पर "आगे की ओर" का कार्यक्रम "पूर्णता की ओर" की अपेक्षा ज्यादा संघटित था।)

१. अध्यापकों में हमारे विद्यालय की दिशा के बारे में कुछ मतभेद है। इन मतभेदों से कैसे बचा जाये ?

२. क्या चौदह वर्ष से कम उम्र के बच्चों के लिये निश्चित कार्यक्रम और निश्चित कक्षाएं हों या उन्हें भी अपनी कार्यदिशा और अपनी गति चुनने की स्वाधीनता होनी चाहिये ?

३. यह हमारा आवश्यक कार्य है या नहीं कि यह देखें कि बच्चे की अंतरात्मा के लिये किन परिस्थितियों में आगे आना और उसके विकास को दिशा देना संभव होगा।

४. क्या हम "आगे की ओर" और "पूर्णता की ओर" को एक करने के बारे में विचार करें ?

ये बातें एक ही साथ ठीक भी हैं और गलत भी।

सबसे पहले ऐसा मालूम होता है कि सात वर्ष की आयु के बाद, जिन लोगों में जीवित अंतरात्मा होती है वे इतने जाग्रत होते हैं कि अगर उनकी सहायता की जाये तो उसे पाने के लिये तैयार होते हैं। सात से नीचे यह अपवाद स्वरूप है।

हमारे बच्चों में बहुत भेद है। पहले वे हैं जिनमें जीती-जागती अंतरात्मा है। उनके लिये कोई प्रश्न ही नहीं। हमें उसे पाने में उनकी सहायता करनी चाहिये।

लेकिन दूसरे भी हैं, जो छोटे जानवरों के-से हैं। अगर वे बाहर के बच्चे हैं, जिनके मां-बाप आशा करते हैं कि उन्हें पढ़ाया जायेगा—तो उनके लिये "आगे की ओर" ठीक है। इसका कोई महत्त्व नहीं।

समस्या यह नहीं है कि कक्षाएं और कार्यक्रम हों या नहीं। समस्या है बच्चों के चुनाव की।

सात वर्ष की अवस्था तक बच्चों को मौज करनी चाहिये। विद्यालय एक खेल हो और वे खेल ही खेल में सीखें। खेलते-खेलते उनके अंदर सीखने, जानने और जीवन को समझने के लिये रस उत्पन्न होगा। पद्धति का बहुत महत्त्व नहीं है। अध्यापक की वृत्ति का महत्त्व है। अध्यापक को ऐसी चीज नहीं होना चाहिये जिसे दबाव के कारण स्वीकार किया जाता है। वह सदा एक ऐसा मित्र होना चाहिये जिससे तुम प्यार करते हो क्योंकि वह तुम्हारी मदद और मनोरंजन करता है।

सात वर्ष से ऊपर, जो तैयार हैं उनके लिये नयी पद्धति का उपयोग किया जा सकता है, बशर्ते कि एक ऐसी कक्षा भी हो जिसमें और बच्चे सामान्य रीति से काम कर सकें। और उस कक्षा के लिये अध्यापक को यह विश्वास होना चाहिये कि वह जो कुछ करवा रहा है वही ठीक तरीका है। उसे यह नहीं लगना चाहिये कि उसे एक घटिया काम की ओर धकेल दिया गया है।

जब लोग सहमत नहीं होते हो इसका कारण होता है उनका ओछापन और उनकी संकीर्णता, यही चीजें उन्हें सहमत होने से रोकती हैं। वे अपने विचार में ठीक हो सकते हैं... पर हो सकता है कि वे ठीक चीज नहीं कर रहे, अगर उनके अंदर आवश्यक उद्घाटन नहीं है।

ये चीजें व्यक्तित्व के विचार से ऊपर होनी चाहिये। इन दोनों को मिला देना कमजोरी है। व्यक्तित्व का कोई विचार नहीं होना चाहिये।

कुछ ऐसी चीजें हैं जिन्हें हम नहीं कर सकते। उदाहरण के लिये, अगर हम सभी बच्चों को नयी पद्धति में लेना चाहें तो हमें सबको एक-दो महीने के परीक्षण के लिये लेना होगा, यह पता लगाना होगा कि कौन चल सकते हैं, और बाकी को अपने-अपने घर लौटा देना होगा। यह असंभव है।

इसलिये हमें अंदर से समाधान लाना होगा। ऐसे बच्चे हैं जो नयी पद्धति को पसंद नहीं करते—उत्तरदायित्व उन्हें चिंता में डाल देता है। बच्चों ने अपने पत्रों में मुझे

इस बात की सूचना दी है। हम उन्हें जैसा-का-वैसा छोड़ सकते हैं।

हर एक को, बिना अपवाद के, **बिना अपवाद के**, यह जानना चाहिये कि वह कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो जानता है और जो जानता है उसे क्रिया में लाता है। हर एक, उसे जो होना चाहिये वह होना और जो करना चाहिये वह करना सीख रहा है।★

(२६-११-१९६८)

*

तुमने अपने काम के बारे में जो लिखा है उसे मैंने संतोष के साथ पढ़ा और **तुम्हारे अपने काम** के लिये उसे स्वीकार करती हूं।

लेकिन तुम्हें समझना चाहिये कि दूसरे अध्यापक अपने काम के बारे में और तरह से सोच सकते हैं और वे भी उतने ही ठीक हो सकते हैं।

'य' के बारे में तुम्हारी समालोचना पढ़कर मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि मैं उसके और उसकी वृत्ति के बारे में जो जानती हूं यह उसके साथ मेल नहीं खाती।

मैं इस अवसर पर तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि आध्यात्मिक प्रगति और 'सत्य' की सेवा सामंजस्य पर आधारित होती है, विभाजन और समालोचना पर नहीं।

(२५-११-१९६८)

*

प्रगति विस्तार में है, प्रतिरोध में नहीं।

सभी दृष्टिबिन्दुओं को, हर एक को उसके सच्चे स्थान पर रखकर, साथ लाना चाहिये किसी की अवहेलना करके किसी और पर जोर न देना चाहिये।

सच्ची प्रगति आत्मा के विस्तार और सभी सीमाओं के समापन में है।

(२२-१०-१९७१)

*

अध्यापकों को आवश्यक चेतना में विकसित होना चाहिये, काम के वास्तविक अनुभव पर जोर होना चाहिये और बच्चे के मन में खेल और काम के बीच कोई फर्क न होना चाहिये—सब कुछ रुचिमय हो रस से भरपूर। अध्यापक का काम है ऐसी रुचि उत्पन्न करना।

अगर रुचि है तो काम ठीक होगा ही।

(१-११-१९७१)

*

आज 'र' अनुपस्थित था और, कक्षा के बाद, मुझे पता लगा कि आपने उसे मेरी कक्षा छोड़कर बढ़ईगिरि की कक्षा में जाने की अनुमति दी है।

उसने मुझसे कहा कि वह पढ़ाई-लिखाई की जगह हाथ का काम करना बहुत ज्यादा पसंद करेगा। मुझे लगा कि अपने सहज-बोध में वह ठीक है और उसकी प्रकृति के अनुसार उसका चुनाव अच्छे-से-अचछा है। इसलिये मैंने उसे आवश्यक अनुमति दे दी।

(२६-३-१९४६)

*

तुम्हें इस बात का बहुत ख्याल रखना चाहिये कि जो पाठ तुम पढ़ते हो वे एक ही न हों। तुम्हारे विषय एक-दूसरे के साथ संबंधित हैं। अगर दो अध्यापक एक ही विषय पर बोलें तो स्वभावतः दोनों के दृष्टिबिन्दु में कुछ भेद होगा। अलग-अलग कोण से देखें तो एक ही चीज अलग-अलग दिखाई देती है। इससे बच्चों के युवा मानस में गड़बड़ी पैदा होगी और वे अध्यापकों में तुलना करना शुरू करेंगे जो बहुत वांछनीय नहीं है। इसलिये हर एक को दूसरों के विषय में चक्कर लगाये बिना अपने ही विषय तक रहना चाहिये।★

(१०-९-१९५३)

*

बच्चों से जो प्रश्न पूछे जायेंगे उनके बारे में चाहूंगी कि अध्यापक **शब्दों** की जगह **विचारों** में सोचें।

और फिर बाद में, जब विचारों के द्वारा सोचना उनके लिये सामान्य हो जाये तो मैं उनसे ज्यादा प्रगति करने के लिये कहूंगी, जो निर्णायक प्रगति होगी, यानी, विचारों से सोचने की जगह **अनुभूतियों** से सोचना होगा। जब तुम यह कर सको तभी वास्तव में समझना शुरू करते हो।

*

आपने अध्यापकों से "शब्दों में सोचने की जगह विचारों में सोचने के लिये" कहा है। साथ ही आपने यह भी कहा है कि इसके बाद आप उनसे अनुभवों में सोचने के लिये कहेंगी। क्या आप सोचने के इन तीन प्रकारों पर प्रकाश डालने की कृपा करेंगी ?

हमारे मकान पर एक बहुत ऊंचा मीनार है; उस मीनार में सबसे ऊपर एक प्रकाशमान खुला कमरा है, यह खुली हवा और पूर्ण प्रकाश में प्रवेश पाने से पहले सबसे ऊपर का है।

कभी-कभी, जब हमें अवकाश हो, हम इस प्रकाशमान कमरे में चढ़ जाते हैं, और वहां अगर हम बिलकुल शांत रहें, तो दो-एक या कई मेहमान हमसे मिलने आते हैं; कोई लंबा होता है, कोई ठिगना, कोई अकेला होता है, कोई दल समेत; सब-के-सब प्रकाशमान और मनोहर।

साधारणतः, उनके आगमन की खुशी में और उनका अच्छी तरह स्वागत करने की जल्दी में, हम अपनी शांति खो बैठते हैं और दौड़ते हुए उस बड़े हाल में नीचे आते हैं जो मीनार का आधार है और जो शब्दों का गोदाम है। यहां कम या ज्यादा उत्तेजित होकर, हम अपने पास आनेवाले इस या उस मेहमान का आलेखन करने के प्रयास में अपनी पहुंच के सभी शब्दों को चुनते, रद्द करते, जोड़ते, इकट्ठा करते, फिर से व्यवस्थित करते हैं। लेकिन बहुधा हम उनका जो चित्र बनाने में सफल होते हैं वह एक चित्र होने की अपेक्षा व्यंग्य-चित्र होता है।

लेकिन अगर हम ज्यादा बुद्धिमान् होते, तो हम कहीं, मीनार की चोटी पर बिलकुल शांत, स्थिर, आनंदपूर्ण चिंतन में बने रहते। तब, कुछ अवधि के बाद, हम देखेंगे कि स्वयं मेहमान धीरे-धीरे, लालित्य के साथ, शांति से, अपने सौंदर्य और सुरुचि को खोये बिना नीचे उतर रहे हैं और, जब वे शब्दों के भंडार में से गुजरेंगे तो बिना प्रयास के, सहज रूप से, एकदम भौतिक मकान में भी दिखाई देने योग्य शब्दों का परिधान पहन लेंगे।

इसे मैं विचारों के द्वारा सोचना कहती हूं।

जब यह पद्धति तुम्हारे लिये रहस्यमय न रह जायेगी तब मैं तुम्हें बताऊंगी कि अनुभवों के द्वारा सोचना किसे कहते हैं।

(३१-५-१९६०)

*

जब तुम शब्दों के द्वारा सोचते हो तो तुम जो सोचते हो उसे केवल उन्हीं शब्दों के द्वारा व्यक्त कर सकते हो। विचारों द्वारा सोचने पर एक ही विचार को नाना प्रकार के शब्दों के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। शब्द भी अलग-अलग भाषाओं के हो सकते हैं—बशर्ते कि तुम एक से अधिक भाषाएं जानते हो। विचारों के द्वारा सोचने के बारे में यह पहली, सबसे अधिक प्रारंभिक बात है।

जब तुम अनुभव से सोचते हो, तो तुम बहुत ज्यादा गहराई में जाते हो और तुम एक ही अनुभव को नाना प्रकार के विचारों के द्वारा व्यक्त कर सकते हो। तब विचार किसी भी भाषा में यह या वह रूप ले सकता है और सभी में अदल-बदल के बिना सारभूत उपलब्धि एक ही रहेगी।

*

बोलते समय विश्वास पैदा करने के लिये, विचारों में नहीं, अनुभवों में सोचो।

*

क्या तुम 'क' के साथ अध्यापकों की सभा में गये थे ? वह सभा इसलिये हो रही थी क्योंकि वे अपने अध्ययन के अतिरिक्त हर एक को कोई विशेष योजना देना चाहते थे। वे उन्हें ऐसी चीजें खोजने में सहायता करना चाहते थे जिनका वैज्ञानिक आजकल पता लगा रहे हैं—"पानी क्या है," "शक्कर पानी में क्यों घुलती है ?"— और इन सब बातों से वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुंच रहे हैं कि वे कुछ नहीं जानते।

अतः मैंने उससे प्रश्न किया : "मृत्यु क्या है ?"

यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। सैकड़ों वर्षों से मनुष्य यह प्रश्न पूछते आये हैं। वे नहीं जानते।

विद्यार्थी कहेंगे कि वे नहीं जानते कि मृत्यु क्या है, लेकिन वे अन्वेषण के द्वारा पता लगा लेंगे। यह समझने के लिये, तुम्हें यह जानना चाहिये (माताजी बहुत-सी दिशाओं की ओर संकेत करती हैं), और अंत में अगर तुम सीधी लकीर पर चलते चले जाते हो, तो उसकी अपेक्षा यह ज्ञान बहुत ज्यादा विस्तृत होगा।

नीरवता में, हम, 'सत्य' के संपर्क में आते हैं। फिर विचार उतरता है, शब्दों के 'पुस्तकालय' में से गुजरता है और सबसे अधिक उपयुक्त शब्द चुन लेता है। पहले यह धुंधले रूप में आता है। जबतक वह यथार्थ रूप न ले ले तुम्हें प्रयास करते जाना चाहिये। तुम्हें उसे लिख लेना चाहिये, पर तुम्हें शांत रहना और जारी रखना चाहिये। तब तुम्हें ठीक शब्द मिलेगा। इस तरह जो शब्द आता है वह अपने तात्त्विक अर्थ में होता है, रूढ़िगत अर्थ में नहीं।

यह ठीक सद्वस्तु नहीं है; परंतु सद्वस्तु के निकटतम आनेवाले यही शब्द हैं। अध्यापकों को यह करना चाहिये। यह बहुत उपयोगी होगा बजाय इसके कि (सिर के अंदर गोल-गोल चक्कर लगाने का संकेत)।

(मौन)

पता नहीं, तुमने मानसिक नीरवता पाने का प्रयास किया है या नहीं। तुम अपना सारा जीवन उसमें लगा सकते हो और हो सकता है कि लगभग कुछ भी प्राप्ति न हो, जब कि यह बहुत मजेदार है।

पहले कुछ नहीं होता। तुम्हें यूं ही रहना होगा : सक्रिय रूप से नहीं—भगवान् की ओर अभीप्सा में रहो। मन में कोई भी गति न हो; समर्पण भी नहीं, यह गति है संपूर्ण . . . कुछ-कुछ आत्मदान और आत्मत्याग के बीच की चीज। और अगर मन

अपनी सत्ता-पद्धति का निवेदन कर दे तो एक दिन सहज रूप में उत्तर आ जाता है। वह प्रकाश की तरह आता है।

तुम जितने अधिक शांत होगे, तुम्हारे अंदर जितना विश्वास होगा, तुम जितना अधिक ध्यान दोगे, वह उतने ही अधिक स्पष्ट रूप में आयेगा। समय आता है जब तुम्हें केवल इतना करना होता है (खोलने का संकेत)...। विद्यार्थी एक प्रश्न पूछता है। तुम वैसे ही रहते हो (वही संकेत)...

और सबसे बढ़कर, यह कि सक्रिय रूप में न सोचो: "मैं जानना चाहता हूं... मैं इससे क्या कहूं?" नहीं!

तब तुम्हें हमेशा विद्यार्थी के लिये उत्तर मिलेगा। शायद उसके पूछे हुए प्रश्न का उत्तर नहीं, बल्कि वह उत्तर जिसकी उसे जरूरत है। और वह हमेशा मजेदार होगा...

वहां, ऊपर, तुम्हें सब कुछ मालूम होता है। जब तुम यह मानने लगो कि मन शक्तिहीन है, कि वह कुछ नहीं जानता तो तुम नीरव हो जाते हो। तुम्हें अधिकाधिक विश्वास होता जाता है कि वहां, ऊपर, एक ऐसी चेतना है जो न सिर्फ जानती है, बल्कि जिसमें शक्ति है, जो छोटे-से-छोटे ब्योरे को देखती है और परिणामतः विद्यार्थी की आवश्यकता को जानती है और उसका उत्तर देती है। जब तुम्हें इस बात का विश्वास हो जाये तो तुम निजी हस्तक्षेप छोड़ देते हो और कहते हो: "लो, मेरा स्थान ले लो।"★

(३१-७-१९६७)

*

मैंने इन तीन बच्चों को अघाकर खेलने दिया और इस आशा से कि वे इस तरह जल्दी ही उसके बाहर निकल आयेंगे।

और वास्तव में हुआ भी यही। तीसरे सप्ताह के आरंभ में तीनों बच्चे व्यक्तिगत खेलों के लिये अपने नाम दे रहे हैं और अपने शोर-शराबे के खेलों को भूलते जा रहे हैं।

क्या मैं ऐसा करना जारी रखूं: "स्कूल के बाहर" के बने इस फोड़े को बनने और फूटने दूं तथा इसमें जो समय लगता है, जो विद्यालय की दृष्टि से समय की बरबादी है, उसकी परवाह न करूं?

निश्चय ही, यही सबसे अच्छा उपाय है।

क्या विद्यालय के ढांचे में रहते हुए, हम "स्कूल के बाहर" के कुछ खेलों के लिये अनुमति दे दें, जैसे लुका-छिपी, गेंद के खेल (क्रिकेट), गृह-निर्माण आदि...। बच्चों को इन चीजों के लिये शोर मचाते हुए देखकर हमें लगा

कि शायद हमारे बच्चे अमुक प्रकार के क्रिया-कलाप से—कभी किसी बड़े मैदान में पूरी आजादी के साथ खेलने से!—कटे रहे होंगे। क्या यह वास्तव में बच्चों की सच्ची आवश्यकता है?

निःसंदेह।

(२३-९-१९६०)

*

बच्चों के लिये उपयोगी और लाभदायक खेल चुनना बहुत कठिन है। इसके लिये बहुत चिंतन और मनन की जरूरत है, और जो कुछ बिना सोचे-समझे किया जाता है उससे असुखकर परिणाम हो सकते हैं।

*

अगर बच्चों को, बहुत छोटों को भी, चीजें व्यवस्था में रखना और एक प्रकार की चीजों को एक साथ सजाना आदि आदि, सिखाया जाये तो वे उसे बहुत पसंद करते हैं और भली-भांति सीखते हैं। बच्चों को सुव्यवस्था और साफ-सुथरेपन के पाठ सिखाने का, सैद्धांतिक नहीं बल्कि **क्रियात्मक और व्यावहारिक ढंग से पाठ** सिखाने का, यह अच्छा अवसर है।

परीक्षण करो, मुझे विश्वास है कि बच्चे चीजों को व्यवस्थित करने में तुम्हारी सहायता करेंगे।

प्रेम और आशीर्वाद।

(१४-१२-१९६३)

*

देखा गया है कि काफी बड़ी संख्या में बच्चे, बैठने या लिखने के समय ठीक ढंग से नहीं बैठते। लिखते समय वे कापी अपने सामने नहीं रखते। ४५ से ९० दरजे के कोण पर रखते हैं।

शायद ज्यादा अच्छा होगा कि पहले स्वयं अध्यापक लिखते समय उचित ढंग से बैठना सीखें?

मेरे आशीर्वाद के साथ।

*

अपने एक पत्र में श्रीअरविन्द ने युवावर्ग और साधना के लिये उसकी तैयारी के बारे लिखा है। मैं उसकी प्रतिलिपि आपके पास भेज रहा हूं। मैं यह जानना चाहूंगा कि क्या छोटी उम्रवालों को उत्साह के साथ आध्यात्मिक जीवन और विचारों के बारे में दी गयी चेतावनी को कक्षा के विद्यार्थियों के आगे बोलते हुए ध्यान में रखना जरूरी है? क्या उसके अंदर श्रीअरविन्द के शब्दों में "नकली और अवास्तविक आग सुलगाने का भय" है?

श्रीअरविन्द का पत्र: "सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि लोगों को और विशेष रूप से युवावर्ग को साधना की ओर खींचने के लिये बहुत ज्यादा आतुर होना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है। जो साधक इस योग की ओर आता है उसमें वास्तविक पुकार होनी चाहिये, और वास्तविक पुकार के होते हुए भी प्रायः यह काफी कठिन होता है। लेकिन जब तुम लोगों को उत्साहपूर्ण प्रोपेगंडा के भाव से खींचते हो तो सच्ची अग्नि नहीं, एक नकली और अवास्तविक आग सुलगाने का भय रहता है, या एक ऐसी अल्पजीवी आग सुलगती है जो टिक नहीं सकती और प्राणिक लहरों के उभार में दब जाती है। यह विशेष रूप से उन तरुणों के बारे में ज्यादा होता है जो नमनीय होते हैं और आसानी से, अपने नहीं, किसी और के दिये हुए विचारों और भावों में पकड़े जाते हैं—बाद में प्राण अपनी असंतुष्ट मांगों के साथ उठ खड़ा होता है और वे दो परस्पर विरोधी शक्तियों के बीच झुलाये जाते हैं या तेजी से सामान्य जीवन और क्रिया के आकर्षण और कामनाओं की तुष्टि के आगे झुक जाते हैं। तरुण अवस्था में साधारण झुकाव इसी तरफ होता है। या फिर एक अयोग्य आधार ऐसी पुकार के दबाव में कष्ट पाता है जिसके लिये वह तैयार न था, या कम-से-कम अभी तैयार न था। जब व्यक्ति के अपने अंदर सच्ची चीज होती है तो वह आगे बढ़ता है और अंत में साधना का पूरा मार्ग अपना लेता है, लेकिन ऐसे बहुत ही कम होते हैं। उन्हीं लोगों को लेना ज्यादा अच्छा है जो अपने-आप आते हैं और उनमें भी वे जिनमें सतत और सच्ची पुकार है।"[१]

यह उद्धरण बहुत सुन्दर है और बहुत अधिक उपयोगी है।

तरुणों के साथ बोलते हुए, जो स्वभावतः अपने विचार आसानी से बदल लेते हैं, श्रीअरविन्द की चेतावनी को निश्चित रूप से याद रखनी चाहिये।

कक्षा में तुम्हें बहुत ज्यादा वस्तुनिष्ठ होना चाहिये।

आशीर्वाद।

(२-६-१९६७)

*

[१] मूल :—लैटर्स ऑन योग, सेण्टनरी वोल्यूम २४, पृ० १६१५-१६।

मैं जानना चाहूंगा कि इस पत्र में 'वस्तुनिष्ठ' से आपका क्या मतलब है ? क्या आपका मतलब यह है कि विद्यार्थियों को साधना-संबंधी आपके और श्रीअरविन्द के दर्शन को समझाते हुए विचार और वाणी में व्यक्तिगत भावों को न आने दिया जाये ?

हां, यही।

अपने बारे में या अपनी अनुभूति के बारे में मत बोलो।

(५-६-१९६७)

*

अध्यापकों को अपनी कक्षा के दिन या समय अनुपस्थित न रहना चाहिये। अगर कोई विद्यालय के समय बाहरी क्रिया-कलाप के लिये बाधित होता है तो वह अध्यापक नहीं हो सकता।

(११-३-१९७०)

*

अनुशासन

नियंत्रण कक्षा का सर्वोत्तम या सबसे अधिक प्रभावशाली तत्त्व नहीं है। सच्ची शिक्षा को इन विकसनशील सत्ताओं में विद्यमान वस्तु को खोलना और व्यक्त करना चाहिये। जैसे फूल सूर्य के प्रकाश में खिलते हैं ठीक वैसे ही बच्चे आनंद में खिलते हैं। स्पष्ट है कि आनंद का मतलब कमजोरी, अव्यवस्था और अस्तव्यस्तता नहीं है,—बल्कि एक प्रकाशमय और सौम्य भद्रता है जो अच्छे को प्रोत्साहित करती है और बुरे पर बहुत जोर नहीं देती। न्याय की अपेक्षा कृपा सत्य के ज्यादा नजदीक है।

(१९६१)

*

माताजी, जब कक्षा में कोई बच्चा अनुशासन के अनुसार चलने से इंकार करे तो क्या करना चाहिये ? क्या उसे मनमानी करने दी जाये ?

सामान्यतः, १२ वर्ष की उम्र के बाद सब बच्चों के लिये अनुशासन जरूरी होता है।

कुछ अध्यापक मानते हैं कि आप अनुशासन के विरुद्ध हैं।

उनके लिये अनुशासन एक मनमाना नियम है जिसे छोटे बच्चों पर लादा जाता है, वे अपने-आप उसके अनुसार नहीं चलते। मैं इस प्रकार के अनुशासन के विरुद्ध हूं।

तो अनुशासन ऐसा नियम पालन है जिसे बच्चा स्वयं अपने ऊपर लगाता है, उसे इसकी आवश्यकता का भान कैसे कराया जाये ? उसका अनुसरण करने में सहायता कैसे की जाये ?

उदाहरण सबसे अधिक प्रभावी प्रशिक्षक है। किसी बच्चे से ऐसे नियम-पालन के लिये कभी न कहो जिसका अनुसरण स्वयं तुम नहीं करते। स्थिर-शांत, समता, सुव्यवस्था, नियमितता, व्यर्थ के शब्दों का अभाव—ये ऐसी चीजें हैं जिनका अध्यापक को हमेशा अभ्यास करते रहना चाहिये, यदि वह चाहता है कि उसके विद्यार्थियों में ये गुण पैदा हों।

अध्यापक को हमेशा समय-पालन करना चाहिये। उसे हमेशा, ठीक वेशभूषा के साथ कक्षा शुरू होने से कुछ मिनट पहले, आ जाना चाहिये। और सबसे बढ़कर, उसे कभी झूठ न बोलना चाहिये ताकि उसके विद्यार्थी झूठ न बोलें; उसे कभी विद्यार्थियों पर गरम न होना चाहिये ताकि विद्यार्थी कभी क्रोध न करें; और यह कह सकने के लिये : "उपद्रव का अंत प्रायः आंसुओं में होता है," उसे कभी उनमें से किसी पर हाथ न उठाना चाहिये।

ये बिलकुल प्रारंभिक और मौलिक बातें हैं जिनका अभ्यास बिना अपवाद के हर विद्यालय में होना चाहिये।★

*

तुम बच्चों पर मनोवैज्ञानिक शासन तभी ला सकते हो जब तुम्हें स्वयं अपनी प्रकृति पर काबू हो।

(१६-७-१९६३)

*

पहले, अच्छी तरह से जानो कि तुम्हें क्या पढ़ाना है। अपने बच्चों और उनकी विशेष आवश्यकताओं को अच्छी तरह समझने की कोशिश करो।

बहुत शांत रहो और बहुत धीरज रखो, कभी गुस्सा न करो; दूसरों का स्वामी बनने से पहले स्वयं अपने स्वामी बनो।

(७-१२-१९६४)

*

अगर तुम्हें दूसरों पर अधिकार का प्रयोग करना है तो पहले स्वयं अपने ऊपर अधिकार प्राप्त करो। अगर तुम बच्चों में अनुशासन नहीं रख सकते तो मार-पीट न करो, चिल्लाओ मत, व्यग्र मत होओ—इसके लिये अनुमति नहीं दी जा सकती। ऊपर से स्थिरता और शांति को उतारो। उनके दबाव से चीजें सुधर जायेंगी।★

*

माताजी, छोटे बच्चों के लिये हमें क्या करना चाहिये ?

ओह ! छोटे बच्चे अद्भुत होते हैं ! मैं बहुत-से छोटे बच्चों को देखती हूं। लोगों को उन्हें मेरे पास लाने की आदत हो गयी है। उन बच्चों में जो अभी दो वर्ष से भी कम के हैं उनमें अभी से जो चेतना होती है वह अद्भुत है। वे सचेतन होते हैं। उनके पास अपने-आपको अभिव्यक्त करने के लिये साधन नहीं होते, शब्द नहीं होते, परंतु वे बहुत सचेतन होते हैं। अतः बच्चे को डांटना, लगता है . . . !

उस दिन परसों, एक बच्चा मेरे पास लाया गया था और वह बुड़बुड़ा रहा था। और निश्चय ही उसकी मां . . .। तो मैंने उसे एक गुलाब दिया और कहा : देखो, यह तुम्हारे लिये है !" निश्चय ही वह शब्द तो नहीं समझा, पर उसने गुलाब को इधर-उधर घुमाया और शांत हो गया। छोटे बच्चे अद्भुत होते हैं। यह काफी है कि उनके चारों ओर चीजें रख दो और उन्हें छोड़ दो। जबतक कि बहुत ही जरूरी न हो बीच में मत पड़ो। और उन्हें छोड़ दो। और उन्हें कभी मत डांटो।

(३१-७-१९६७)

*

तुम एक अच्छे अध्यापक हो परंतु बच्चों के साथ तुम्हारा व्यवहार आपत्तिजनक है।

बच्चों को प्रेम और मृदुता के वातावरण में शिक्षा देनी चाहिये।

मार-पीट नहीं, कभी नहीं।

डांट-डपट नहीं, कभी नहीं।

हमेशा मृदु सहृदयता, और अध्यापक को उन गुणों का जीता-जागता उदाहरण होना चाहिये जिन्हें बच्चों को प्राप्त करना है।

बच्चों को विद्यालय जाते हुए खुश होना चाहिये, सीखते हुए खुश होना चाहिये, और अध्यापक को उनका पहला मित्र होना चाहिये जो उनके आगे उन गुणों का उदाहरण रखता है जो उन्हें प्राप्त करने चाहिये।

और यह सब ऐकांतिक रूप से अध्यापक पर निर्भर करता है। इस पर कि वह क्या करता है और कैसे व्यवहार करता है।

*

बच्चे कक्षा में इतना अधिक बोलते हैं कि मुझे प्रायः उन्हें डांटना पड़ता है।

बच्चों को कड़ाई से नहीं, **आत्मसंयम से** वश में किया जाता है।

मुझे तुम्हें यह बतला देना चाहिये कि अगर कोई अध्यापक मान चाहता है तो उसे माननीय होना चाहिये। केवल 'क्ष' ही नहीं जिसने मुझे बतलाया है कि तुम आज्ञा पालन कराने के लिये पीटते हो; इससे कम माननीय चीज और कोई नहीं है। पहले तुम्हें आत्मसंयम करना चाहिये और अपनी इच्छा लादने के लिये कभी पाशविक बल का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

मैंने हमेशा यही सोचा है कि विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता के लिये अध्यापक के चरित्र की कोई चीज जिम्मेदार होती है।

मैं आशा करता हूं कि आप मुझे कुछ निश्चित आदेश देंगी जो मुझे कक्षा में व्यवस्था रखने में सहायता दें।

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है आत्मसंयम और कभी गुस्सा न करना। अगर तुम्हें अपने ऊपर संयम न हो तो तुम दूसरों को वश में करने की आशा कैसे कर सकते हो, और फिर बच्चे, जो तुरंत पहचान लेते हैं कि तुम आपे से बाहर हो ?

*

बालकों की कक्षाओं के अध्यापकों से

एक ऐसा नियम जिसका कठोरता से पालन होना चाहिये :

बच्चों को पीटना **सख्ती से मना है**—सब प्रकार की मार निषिद्ध है, हल्का या तथाकथित मैत्रीपूर्ण घूंसा भी। किसी बच्चे को इसलिये मारना क्योंकि वह आज्ञा-पालन नहीं करता या नहीं समझता या औरों को तंग करता है, आत्मसंयम के अभाव का सूचक है, और यह अध्यापक तथा विद्यार्थी, दोनों के लिये हानिकर है।

जरूरत हो तो अनुशासन की कार्रवाई की जा सकती है पर पूरी तरह स्थिर शांति के साथ, किसी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया के कारण नहीं।

*

कक्षा में शांति का वातावरण रखने के लिये मुझे क्या करना चाहिये ?

अपने-आप पूरी तरह शांत रहो।

अपने साथ एक बड़ा-सा, लगभग एक मीटर लंबा गत्ता लाओ जिस पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा हो :

"शान्त रहो"

(इससे बहुत बड़े-बड़े अक्षरों में सफेद जमीन पर काले अक्षर हों), जैसे ही बच्चे बोलना शुरू करें, यह गत्ता उनके सामने कर दो।

आशीर्वाद।

*

किसी बच्चे से ऐसी कोई बात न कहो जिसे सचमुच जानने के लिये भुलाना पड़े। किसी बच्चे के आगे ऐसा कोई काम न करो जो उसे बड़ा होकर न करना चाहिये।

*

यह कभी न भूलो कि छः वर्ष से कम का छोटा बच्चा जितना व्यक्त कर सकता है उससे बहुत अधिक जानता है।

*

गृहकार्य

सभी विद्यार्थी यह शिकायत करते हैं कि उनके अध्यापक केवल अपनी ही कक्षा की सोचते हैं और उन्हें गृहकार्य देना चाहते हैं, हर एक यही सोचता है कि वह बहुत थोड़ा दे रहा है और वह यह नहीं समझता कि थोड़ा-थोड़ा ही बहुत हो जाता है।

मैं यह नहीं कह सकती कि उनकी बात गलत है।

वे सभी अध्यापक जो विद्यार्थियों के एक दल को पढ़ाते हों, आपस में एकमत होकर कार्य दें ताकि विद्यार्थियों पर काम का भार अधिक न हो जाये और वे आराम तथा विश्रांति पा सकें जो **अनिवार्य** है।

मैं कोई उपयोगी सलाह दे सकूं इससे पहले यह सम्मिलित तैयारी जरूरी है।

रही बात विषयों की, तो ऐसे विषय चुनना अनिवार्य है जो उनकी निजी अनुभूतियों से मेल खाते हों और इस तरह आत्मावलोकन, निरीक्षण और व्यक्तिगत प्रभावों के विश्लेषण को प्रोत्साहित करें।

(दिसंबर १९५९)

*

(एक गणित के अध्यापक ने पूछा कि उसे गृहकार्य-संबंधी इस तात्कालिक नीति का कठोरता से पालन करना चाहिये या नहीं कि दस वर्ष से कम के बच्चों को कोई गृहकार्य न दिया जाये। उसके कुछ विद्यार्थियों ने घर पर करने के लिये कुछ सवाल मांगे हैं। माताजी ने लिखा :)

यह गृहकार्य का मामला बड़ा कंटीला है। जो गृहकार्य करना चाहते हैं वे इसके बारे में सीधा मुझे लिखें।

(१९६०)

*

अपनी गणित की कक्षा में हम कुछ गृहकार्य चाहते हैं।

काश, तुम जरा ज्यादा शुद्ध फ्रेंच लिख पाते!

अगर तुम सचमुच चाहते हो तो कुछ गृहकार्य कर सकते हो—लेकिन ज्यादा अच्छा यह है कि सावधानी और एकाग्रता के बिना बहुत अधिक करने की अपेक्षा, जो करते हो ज्यादा अच्छी तरह करो।

अगर तुम कुछ भी करना चाहते हो तो अपने-आपको अनुशासित करना और एकाग्र होना सीखो।

(२८-६-१९६०)

*

मैं इससे सहमत नहीं हूं कि बच्चों को घर पर काम करना चाहिये। उन्हें घर पर जो इच्छा हो वह करने के लिये स्वतंत्र होना चाहिये।

समस्या का हल शांति कक्ष[१] में पाया जा सकता है।

(१४-९-१९६७)

*

यह निश्चय बच्चों और उनके मां-बाप से इस प्रकार की बहुत-सी शिकायतें पाने के बाद किया गया है कि गृहकार्य के कारण बच्चे बहुत देर में सोते हैं और काफी न सो पाने के कारण बच्चे थके-थके रहते हैं।

मैं जानती हूं कि इन सब शिकायतों में अतिशयोक्ति है, लेकिन वे इस बात की सूचक भी हैं कि इस रूढ़ि में कुछ प्रगति करना जरूरी है।

इस योजना को समस्त ब्योरों में लोच और नमनीयता के साथ हल करने की जरूरत है।

मैं सभी बच्चों को एक ही तरह हांकने के पक्ष में नहीं हूं; इससे एक तरह का एकरूप स्तर बन जाता है जो पिछड़े हुए विद्यार्थियों के लिये तो लाभदायक होता है पर उनके लिये हानिकर होता है जो सामान्य ऊंचाई से ऊपर उठ सकते हैं।

जो सीखना और काम करना चाहते हैं उन्हें प्रोत्साहन देना चाहिये। लेकिन जो पढ़ना-लिखना नहीं चाहते उनकी शक्ति किसी और दिशा में मोड़नी चाहिये।

चीजों को व्यवस्थित और संगठित करना है। काम के ब्योरे बाद में निश्चित किये जायेंगे।

आशीर्वाद।

(२६-९-१९६७)

*

परीक्षाएं

माताजी, मैं यह जानना चाहूंगा कि नये वर्ष में कक्षा की व्यवस्था के बारे में आपका क्या विचार है, नयी कक्षाएं बनाने से पहले परीक्षा होगी या नहीं ?

मैं परीक्षा को बिलकुल जरूरी मानती हूं। बहरहाल फ्रेंच में तो परीक्षा होगी।

प्रेम और आशीर्वाद।

(२९-१०-१९४६)

*

[१] एक कमरा जहां बच्चे चुपचाप बैठते या अध्ययन करते हैं।

किसी कक्षा के लिये विद्यार्थी रूढ़िगत परीक्षाओं के द्वारा नहीं चुने जा सकते। यह अपने अंदर सच्चा मनोवैज्ञानिक भान उत्पन्न करने से ही हो सकता है।

जो बच्चे सीखना चाहते हैं उन्हें चुन लो, उन्हें नहीं जो किसी तरह धक्का देकर आगे आना चाहते हैं।

(२९-१०-१९६५)

*

(परीक्षाओं में धोखेबाजी के बारे में)

मैं क्या करूं? क्या हमें भी वही करना चाहिये जो बाहर किया जाता है—हर कमरे में तीन-तीन अध्यापकों को निरीक्षण के लिये रख दिया जाये? अध्यापक यहां, आश्रम में, इस तरह करना पसंद नहीं करते।

या हम परीक्षा लेना ही बंद कर दें? मुझे यह प्रस्ताव जरा संदिग्ध मालूम होता है, क्योंकि गृहकार्य और निबंधों में भी तो यही होता है।

बहरहाल समस्या मौजूद है, और कोई वास्तविक समाधान पाने के लिये यह जानना चाहिये कि बच्चे ऐसा व्यवहार क्यों करते हैं।

कृपया मुझे इस असद्व्यवहार का कारण और इस समस्या का समाधान बतलाइये।

यह बहुत सरल है। यह इसलिये होता है क्योंकि बहुत-से बच्चे इसलिये पढ़ते हैं कि उनके घरवाले रिवाज और प्रचलित विचारों के कारण इसके लिये बाधित करते हैं, वे **जानने और सीखने** के लिये नहीं पढ़ते। जबतक पढ़ने का उद्देश्य नहीं बदला जाता, जबतक कि वे इसलिये नहीं पढ़ते कि वे **जानना चाहते हैं**, तबतक वे अपना काम आसान बना लेने और कम-से-कम प्रयास के साथ परिणाम पाने के लिये सब प्रकार की चालाकियां खोजते रहेंगे।

(जून १९६७)

*

(माताजी ने कहा है कि निम्नलिखित वक्तव्य का बार-बार दोहराना, हर रोज सैंकड़ों, हजारों बार दोहराना, यहांतक कि वह एक जीवित-जाग्रत् स्पन्दन बन जाये, विद्यार्थी की इस विषय में सहायता करेगा कि वह अपने अंदर के लिये समुचित संकल्प और प्रयोजन प्रतिष्ठित कर सके।)

सब विद्यार्थियों द्वारा हर रोज दोहराये जाने के लिये :

हम अपने परिवार के लिये नहीं पढ़ते, हम कोई अच्छा पद पाने के लिये नहीं

पढ़ते, हम पैसा कमाने के लिये नहीं पढ़ते, हम कोई उपाधि पाने के लिये नहीं पढ़ते।

हम सीखने के लिये, जानने के लिये, संसार को समझने के लिये और पढ़ाई से मिलनेवाले आनंद के लिये पढ़ते हैं।

(जून १९६७)

*

एक ही उपाय है, इस परीक्षा को और आनेवाली सभी परीक्षाओं को रद्द कर दो। सभी परचों को अपने पास बंधे हुए पुलिंदे के रूप में रख छोड़ो—मानों वे थे ही नहीं—और चुपचाप कक्षाएं जारी रखो।

वर्ष के अंत में तुम विद्यार्थियों के बारे में टिप्पणियां दोगे जो लिखित उत्तर-पत्रों पर आधारित न होकर, उनके व्यवहार, उनकी एकाग्रता, उनकी नियमितता, उनकी तुरंत समझने की क्षमता और बुद्धि के खुले होने पर आधारित होंगी।

अपने लिये, तुम इसे एक साधना के रूप में लोगे, तुम्हें अधिक आंतरिक संपर्क, तीक्ष्ण अवलोकन और निष्पक्ष दृष्टि पर भरोसा करना होगा।

विद्यार्थियों के लिये यह जरूरी होगा कि बिना पूरी तरह समझे तोता-रटन्त करने की जगह, जो पढ़ते हैं उसे सचमुच समझें।

इस भांति शिक्षा में एक सच्ची प्रगति होगी।

आशीर्वाद सहित।

(२१-७-१९६७)

*

मुझे लगता है कि परीक्षा यह जानने का दकियानूसी और व्यर्थ उपाय है कि विद्यार्थी समझदार, इच्छुक और एकाग्र हैं या नहीं।

यदि स्मरण-शक्ति अच्छी हो तो एक मूढ़, यांत्रिक मन भी परीक्षा में अच्छी तरह से उत्तीर्ण हो सकता है और निश्चय ही भावी मनुष्य के लिये इन गुणों की जरूरत नहीं।

पुरानी आदतों के प्रति सहिष्णुता के कारण मैं इस बात के लिये राजी हो गयी थी कि जो परीक्षा जारी रखना चाहें वे रख सकते हैं। लेकिन मैं आशा करती हूं कि आगे चलकर यह सुविधा जरूरी न रहेगी।

अगर परीक्षाएं हटा दी जायें, तो यह जानने के लिये कि क्या विद्यार्थी अच्छा है, अध्यापक को जरा अधिक आंतरिक संपर्क और मनोवैज्ञानिक ज्ञान की जरूरत होगी। लेकिन हमारे अध्यापकों से यह आशा की जाती है कि वे योग करते हैं, अतः उनके लिये यह कठिन न होना चाहिये।

(२२-७-१९६७)

*

निश्चय ही अध्यापक को यह जानने के लिये कि विद्यार्थी ने कुछ सीखा है, कोई प्रगति की है, विद्यार्थी को परखना होगा। परंतु यह परख व्यक्तिगत और हर विद्यार्थी के अनुकूल होनी चाहिये, सबके लिये एक ही यांत्रिक परख नहीं। वह एक सहज और अप्रत्याशित परख होनी चाहिये जिसमें कपट और दिखावे का स्थान न हो। यह भी स्वाभाविक है कि अध्यापक के लिये यह बहुत ज्यादा कठिन है लेकिन साथ ही बहुत ज्यादा जीवित-जाग्रत और मजेदार भी।

तुमने अपने विद्यार्थियों के बारे में जो टिप्पणियां लिखी हैं उनमें मुझे मजा आया। इससे प्रमाणित होता है कि उनके साथ तुम्हारा व्यक्तिगत संबंध है—और अच्छी पढ़ाई के लिये यह अनिवार्य है।

जो कपटी हैं वे सचमुच सीखना नहीं चाहते, वे केवल अच्छे अंक या अध्यापक की शाबाशी चाहते हैं—मुझे उनमें रस नहीं है।

(२५-७-१९६७)

*

"मुक्त प्रगति कक्षाओं" में पुरस्कार देने के लिये कौन-सी कसौटी होनी चाहिये ?

पुरस्कार निश्चित रूप से प्रतियोगिता के स्तरों के अनुसार न होने चाहिये।

(१) क्षमता और (२) सद्भावना तथा सतत प्रयास के अमुक स्तर को लांघनेवालों को, समान मूल्यवाले, पुरस्कार दिये जा सकते हैं।

पुरस्कार योग्य होने के लिये दोनों चीजें होनी चाहियें।

पाठ्यक्रम

माताजी और श्रीअरविन्द के ग्रंथों का अध्ययन

मधुर मां, आपकी और श्रीअरविन्द की पुस्तकों को किस तरह पढ़ा जाये ताकि वे केवल मन के द्वारा समझ में आने की जगह हमारी चेतना में घुस जायें ?

मेरी किताबें पढ़ना मुश्किल नहीं है क्योंकि वे बहुत सरल, लगभग बोलचाल की भाषा में लिखी गयी हैं। उनसे लाभ उठाने के लिये इतना काफी है कि उन्हें ध्यान और एकाग्रता के साथ, आंतरिक सद्भावना की वृत्ति से, उनमें जो शिक्षा दी गयी है उसे ग्रहण करने और जीवन में उतारने की इच्छा से पढ़ा जाये।

श्रीअरविन्द ने जो लिखा है उसे समझना कुछ ज्यादा कठिन है क्योंकि अभिव्यंजना बहुत ज्यादा बौद्धिक है और भाषा बहुत अधिक साहित्यिक और दार्शनिक। मस्तिष्क को उनकी चीज ठीक तरह समझने के लिये तैयारी की जरूरत होती है और साधारणतः तैयारी में समय लगता है। अगर कोई विशेष प्रतिभावाला है जिसमें सहजात अंतर्भास की क्षमता हो तो और बात है।

बहरहाल, मैं हमेशा यह सलाह देती हूं कि एक बार में थोड़ा-सा पढ़ो, मन को जितना शांत रख सकते हो रखो, समझने की कोशिश न करो, दिमाग को जहांतक हो सके मौन रखो, और **जो तुम पढ़ रहे हो उसमें जो शक्ति है उसे अपने अंदर गहराई में प्रवेश करने दो।** शांत-स्थिरता और नीरवता में ग्रहण की गयी यह शक्ति अपनी ज्योति का काम करेगी और, अगर जरूरत हुई तो, मस्तिष्क में इसे समझने के लिये आवश्यक कोषाणु पैदा करेगी। इस तरह, जब तुम उसी चीज को कुछ महीनों के बाद दोबारा पढ़ते हो तो तुम्हें लगता है कि उसमें व्यक्त किया गया विचार बहुत ज्यादा स्पष्ट और निकट, और कभी-कभी बहुत परिचित हो गया है।

ज्यादा अच्छा यह है कि नियमित रूप से पढ़ो, रोज थोड़ा-सा पढ़ो और हो सके तो एक निश्चित समय पर; इससे मस्तिष्क के लिये ग्रहण करना आसान हो जाता है।

(२-११-१९५९)

*

मधुर मां, श्रीअरविन्द की जो पुस्तकें कठिन हैं और मेरी समझ में नहीं आतीं, उदाहरण के लिये, 'सावित्री', 'दिव्य जीवन', उन्हें मैं किस वृत्ति के साथ पढ़ूं ?

एक बार में थोड़ा-सा अंश पढ़ो, बार-बार पढ़ो जबतक कि समझ में न आ जाये।

(२३-६-१९६०)

*

श्रीअरविन्द के ग्रंथ पढ़ने का सच्चा तरीका क्या है?

सच्चा तरीका है एक बार में थोड़ा-सा एकाग्रता के साथ पढ़ना, मन जहांतक हो सके नीरव रहे, समझने के लिये सक्रिय रूप से प्रयास किये बिना, ऊपर की ओर को नीरवता में मुड़ा रहे और ज्योति के लिये अभीप्सा करे। धीरे-धीरे समझ आती जायेगी।

और फिर, दो-एक वर्ष में, तुम फिर से उसी चीज को पढ़ोगे और तुम जान जाओगे कि पहला संपर्क अस्पष्ट और अपूर्ण था, और यह कि सच्ची समझ बाद में, उसे क्रियात्मक रूप देने का प्रयास करने के बाद आती है।

(१४-१०-१९६७)

*

तुम धरती पर आये हो अपने-आपको जानना सीखने के लिये।

श्रीअरविन्द के ग्रंथ पढ़ो और सावधानी से अपने अंदर जितनी गहराई में जा सकते हो जाओ।

(४-७-१९६९)

*

श्रीअरविन्द की शताब्दी के इस वर्ष में हम विद्यालय के अध्यापक और विद्यार्थी, श्रीअरविन्द की सेवा के लिये क्या कर सकते हैं?

सबसे पहले यह पढ़ो कि श्रीअरविन्द ने शिक्षा के विषय में क्या लिखा है। फिर तुम्हें उसे अपने व्यवहार में लाने के लिये कोई रास्ता खोजना होगा।

(१९७२)

*

श्रीअरविन्द धरती पर अतिमानसिक जगत् की अभिव्यक्ति की घोषणा करने आये थे और उन्होंने इस अभिव्यक्ति की घोषणा ही नहीं की बल्कि अंशतः अतिमानसिक शक्ति को मूर्त रूप भी दिया और अपने उदाहरण के द्वारा यह बतलाया कि उसे अभिव्यक्त करने के लिये क्या करना चाहिये। सबसे अच्छी बात जो हम कर सकते हैं वह यह है : उन्होंने हमसे जो कुछ कहा है उसका अध्ययन करें और उनके उदाहरण का अनुसरण करने की कोशिश करें और अपने-आपको नयी अभिव्यक्ति के लिये तैयार करें।

यह चीज जीवन को उसका असली अर्थ देती है और हमें सभी बाधाओं पर विजय पाने में सहायता देगी।

हम नयी सृष्टि के लिये जियें तो हम युवा और प्रगतिशील रहकर बलवान्, और अधिक बलवान् होते जायेंगे।

(३०-१-१९७२)

*

श्रीअरविन्द की शताब्दी के लिये, मैं व्यक्तिगत रूप से श्रीअरविन्द के प्रति कौन-सी सर्वोत्तम भेंट दे सकता हूं ?

पूरी सचाई के साथ उन्हें अपना मन अर्पण कर दो।

(१३-११-१९७०)

श्रीअरविन्द की सेवा में पूरी सचाई के साथ अपना मन अर्पण करने के लिये, क्या यह जरूरी नहीं है कि एकाग्रता की शक्ति को बहुत विकसित किया जाये ? क्या आप मुझे बतलायेंगी इस बहुमूल्य क्षमता को पैदा करने के लिये मुझे क्या करना चाहिये ?

एक समय निश्चित कर लो जब तुम हर रोज शांत-स्थिर हो सको।

श्रीअरविन्द की कोई एक पुस्तक ले लो। दो-एक वाक्य पढ़ो। तब गहरे अर्थ समझने के लिये नीरव और एकाग्र रहो। काफी गहराई में एकाग्र होने की कोशिश करो ताकि तुम मानसिक नीरवता पा सको, और फिर, जबतक कोई परिणाम न मिल जाये तबतक इसी तरह रोज करते रहो।

स्वभावतः तुम्हें सो न जाना चाहिये।

(३-२-१९७२)

*

अगर तुम ध्यान से श्रीअरविन्द की चीजें पढ़ो तो तुम जो कुछ जानना चाहते हो सबका उत्तर पा लोगे।

(२५-१०-१९७२)

*

श्रीअरविन्द ने सभी विषयों पर जो कुछ कहा है उसका ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से तुम आसानी से इस संसार की सभी चीजों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हो।

*

माताजी, बुद्धिमान् कैसे बना जाता है ?

श्रीअरविन्द की चीजें पढ़ो।

*

श्रीअरविन्द की चीजों का अध्ययन पुस्तकों से नहीं, विषयवार करना चाहिये—उन्होंने भगवान्, एकता, धर्म, विकास-क्रम, शिक्षा, आत्म-सिद्धि, अतिमानस आदि, आदि के बारे में क्या कहा है।

*

क्या (अंग्रेजी) शिक्षा-समिति यह मान लेने में ठीक है कि विद्यालय के अंग्रेजी पाठ्यक्रम में माताजी और श्रीअरविन्द की कृतियां होनी चाहियें ?

हां।

क्या संपूर्ण पुस्तकें चुनना अच्छा है या अलग-अलग पुस्तकों से चुने हुए संदर्भ ?

विद्यालय के लिये संकलन ज्यादा अच्छे हैं।

क्या योग के बारे में जो पुस्तकें हैं उनमें से भी उद्धरण चुनने चाहियें ?

बहुत ही सरल चीजें, जैसे "योग के तत्त्व" में से।

अंग्रेजी अध्ययन के लिये इन पुस्तकों का उपयोग किस तरह किया जाये ? उन्हें समझाया जाये या बस, यूं ही पढ़ लिया जाये ? विशेषकर यदि माताजी योगसंबंधी पुस्तकों के लिये स्वीकृति देती हैं तो उन्हें किस तरह पढ़ाया जाये ?

योग के दृष्टिकोण से नहीं।

क्या इन संकलनों को अध्यापक निजी रूप में[१] कक्षा की आवश्यकताओं को

[१] माताजी ने 'अध्यापक निजी रूप में' के नीचे लकीर लगाकर हाशिये में लिख दिया "हां"।

दृष्टि में रखते हुए तैयार करें (जिस पर शिक्षा-समिति की स्वीकृति हो) और विश्वविद्यालय-समिति की सहमति ले लें ?

या शिक्षा-समिति विश्वविद्यालय-समिति की सहमति से एक क्रमिक संकलन तैयार करे जो अध्यापकों की सिफारिश पर आधारित हो ?

नहीं, क्योंकि वह काफी लचीला न होगा।

हर कक्षा में अंग्रेजी को पांच अंतर मिलते हैं। क्या इनमें से एक या अनेक अंतर पूरी तरह माताजी और श्रीअरविन्द की चीजें पढ़ने के लिये रखे जायें ?

हां।

क्या इस उद्देश्य के लिये इसके सिवा एक या अधिक अंतर और रखे जायें ?

नहीं।

क्या भाषा-स्तर की कोई सीमा है जिसके नीचे ये कृतियां कक्षा को न दी जायें ? अगर ऐसा हो तो अंग्रेजी के कौन-से दलों को इसमें न लिया जाये ?

यह पूरी तरह से विद्यार्थियों की क्षमता पर निर्भर है।

*

(उच्चतर कक्षाओं के अध्यापकों के नाम)

माताजी ने सुझाव दिया है कि 'उच्चतर कक्षाओं' में श्रीअरविन्द के ग्रंथों के अध्ययन के लिये यह पद्धति अपनायी जाये :

(१) पहले अध्यापक विषय के आवश्यक तत्त्वों का परिचय दे।

(२) फिर, वह अपनी टिप्पणियों के बिना विद्यार्थियों को श्रीअरविन्द का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण एक (या अधिक) उद्धरण पढ़ने और मनन करने के लिये दे जो उस विषय के साथ संबंध रखता हो।

(३) तब विद्यार्थी से कहा जाये कि वे अगली कक्षा में मौखिक रूप से या एक छोटे-से निबंध में यह बतलायें कि वे क्या समझ पाये और उन्होंने क्या निष्कर्ष निकाला।

(२५-१०-१९५९)

ऊपर (१) के बारे में : क्या माताजी की इच्छा यह है कि विषय प्रस्तुत करते समय अध्यापक अपने-आप श्रीअरविन्द की पुस्तक में से कुछ न पढ़े ?

निश्चय ही जब कभी अध्यापक को उपयोगी लगे वह श्रीअरविन्द के उद्धरण पढ़कर सुना सकता है।

(२) के बारे में : क्या विषय प्रस्तुत करने के बाद अध्यापक श्रीअरविन्द के ग्रंथों से संबद्ध प्रसंग बतला दिया करे परंतु अपने-आप उन्हें कक्षा के सामने न पढ़े ? क्या वह विद्यार्थियों से कह सकता है कि अगर समय हो तो इन उद्धरणों को कक्षा में बैठकर ही पढ़ो ? या उन्हें केवल घर पर ही पढ़ना चाहिये ?

वह अपने-आप पढ़ सकता है, विद्यार्थियों से मन-ही-मन या जोर से पढ़ने के लिये कह सकता है, वे घर पर या कक्षा में कहीं भी पढ़ सकते हैं; यह समय और परिस्थितियों पर निर्भर है। जरूरी बात यह है कि श्रीअरविन्द की चीजें विद्यार्थियों के सामने चबायी हुई और आधी जीर्ण अवस्था में न आयें। अध्यापक मूल्यांकन के सभी तत्त्व बता सकता है लेकिन बच्चों का सीधा संपर्क होना चाहिये। उन्हें बोध का आनंद मिलना चाहिये। अध्यापक को इस बात का ख्याल रखना चाहिये कि वह श्रीअरविन्द की महान् चेतना और विद्यार्थी के मन के बीच पर्दा बन बाधक न हो।

(३) के बारे में : क्या माताजी यह चाहती हैं कि बच्चे कक्षा में क्या समझे हैं इसकी मौखिक या लिखित परख अगली बैठक में ही ली जाये ? अगर कोई विषय या पाठ एक अंतर से ज्यादा समय ले तो क्या उनसे पाठ या विषय समाप्त होने के बाद अपनी बात कहने के लिये कहा जा सकता है ?

स्वभावतः यह अध्यापक के हाथ में है।

कुछ विषय इसलिये निर्धारित किये गये हैं ताकि वे श्रीअरविन्द की चीजें पढ़ने से पहले भूमिका का काम दें। श्रीअरविन्द की पुस्तकें पढ़ने से पहले इन विषयों को अलग लेने की जगह, क्या अध्यापक दोनों विषयों को साथ-साथ चला सकता है, श्रीअरविन्द की कृतियों में से विषय देते हुए उसके साथ संबद्ध विचार समझाये जा सकते हैं ?

तुम जैसा चाहो कर सकते हो, लेकिन जैसा कि मैंने कहा, इस बात की सावधानी बरतनी चाहिये कि श्रीअरविन्द की चीज बच्चों के पास तब आये जब उन्हें आवश्यक

जानकारी मिल चुकी हो और तैयारी करवा दी गयी हो, परंतु श्रीअरविन्द की चीज उनकी पूरी ताजगी और शक्ति के साथ आनी चाहिये।

श्रीअरविन्द की कोई पुस्तक-विशेष पढ़ाते समय क्या अध्यापक उनके अन्य ग्रंथों से किसी विषय पर अन्य उद्धरण दे सकता है? इसी तरह क्या वह माताजी के उद्धरण भी ले सकता है?

संकोच करके अपने-आपको सीमित क्यों करते हो? तुम निश्चय ही माताजी और श्रीअरविन्द के अन्य ग्रंथों को उद्धृत कर सकते हो।★

(१०-११-१९५९)

*

("भारत का आध्यात्मिक इतिहास" की रूपरेखा माताजी को पढ़कर सुनायी गयी। उन्होंने कहा :)

नहीं! इससे काम न चलेगा। इस तरह से नहीं करना चाहिये। तुम्हें एक जोर के धमाके के साथ शुरू करना चाहिये।

तुम इतिहास का सातत्य दिखाने की कोशिश कर रहे थे जिसका श्रीअरविन्द परिणाम या चरम बिन्दु हैं। यह बिलकुल मिथ्या है।

श्रीअरविन्द इतिहास के बिलकुल नहीं हैं; वे उसके बाहर, उसके परे हैं।

श्रीअरविन्द के जन्म तक, धर्म और अध्यात्म के पंथ हमेशा भूतकालीन व्यक्तियों पर आधारित थे और वे "जीवन का लक्ष्य" बताते थे धरती से जीवन के विलय को। तो, तुम्हारे सामने दो विकल्प होते थे : या तो

—इस जगत् में ऐसा जीवन जो तुच्छ विलास और पीड़ा, सुख-दुःख का चक्कर होगा और ठीक तरह व्यवहार न करने से नरक का भय रहेगा, या

—यहां से किसी और लोक में बच निकलना स्वर्ग, निर्वाण, मोक्ष ...

इन दोनों में से चुनने लायक कुछ भी नहीं है, दोनों समान रूप से खराब हैं।

श्रीअरविन्द ने हमें बतलाया है कि यही वह आधारभूत भूल थी जो भारत की दुर्बलता और उसके पतन के लिये जिम्मेदार है। बौद्ध धर्म, जैन धर्म, मायावाद देश की समस्त जीवन-शक्ति को सुखा देने के लिये काफी थे।

यह सच है कि आज धरती पर भारत ही एकमात्र देश है जिसे इस बात का भान है कि 'जड़-द्रव्य' के सिवा और भी किसी चीज की सत्ता है। अन्य देश—यूरोप, अमरीका आदि—इसे बिलकुल भूल चुके हैं। इसलिये संदेश अभीतक उसी के पास है, उसे सुरक्षित रखना और दुनिया तक पहुंचाना है। लेकिन अभी तो वह अव्यवस्था में बिखर और छटपटा रहा है।

श्रीअरविन्द ने बतलाया है कि सत्य सांसारिक जीवन से भागने में नहीं, उसके अंदर रहकर, **उसे रूपांतरित करने और उसे दिव्य बनाने** में है ताकि भगवान् यहां, **भौतिक** जगत् में अभिव्यक्त हो सकें।

तुम्हें ये सब बातें पहली बैठक में कहनी चाहिये। तुम्हें बिलकुल सीधा और स्पष्ट होना चाहिये... इस तरह! (माताजी मेज पर अपने हाथों से चतुष्कोण आकार बनाती हैं।)

तब, जब यह बात स्पष्ट, जोरदार शब्दों में कह दी जाये, और उसके बारे में कोई शंका न रहे—और केवल तभी—तुम आगे बढ़कर धर्मों या धार्मिक तथा आध्यात्मिक नेताओं का इतिहास सुनाकर उनका मनोरंजन कर सकते हो।

तब—और केवल तभी—तुम उनके द्वारा पोषित और घोषित दुर्बलता और मिथ्यात्व के बीजों को दिखला सकोगे।

तब—और केवल तभी—तुम समय-समय पर, स्थान-स्थान पर एक 'अंतर्भास' पा सकोगे कि कुछ और भी संभव है, उदाहरण के लिये वेद में (पणियों की गुहा में उतरने की बात है); तंत्रों में भी ... एक छोटी-सी जलती हुई ज्वाला।★

(३१-३-१९६७)

*

श्रीअरविन्द न भूतकाल के हैं न इतिहास के।

श्रीअरविन्द वह 'भविष्य' हैं जो चरितार्थ होने के लिये आगे बढ़ रहा है।

अतः हमें उस शाश्वत यौवन को बनाये रखना चाहिये जो तेज प्रगति के लिये, मार्ग पर फिसड्डी बनकर न पड़े रहने के लिये जरूरी है।

(२-४-१९६७)

*

प्रस्ताव था कि कोई भी विषय अनिवार्य न बनाया जाये।[१]

'क' ने कहा कि हमें माताजी से पूछना चाहिये कि क्या यह बात श्रीअरविन्द की चीजों पर भी लागू होती है।

हां।

[१] "विद्यार्थी पूरी स्वतंत्रता के साथ विषयों का चुनाव करे और यह चुनाव विद्यार्थी की वास्तविक खोज और उसके उत्साह को प्रतिबिंबित करे।"

प्रस्ताव १ : देखिये पृ० १६१

उन्होंने कहा कि जब 'उच्चतर कक्षाएं' शुरू की गयी थीं तो माताजी का मुख्य इरादा यह था कि सभी विद्यार्थियों को श्रीअरविन्द की शिक्षा की काफी समझ हो, उन्होंने ही इस उद्देश्य से 'सामान्य पाठ्यक्रम' की व्यवस्था की थी। हमारा 'शिक्षा-केंद्र' मूलतः श्रीअरविन्द की शिक्षाएं देने और ग्रहण करने के लिये है, तो फिर, उनका अध्ययन ऐच्छिक कैसे रखा जा सकता है? वास्तव में, यह मानना बड़ा ही अजीब होगा कि हमारे 'शिक्षा-केंद्र' के किसी विद्यार्थी को श्रीअरविन्द के ग्रंथों के अध्ययन में रस न होगा। और अगर न हो तो हम उसे अपने 'केंद्र' का विद्यार्थी कैसे मान सकते हैं?

हां, जो विद्यालय में पढ़ना चाहते हैं लेकिन उनके लिये नहीं जो अकेले ही पढ़ना चाहते हों।

(नवंबर १९६७)

*

यह सुझाव दिया गया है कि 'बुलेटिन' में माताजी की जो बातचीत छपा करती है और जो अन्य महत्त्वपूर्ण लेख छपते हैं, जो मुख्यतः 'शिक्षा-केंद्र' के विद्यार्थियों के लिये होते हैं, उन्हें पढ़ने के लिये महीने में दो-एक घंटे रखे जायें और माताजी से यह पूछा जाये कि ये लेख कौन-सी भाषा में पढ़े जायें?

अगर तुम मेरे लेखों या वार्तालापों का उपयोग करना चाहते हो तो **फ्रेंच में** करो।

(२७-७-१९५९)

*

श्रीअरविन्द की चीजें अंग्रेजी में, और मेरी फ्रेंच में पढ़नी चाहिये।

(४-३-१९६६)

*

आपने कहा है कि श्रीअरविन्द के ग्रंथ समझने में दो-एक वर्ष लगेंगे। तो क्या यह उचित है कि अध्यापक हमसे (कक्षा में पढ़ी हुई श्रीअरविन्द की चीजों के बारे में) प्रश्न पूछें?

मैंने कहा था कि भली-भांति समझने में कई वर्ष लग जायेंगे। लेकिन अगर तुम समझदार हो तो कुछ थोड़ा-बहुत तो तुरंत समझ जाओगे; अध्यापक तुम्हारी समझ की मात्रा के बारे में अंदाज लगाना चाहते हैं।

(७-१०-१९६७)

*

मेरा काम इस प्रकार का है कि मुझे हमेशा पढ़ना, लिखना और सोचना पड़ता है—परिणामतः मैं अधिकतर मन में ही रहता हूं। मानसिक कार्य में निरंतर व्यस्तता मेरे चैत्य केंद्र के खुलने में बाधक होती है। इसने मेरे जीवन को बहुत शुष्क और डांवाडोल बना दिया है। आपने 'बुलेटिन' में कहा है कि इस प्रकार का सतत मानसिक क्रिया-कलाप अभिव्यक्त होती हुई 'नयी चेतना' को ग्रहण करने के लिये अच्छा नहीं है। लेकिन, जब मुझे जो काम करना पड़ता है उसके लिये यह जरूरी है, तो मैं क्या कर सकता हूं ?

ऐसा लगता है कि तुम यह भूल गये हो कि बरसों तक श्रीअरविन्द पूरा-का-पूरा 'आर्य'[१] पूर्ण मानसिक नीरवता में लिखा करते थे। वे ऊपर से आनेवाली प्रेरणा को सीधा हाथों के द्वारा टंकण-यंत्र पर अभिव्यक्त होने देते थे।

(७-३-१९६९)

*

'आर्य' के अध्ययन का विचार बहुत अच्छा है। तुम अपने-आप जो थोड़ा-बहुत समझ लो वह दूसरे की व्याख्या के सागर से ज्यादा अच्छा और उपयोगी है।

*

तुम उपयोगी रूप में जैविकी पढ़ा सकते हो और साथ ही श्रीअरविन्द के ग्रंथों का अध्ययन जारी रख सकते हो।

यह ज्यादा अच्छा है कि तुम जो भी करो बहुत गंभीरता के साथ और अच्छी तरह करो, बजाय इसके कि अपने कामों को बढ़ाते जाओ।

अच्छा अध्यापक होना आसान नहीं है; परंतु यह है बहुत मजेदार और अपने-आपको विकसित करने का बहुत अच्छा अवसर।

रही बात श्रीअरविन्द की चीजें पढ़ने की, तो इन्हें पढ़ना हमारे लिये भविष्य के द्वार खोल देता है।

(१६-११-१९७२)

*

हम जो कुछ पढ़ते, अध्ययन करते और सीखते हैं वह सब श्रीअरविन्द की कृतियों के आगे मिथ्यात्व का ढेर मालूम होता है। तब फिर, उन पर समय नष्ट क्यों किया जाये ?

[१] श्रीअरविन्द की मासिक अंग्रेजी पत्रिका (१९१४-१९२१); उनकी प्रायः सभी मुख्य गद्य कृतियां पहले उसी में छपी थीं।

मेरा ख्याल है कि यह मन के लिये जिम्नास्टिक्स मात्र है!

*

प्रिय माताजी, मैं तत्त्वज्ञान और नीतिशास्त्र का विधिपुरःसर अध्ययन करना चाहता हूं। मैं 'दिव्य जीवन' भी पढ़ने की सोच रहा हूं।

अगर तुम तत्त्वज्ञान और नीतिशास्त्र पढ़ो तो केवल **मानसिक जिम्नास्टिक्स** के रूप में पढ़ो जो तुम्हारे मस्तिष्क को कुछ कसरत दे, लेकिन इस तथ्य को कभी आंख से ओझल न होने दो कि **यह ज्ञान का स्रोत नहीं है** और यह कि उस तरीके से तुम ज्ञान नहीं पा सकते। स्वभावतः यह बात 'दिव्य जीवन' के बारे में नहीं है...

*

मुझे लगता है कि अपने 'गृह-निर्माण विभाग' के काम के अतिरिक्त अगर तुम्हारी पढ़ने की इच्छा हो तो ज्यादा उपयोगी होगा कि तुम हड़बड़ी किये बिना, गंभीरता और सावधानी के साथ श्रीअरविन्द की पुस्तकों का अध्ययन करो। यह तुम्हारी साधना में और सब चीजों की अपेक्षा अधिक सहायक होगा।

(९-३-१९४१)

मैं श्रीअरविन्द की किस पुस्तक से आरंभ करूं?

'दिव्य जीवन' से।

मेरे आशीर्वाद।

(११-३-१९४१)

*

(माताजी ने एक अध्ययन दल के लिये निम्नलिखित प्रस्तावित कार्यक्रम लिखा):

१. प्रार्थना (श्रीअरविन्द और माताजी, अपनी शिक्षा को समझने के हमारे इस प्रयास में हमें सहायता प्रदान कीजिये।)

२. **श्रीअरविन्द की पुस्तक पढ़ना।**

३. क्षणभर मौन।

४. जो भी चाहे पढ़े हुए पाठ के विषय में एक प्रश्न करे।

५. प्रश्न का उत्तर।

६. सामान्य वाद-विवाद बिलकुल नहीं।

यह एक दल की बैठक नहीं है, श्रीअरविन्द की पुस्तकें पढ़ने के लिये एक कक्षा मात्र है।

(३१-१०-१९४२)

*

भाषाएं

पूर्व और पश्चिम में मेल करने के लिये, एक की सर्वोत्तम चीजें दूसरे को देने के लिये और एक सच्चा सामंजस्य लाने के लिये सब प्रकार के अध्ययन के लिये एक विश्व-विद्यालय की स्थापना की जायेगी और हमारा विद्यालय उसका केंद्र होगा।

अपने विद्यालय में मैंने फ्रेंच भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया है। इसका एक कारण यह है कि फ्रेंच संसार की सांस्कृतिक भाषा है। बच्चे भारतीय भाषाएं जरा पीछे सीख सकते हैं। अगर अभी भारतीय भाषाओं पर ज्यादा जोर दिया जाये, तो भारतीय मानस की स्वाभाविक वृत्ति के अनुसार वह प्राचीन साहित्य, संस्कृति और धर्म में फंस जायेगा। तुम भली-भांति जानते हो कि हम प्राचीन भारतीय चीजों का मूल्य स्वीकार करते हैं, लेकिन हम यहां कुछ नया सृजन करने के लिये हैं, कुछ ऐसी चीज लाने के लिये हैं जो धरती के लिये एकदम नयी होगी। इस प्रयास में, यदि तुम्हारा मन पुरानी चीजों से बंधा रहे तो वह आगे बढ़ने से इंकार करेगा। भूतकाल के अध्ययन का अपना स्थान है, लेकिन उसे भविष्य के काम में बाधा न देनी चाहिये।★

*

क्या फ्रेंच को एक विशेष भाषा के रूप में लिया जाये, जो बच्चों को पहले आपके साथ और फिर, सुन्दरता के अमुक स्पंदनों के साथ संपर्क में लायेगी ?

कुछ-कुछ ऐसा ही है।

मैं बस, इतना कह सकती हूं कि हमारा विद्यालय सारे भारत में फ्रेंच पढ़ाने के लिये सबसे अच्छे विद्यालयों में से एक—शायद सबसे अच्छा—माना जाता है और मेरा ख्याल है कि इस प्रशंसा के योग्य होना अच्छा है।

यहां के बच्चों के साथ संबंध के विषय में, मैं हमेशा उनके साथ फ्रेंच में ही बोलती हूं।

*

विज्ञान फ्रेंच में क्यों पढ़ाया जाये ?

इसके बहुत-से कारण हैं, ज्यादा गहरे कारण कहे बिना तुम्हें अपने हृदय में मालूम होने चाहियें।

बाहरी कारणों में मैं कह सकती हूं कि फ्रेंच बहुत ज्यादा सुनिश्चित और यथार्थ भाषा होने के कारण विज्ञान के लिये अंग्रेजी से ज्यादा अच्छी है। अंग्रेजी कविता के लिये बहुत ज्यादा श्रेष्ठ है।

कुछ व्यावहारिक कारण भी हैं जिनमें यह तथ्य भी है कि उन सबके लिये जिन्हें बड़े होकर अपनी आजीविका कमानी होगी, जिन्हें फ्रेंच का अच्छा ज्ञान होगा वे बहुत आसानी से काम पा लेंगे।

आशीर्वाद।

(९-२-१९६९)

*

फ्रेंच निश्चय ही सबसे अधिक सुनिश्चित और स्पष्ट भाषा है, लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से यह सत्य नहीं है कि फ्रेंच उपयोग के लिये सबसे अच्छी भाषा है। अंग्रेजी में सुनम्यता है, एक प्रवाह है जो फ्रेंच में नहीं है, और यह सुनम्यता अनिवार्य है उस चीज को न बिगाड़ने के लिये जो अनुभूति में मन के द्वारा अभिव्यक्त और रूपायित चीजों से बहुत ज्यादा विशाल और व्यापक है।

(जनवरी १९५०)

*

(अनुवाद के बारे में)

Bonté (बौंते) = मेहरबानी और सद्भावना; Bienveillance (बिएँवेइयांस) हर चीज के अच्छे पक्ष को देखना। यह मात्र आशावाद नहीं है जो बुरी चीजों की ओर से आंखें मूंद लेता है। यह एक चैत्य दृष्टि है जो हर जगह 'शुभ' देखती है।

ऐसे बहुत-से शब्द हैं जिनका अनुवाद नहीं किया जा सकता। श्रीअरविन्द के हास्य और व्यंग्य का फ्रेंच में अनुवाद नहीं किया जा सकता। जब अंग्रेजी हास्य को फ्रेंच में

अनूदित किया जाता है तो वह मूढ़तापूर्ण और नीरस लगता है; जब फ्रेंच हास्य को अंग्रेजी में अनूदित किया जाता है तो वह क्रूर और निरर्थक बन जाता है। ये दोनों भाषाएं इतनी अधिक समान मालूम होती हैं फिर भी, दोनों की प्रतिभा एकदम भिन्न है।

(४-७-१९५६)

*

मैं कल तुम्हें किताब (Prières et Méditations—प्रार्थना और ध्यान) भेजूंगी लेकिन तुम जो पढ़ते हो उसे भली-भांति समझने के लिये तुम्हें व्याकरण का अच्छा अध्ययन करना चाहिये।

(२०-६-१९३२)

*

मैं अच्छी फ्रेंच शैली कहां सीखूं ?

यह व्याकरण की उच्चस्तरीय पुस्तकों में सिखायी जाती है, और इसके लिये विशेष पुस्तकें भी होती हैं। शैली के मुख्य नियमों में से एक यह है कि जब तक एकदम अनिवार्य न हो जाये गद्य लेखों में "मैं" का प्रयोग न किया जाये और किसी हालत में एक के बाद एक दो वाक्य कभी "मैं" से शुरू न किये जायें। इससे तुम्हें यह अंदाजा होगा कि अपनी दैनिक रिपोर्ट लिखते समय तुम्हें उसमें शैली लाने के लिये क्या करना चाहिये !

(२०-७-१९३३)

*

फ्रेंच सरलता और स्पष्टता के साथ लिखी जानी चाहिये।

(२९-९-१९३३)

*

सरलता और स्पष्टता से लिखी गयी फ्रेंच ज्यादा अच्छी होती है; जटिल बिम्बों का ढेर भाषा को आडम्बरपूर्ण बना देता है।

*

मेरी प्यारी नन्ही मुस्कान,

तुम्हारी बात बिलकुल ठीक है, मैं कोई कारण नहीं देखती कि तुम मजेदार चीजें पढ़ने की जगह, उबानेवाले अभ्यास क्यों करो।

भाषा सीखने के लिये पढ़ना, पढ़ना, पढ़ना—तथा जितना हो सके उतना बोलना चाहिये।

मेरे समस्त प्रेम के साथ।

(१०-७-१९३५)

*

मैं फिर से फ्रेंच अध्ययन शुरू करना चाहता हूं, विशेषकर बोलना। आप कुछ सुझाव देंगी ?

सबसे अच्छा यह है कि बोलो... हिम्मत के साथ हर मौके पर।

*

माताजी, क्या आप मुझे कुछ अच्छे लेखकों के नाम बता सकेंगी जिनकी कृतियां मैं पढ़ सकूं ?

अगर फ्रेंच पढ़नी है तो फ्रेंच साहित्य की कोई पाठ्य-पुस्तक अध्ययन के लिये ले लो और उसमें उल्लिखित लेखकों की एक-एक दो-दो पुस्तकें पढ़ो। शुरू से आरंभ करो, यानी, प्रारंभिक लेखों से शुरू करो।

(२२-९-१९३६)

*

अगर आप पसंद करें तो मैं एक अपनी पसंद की पुस्तक लूंगा और दूसरी आपकी सलाह के अनुसार फ्रेंच के किसी प्रारंभिक लेखक की।

मैंने यह नहीं कहा कि तुम्हें केवल प्रारंभिक लेखकों की कृतियां ही पढ़नी चाहिये; मैंने कहा था पाठ्य-पुस्तक में जिन लेखकों का उल्लेख है उनमें से हर एक की एक-दो पुस्तकें पढ़ो और शुरू करो प्रारंभिक लेखकों से।

(२४-९-१९३६)

*

माताजी, मैंने फ्रेंच पुस्तकें पढ़ना शुरू कर दिया है—'स' ने मुझे एक सूची दी है।

अच्छा है कि तुम बहुत-सी फ्रेंच पढ़ो, यह तुम्हें लिखना सिखा देगा।

(७-४-१९६९)

*

आज मैंने ई ५ की कक्षा ली और हमने 'वर्ड्स आफ द मदर' का पढ़ना और समझाना जारी रखा। यद्यपि मैं सदा इस पुस्तक की भाषा के सौंदर्य की ओर ध्यान खींचता रहता हूं, फिर भी मैं इस बात के बारे में सचेतन हूं कि मैं अंग्रेजी पढ़ाने की अपेक्षा व्याख्या पर ज्यादा जोर देता हूं।

यह बिलकुल ठीक है क्योंकि यह उन्हें अंग्रेजी में सोचने के लिये बाधित करता है जो भाषा सीखने का सबसे अच्छा तरीका है।

(२-५-१९४६)

*

'क्ष' ने अपने दो लड़कों की पढ़ाई की मुश्किल के बारे में आपकी राय पूछी है। उसने अपने एक लड़के को बंबई के किसी इटेलियन मिशनरी स्कूल में भरती कराया है जहां माध्यम अंग्रेजी है। और वह अपने दूसरे बेटे को भी शीघ्र ही वहीं भरती कराना चाहता है। लेकिन आजकल भारत में भाषा को लेकर जो विवाद चल रहा है इसके कारण वह चकरा गया है और यह ठीक नहीं कर पा रहा कि अंग्रेजी माध्यम के विद्यालय में भेजे या अपनी मातृभाषा—मराठी—के विद्यालय में। दूसरी अवस्था में उसे विद्यालय बदलना होगा। वह इस मामले में आपका पथ-प्रदर्शन चाहता है।

मातृभाषा ठीक है। लेकिन जो उच्चतर शिक्षण चाहते हैं, उनके लिये अंग्रेजी अनिवार्य है।

आशीर्वाद।

(३-११-१९६७)

*

इस समय हमारी 'उच्चतर कक्षाओं' के बहुत-से विद्यार्थी कोई भी भाषा इतनी अच्छी तरह नहीं जानते कि उसमें अपने विचार और भाव अच्छी तरह,

संवेदनशीलता के साथ व्यक्त कर सकें। माताजी इसकी जरूरत है या नहीं? अगर है, तो उन्हें कौन-सी भाषा सीखनी चाहिये? एक सामान्य या अंतर्राष्ट्रीय भाषा या अपनी मातृभाषा?

अगर सिर्फ एक ही सीखनी है तो ज्यादा अच्छा है कि यह (माताजी ने "सामान्य या अंतर्राष्ट्रीय भाषा" के नीचे लकीर खींच दी)।

*

उपयोगिता की दृष्टि से हमारे कुछ विद्यार्थी साहित्यिक हिंदी नहीं सीखना चाहते।

उन्हें दोनों सिखाओ, सच्ची भाषा और अब उसने क्या रूप ले लिया है—वह वास्तव में बहुत मजेदार होगा—तथा और चीजों की अपेक्षा यह उन्हें बुरी हिंदी बोलने की आदत से छुड़ा देगा।

क्या आप चाहती हैं कि विद्यार्थियों की लापरवाही के बावजूद मैं हिन्दी पढ़ाता चलूं?

संकोच के बिना चलते चलो...।

अमृत कहता है हिन्दी कक्षा की अपेक्षा उसकी तमिल कक्षा की अवस्था बहुत ज्यादा खराब है। वह कहता है कि अगर विद्यार्थी न भी आयें तब भी वह कक्षा जारी रखेगा—स्वयं अपने-आपको पढ़ायेगा!

(३०-९-१९५९)

हिन्दी उनके लिये अच्छी है जो हिन्दी-भाषी प्रदेश से आये हैं। संस्कृत सभी भारतवासियों के लिये अच्छी है।

मुझे भारतीय भाषाओं के लिये बहुत अधिक मान है और अब भी जब समय मिलता है, संस्कृत पढ़ना जारी रखती हूं।

*

संस्कृत को भारत की **राष्ट्र-भाषा** होना चाहिये।

आशीर्वाद।

(१९-४-१९७१)

*

जिन विषयों पर आपने और श्रीअरविन्द ने सीधे उत्तर दिये हैं, उनके बारे में हम भी ('श्रीअरविन्द कर्मधारा'वाले) ठीक-ठीक उत्तर दे सकते हैं, उदाहरण के लिये... भाषा के मामले में आपने कहा कि १—स्थानीय भाषा को शिक्षा का माध्यम होना चाहिये, २—संस्कृत को राष्ट्र-भाषा होना चाहिये, और ३—अंग्रेजी को अंतर्राष्ट्रीय भाषा होना चाहिये।

क्या हमारा यह उत्तर देना ठीक होगा ?

हां।

आशीर्वाद।

(४-१०-१९७१)

*

(ओरोवील में पढ़ायी जानेवाली भाषाएं)[१]

(१) तमिल

(२) फ्रेंच

(३) सरल संस्कृत जो भारत की भाषा के रूप में हिन्दी का स्थान लेगी

(४) अंतर्राष्ट्रीय भाषा की हैसियत से अंग्रेजी

(१५-१२-१९७०)

विभिन्न भाषाओं में माताजी की हस्तलिपियां

अगले आठ पृष्ठों में हम माताजी की निम्नलिखित भाषाओं की हस्तलिपियों के नमूने दे रहे हैं :

संस्कृत (ईशोपनिषद्, फ्रेंच अनुवाद के साथ), हिब्रू, फिनीशियन, चीनी, जापानी, बंगाली।

[१] ओरोवील विद्यालय के उद्घाटन के अवसर पर लिखित। उद्घाटन के लिये माताजी का संदेश था : "जानने और प्रगति करने के लिये सच्चा संकल्प।"

ईशावास्योपनिषत्

—

हरिः ॐ।

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।

au Seigneur pour qu'il l'habite, tout ceci et chaque chose univers mouvant dans
l'universel mouvement

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥१॥

ne convoite pas
ce tout cela détache toi et jouis - en aucun bien qui s'approprient les hommes ne convoite -

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।

Faisant certes ici les oeuvres ici on doit désirer vivre cent ans

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

ainsi pour toi et non autrement en est-il. L'action n'englue pas l'homme.

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।

sans soleil s'appellent ces mondes enveloppés de ténèbres aveugles

॥३॥

ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः

où d'ici partis vont ceux qui assassinent leur âme gens

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।

Unique sans mouvement ~~plus prompt~~ que la pensée plus prompt les dieux mêmes ne peuvent l'atteindre dans sa
progression en avant

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

Cela dans sa stabilité dépasse les autres qui courent En cela les eaux Matarisvan établit

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।

Cela est en mouvement cela est sans mouvement cela est lointain cela aussi est proche

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥
cela au dedans de ce tout et cela aussi hors de ce tout est

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
Mais celui qui partout les devenirs dans l'Être perçoit

सर्वभूतेषु चाऽऽत्मानं ततो विजुगुप्सते ॥६॥
tous les devenirs et dans l'être celui-là ne se replie plus.

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
Pour qui ~~ont~~ toutes les choses devenues l'Être même est devenu pour qui sait

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥
pour qui ~~[illegible]~~ ni douleur ou ~~[illegible]~~ l'Unité ~~[illegible]~~ perçoit

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
Lui s'est diffusé, lumineux, incorporel, sans défaut, sans organes, pur, inentamé par le mal.

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधा-
Il est voyant le Penseur celui qui devient tout, qui existe en soi, a ordonné les choses selon

-च्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥
leur loi depuis les âges infinis

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
En d'aveugles ténèbres entrent ceux qui à l'ignorance se vouent

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥९॥
Et comme en plus de ténèbres ceux qui à la connaissance sont adonnés.

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।
Bien autre chose a-t-il été dit par la connaissance, bien autre chose a-t-il été dit par l'ignorance

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

Ainsi avons-nous appris des sages qui nous ont cela révélé.

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।

Connaissance et ignorance celui qui cela connaît comme les deux à la fois

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

Par l'ignorance la mort ayant franchi par la connaissance de l'immortalité jouit.

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।

En d'épaisses ténèbres entrent ceux qui au non devenir se vouent

ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रताः ॥१२॥

Et comme en plus de ténèbres ceux qui au devenir sont adonnés.

अन्यदेवाऽऽहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ।

Bien autre chose a-t-il été dit par le devenir bien autre chose a-t-il été dit par le non devenir

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

Ainsi avons-nous appris des sages qui nous ont cela révélé.

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।

Devenir et dissolution celui qui cela connaît comme les deux à la fois

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

par la dissolution la mort ayant franchi par le devenir de l'immortalité jouit

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

de la Vérité

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

Cela toi ôte-le Évoluteur pour la loi de la Vérité pour la vision

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह ।

Évolution Unique Rishi Recteur Illuminateur Fils du Père des créatures disperse rassemble

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतम तत्ते पश्यामि योऽ

La lumière de toi la forme la plus bénie ce que de Toi je perçois qui

सावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

celui-là partout le Pourousha lui je le suis

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त शरीरम् ।

Souffle haleine immortelle voici

ॐ क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर ॥१७॥

Om Pouvoir de faire souviens-toi de ce qui a été fait souviens-toi Pouvoir de faire souviens-toi de ce qui a été fait souviens-toi.

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि

Agni par le bon chemin à la félicité conduis-nous Ô Dieu toutes les manifestations

विद्वान् ।

qui connaît

युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥

l'égarement à toi notre plus entière parole de soumission nous offrons

इत्युपनिषद् ॥ इति वाजसनेयसंहितोपनिषत्संपूर्णा ॥

ॐ पूर्णमदः ० शिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

א	aleph	a	1
ב	beth	b	2
ג	ghimel	g gh.	3
ד	daleth	d	4
ה	hé	e hé	5
ו	waw	o ou u	6
ז	zaïn	Z	7
ח	heth	H hé ch	8
ט	teth	t	9
י	iod	i	10
כ ך	caph	kh	20
ל	lamed	l	30
מ ם	mem	m	40
נ ן	noun	n	50
ס	sameck		60
ע	haïn	ho hh	70
פ ף	phé	ph f	80
צ ץ	tsad	ts	90
ק	coph	c k q	100
ר	resch	r	200
ש	shin	sh	300
ת	thau	th	400

Hébreu

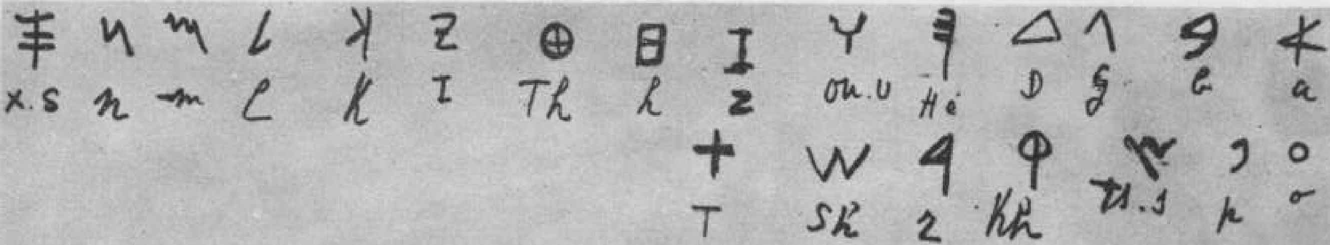

Phénicien

雨 pluie
月 ciel
車 chariot
火 feu
口 bouche
矢 flèche

chinois

寒 サム
暖 アタタ
笑 ワラ
答 コタエ
知 シ
高 タカ
風 カゼ
吹 フ
强 ツヨ
糸 イト

喜 ヨロコ
歌 ウタ
雲 クモ
天 テン
話 ハナシ
書 カ
讀 ヨ
桃 モモ
流 ナガ
男 オトコ

力 チカラ
猿 サル
雉 キジ
外 ホカ ソト
内 ウチ
恐 オソ
第 ダイ
居 オリ イ
松 マツ
林 ハヤシ

花 ハナ
原 ハラ
貞 テイ
壽 ジュ
金 キン カネ
物 モノ
町 マチ
習 ナラ
次 ツギ
音 オン

圖 ズ
多 オウ
皆 ミナ
魚 ウオ
鯉 コイ
頭 アタマ
正 タダ
蟲 ムシ
食 タベ
形 カタチ

池 イケ
供 トモ
村 ムラ
丸 マル
紙 カミ
神 カミ
岡 オカ ●
河 カワ
銀 ギン
青 アオ

অ a আ á ই i ঈ í উ u ঊ ú
ঋ ri ৯ li এ e ঐ ai
ও o ঔ au

মানুষ (mānush) man
ঘোড়া (ghoṛa) horse
বলদ (balad / balod) ox
গাধা (gadha) ass
ছাগল (chhagal / chhagol) goat
ভেড়া (bhera) sheep
কুকুর (kukur) dog
বেরাল (beral) cat
হরিণ (harin / horin) deer
ইন্দুর (indur) rat
বেঙ্গ (beng) frog
পিঁপড়া (penpoṛā) ant
ছারপোকা (chharapoka) bug
উকুন (ukoon) louse
শূকর (shūkoḷ) swine
কাক (kāko) crow
পেঁচা (penchā) owl
মোরগ (moraga) cock
পাখী (pākhī) bird
পশু (poshū) beast
সাপ (shāp) snake
পোকা (pokā) worm
মাছি (machi) fly

कला

भौतिक स्तर पर भगवान् अपने-आपको सौंदर्य में प्रकट करते हैं।

*

भौतिक जगत् में, और सब चीजों की अपेक्षा सौंदर्य भगवान् को सबसे अच्छी तरह अभिव्यक्त करता है। भौतिक जगत्, रूप और आकार का जगत् है, और रूप की पूर्णता ही सौंदर्य है। सौंदर्य 'शाश्वत' का निर्वचन करता, उसे प्रकट और अभिव्यक्त करता है। उसकी भूमिका है सारी अभिव्यक्त प्रकृति को रूप और आकार की पूर्णता के द्वारा, सामंजस्य द्वारा और ऊपर उठानेवाले तथा किसी उच्चतर की ओर ले जानवाले आदर्श के द्वारा 'शाश्वत' के संपर्क में लाना।

*

सौंदर्य तुम्हारा अविचल आदर्श हो।
अंतरात्मा का सौंदर्य
भावों का सौंदर्य
विचारों का सौंदर्य
क्रिया का सौंदर्य
कर्म का सौंदर्य
ताकि तुम्हारे हाथों से कभी कोई ऐसी चीज न निकले जो शुद्ध और सामंजस्यपूर्ण सौंदर्य की अभिव्यक्ति न हो।
और 'भागवत सहायता' हमेशा तुम्हारे साथ रहेगी।

*

सर्वश्रेष्ठ कला ऐसे 'सौंदर्य' को प्रकट करती है जो तुम्हें 'भागवत सामंजस्य' के संपर्क में ला देता है।

*

अगर कला को दिव्य 'जीवन' में कुछ अभिव्यक्त करना है, तो वहां भी, विशाल और ज्योतिर्मय शांति को अपने-आपको प्रकट करना चाहिये।

*

आध्यात्मिक सौंदर्य में संक्रामक शक्ति होती है।

*

सौंदर्य प्रकृति का आनन्दमय समर्पण है।

*

सच्ची कला का अर्थ है भौतिक जगत् में सौंदर्य की अभिव्यक्ति। पूर्णतया परिवर्तित जगत् में, यानी, समग्ररूप से भागवत सद्वस्तु की अभिव्यक्ति में, कला को जीवन में दिव्य सौंदर्य का प्रकट करनेवाला और शिक्षक होना चाहिये।

*

कला में भी हमें ऊंचाइयों पर रहना चाहिये।

*

सुरुचि कला की कुलीनता है।

*

चित्रकला

सच्ची चित्रकला का लक्ष्य है सामान्य वास्तविकता से अधिक सुन्दर चीज का सृजन करना।

(३-४-१९३२)

*

क्या आप चाहेंगी कि मैं कभी-कभी चिड़ियों और पशुओं के चित्र बनाऊं ?

अगर तुम चाहो—लेकिन प्रकृति से आंकना सीखने के लिये ज्यादा अच्छा है।

(२३-१२-१९३२)

आपने आज जो रेखांकन भेजा था, मैंने उसकी नकल करने की कोशिश की।

सीखने के लिये, रेखांकन को ज्यादा बड़ा करना ज्यादा अच्छा होगा जिससे उसकी ब्योरे की बातें बाहर आ सकें।

(५-१-१९३३)

*

मैंने किसी की सहायता के बिना यह चित्र बनाया है। यह कैसा बना है? क्या मैं सीख सकूंगा?

सीखने का अर्थ है कोई चित्र बनाने से पहले महीनों पर महीने अध्ययन करना; प्रकृति से अध्ययन करना, पहले लंबे समय तक रेखांकन करना, उसके बाद कहीं जाकर रंग भरना।

अगर तुम नियमित रूप से कठोर अध्ययन करने को तैयार हो, तो शुरू कर सकते हो, वरना प्रयास न करना ज्यादा अच्छा है।

(६-१-१९३३)

*

मैं यह जानना चाहूंगा कि क्या चित्र देखना हानिकर है।

स्वभावतः यह इसपर निर्भर है कि कौन-से चित्र हैं। बहुधा, वे सामान्य जीवन के बारे में होते हैं, और इसलिये चेतना को नीचे की ओर खींचते हैं।

(१०-१२-१९३४)

*

"क्यूबिज़म" तथा अन्य अत्याधुनिकवाद

अगर ये कलाकार सच्चे और निष्कपट होते, अगर उन्होंने वही चित्रित किया होता जो उन्होंने देखा और अनुभव किया है, तो उनके चित्र एक अस्तव्यस्त मन और असंयत प्राण की अभिव्यक्ति होते। लेकिन, खेद की बात है कि ये चित्रकार निष्कपट नहीं हैं और ये चित्र मिथ्यात्व की अभिव्यक्ति, कुछ विचित्र होने, ध्यान आकर्षित करने के लिये लोगों को चकराने की इच्छा पर आधारित कृत्रिम कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं और वास्तव में, इसका सौंदर्य के साथ कोई संबंध नहीं है।

(२७-३-१९५५)

*

फूलों के चित्रों में सबसे बड़ा सबसे अच्छा है, क्योंकि वह ज्यादा सहज और मुक्त है। तुम जो चित्रित करते हो उसे अनुभव करना चाहिये और जो करो खुशी से करो।

बहुत-सी सुन्दर चीजों की नकल करो, लेकिन वहां भी वस्तुओं के भाव, गहरे जीवन को पकड़ने की कोशिश करो।

(१२-८-१९६२)

आपके आगे अपनी कठिनाई स्पष्ट करने के लिये मैं अपने दो नये चित्र भेज रही हूं। एक को मैंने पूरा कर लिया है, पर मुझे संतोष नहीं है। दूसरे में, केंद्र अभी अधूरा है। मैं जानती हूं कि मैं क्या करना चाहती हूं, पर मैं कर नहीं पाती। मैं आपसे यह पूछना चाहती हूं कि क्या मैं पैरिस में अध्ययन करने से ज्यादा प्रगति कर पाऊंगी या मेरे लिये यहीं रहकर प्रयास करना ज्यादा अच्छा है ? मैं खुशी से आपके फैसले के अनुसार करूंगी।

प्यारी बच्ची,

मैंने तुम्हारे चित्र देखे हैं—वे लगभग पूर्ण हैं। लेकिन उनमें जो कमी है वह तकनीक की नहीं—**चेतना** की है। अगर तुम अपनी चेतना को विकसित करो तो तुम सहजरूप से खोज लोगी कि अपने-आपको कैसे व्यक्त किया जाये। कोई भी, और विशेषकर कोई औपचारिक शिक्षक, तुम्हें यह चीज नहीं सिखा सकता।

तो, यहां से छोड़कर कहीं और जाना, किसी "कला अकादमी" में जाना, प्रकाश को छोड़कर अंधकार और निश्चेतना के गढ़े में उतरना होगा।

तुम **चालाकियों** के द्वारा चित्रकार बनना नहीं सीख सकतीं—यह तो ऐसा ही होगा जैसे धार्मिक अनुष्ठानों की नकल करके भगवान् को पाने की चाह करना।

सबसे बढ़कर और हमेशा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चीज है **सचाई, निष्कपटता।**

अपनी आंतरिक सत्ता को विकसित करो—अपनी अंतरात्मा को पा लो, और उसके साथ-ही-साथ तुम सच्ची कलात्मक अभिव्यक्ति पा लोगी।

मेरे आशीर्वाद के साथ।

(२५-५-१९६३)

तुम ब्योरों में क्यों जाना चाहती हो ? यह बिलकुल आवश्यक नहीं है। चित्रकला प्रकृति की नकल करने के लिये नहीं है, बल्कि प्रकृति का सौंदर्य देखकर अनुभव होनेवाले संस्कार, भाव, भावना को व्यक्त करने के लिये है। यही चीज मजेदार है और इसी को व्यक्त करना चाहिये और चूंकि तुम्हारे अंदर यह करने की संभावना है इसलिये मैं तुम्हें चित्र बनाने के लिये प्रोत्साहित करती हूं।

(१९६३)

*

मैंने तुम्हारे चित्र देखे हैं और निश्चय ही पिछले वर्ष से प्रगति हुई है।

आधुनिक कला एक परीक्षण है, जो केवल भौतिक रंग-रूप से भिन्न कुछ और चीज व्यक्त करना चाहता है, पर अभी है बहुत भद्दा। विचार अच्छा है—लेकिन स्वभावतः अभिव्यक्ति का मूल्य पूरी तरह से उसके मूल्य पर निर्भर है जो अपने-आपको अभिव्यक्त करना चाहता है।

आजकल प्रायः सभी कलाकार सबसे निचली प्राणिक और मानसिक चेतना में निवास करते हैं, और परिणाम बिलकुल तुच्छ होते हैं।

अपनी चेतना को विकसित करने की कोशिश करो, अपनी अंतरात्मा को खोजने का प्रयास करो, तब तुम जो करोगी वह सचमुच रसमय होगा।

तुम्हारे लिये आज से जो नया वर्ष शुरू हो रहा है उसके लिये मैं तुम्हें यह कार्यक्रम दे रही हूं।

(१२-८-१९६३)

मुझे यह कहते हुए खेद होता है कि चित्रों में पिछले वर्ष की अपेक्षा कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। उनमें सचाई और सहजता की कमी है; इनमें दृष्टि नहीं, विचार है—और विचार एक बचकाना तरीका है। मैंने पिछले वर्ष जो कहा था उसे चरितार्थ करना बाकी है। चेतना को ज्योति और सचाई में विकसित होना चाहिये और आंखों को कलात्मक रीति से देखना सीखना चाहिये।

(१२-८-१९६४)

मैं आजतक तुम्हारे चित्रों को न देख पायी। निश्चय ही तुमने प्रयास किया है और जो चित्र फ्रेम में है वह आंखों के लिये मोहक है। लेकिन तुम बहुत ज्यादा सोचती हो और काफी नहीं देखती। दूसरे शब्दों में, तुम्हारी दृष्टि मौलिक, सहज या प्रत्यक्ष नहीं है, जिसका अर्थ यह हुआ कि तुम्हारा चित्रण अभीतक रूढ़िप्रधान है और उसमें मौलिकता का अभाव है—जो दूसरे करते हैं उसकी नकल है।

सभी चित्रों के पीछे एक दिव्य सौंदर्य है, एक दिव्य सामंजस्य है : हमें इसके संपर्क में आना चाहिये; हमें इसे अभिव्यक्त करना चाहिये।

(१२-८-१९६५)

*

संगीत

उन सबके नाम जिन्होंने आज के संगीत में भाग लिया था : श्रीअरविन्द ने और

मैंने यह अनुभव किया कि इस बार बहुत प्रगति हुई है। केवल प्रस्तुत करने के बाहरी ढंग में ही नहीं, पीछे के बड़े लक्ष्य, एकाग्रता और आंतरिक वृत्ति में भी। यह दिन सबके लिये आशीर्वाद लाये।

(२४-४-१९३२)

*

न जाने कौन यह गप्प फैला रहा है कि मुझे संगीत पसंद नहीं है। यह बिलकुल सच नहीं है—मुझे संगीत बहुत पसंद है, लेकिन उसे छोटी-सी मंडली में सुनना चाहिये, यानी, ज्यादा-से-ज्यादा पांच-छः आदमियों के लिये हो। अगर भीड़ हो तो, बहुधा, वह सामाजिक समारोह हो जाता है और जो वातावरण बनता है वह अच्छा नहीं होता।

*

तुम्हारे लिये अपने-आपको संगीत और लेखन में व्यस्त रखना हमेशा अच्छा है; क्योंकि तुम्हारी प्रकृति को इसमें अपना अंतर्जात कार्य मिल जाता है और यह प्राणिक ऊर्जा को सहारा देता और संतुलन बनाये रखता है।

साधना के बारे में मैं तुमसे पूछना चाहूंगी : संगीत के द्वारा ही साधना क्यों नहीं करते ? निश्चय ही ध्यान ही साधना का एकमात्र उपाय नहीं है। तुम्हारे संगीत के द्वारा भक्ति और अभीप्सा में विकास हो सकता है और प्रकृति को सिद्धि के लिये तैयार किया जा सकता है।

अगर ध्यान और एकाग्रता के क्षण अपने-आप आयें तो ठीक है! लेकिन उनके लिये जोर डालने की जरूरत नहीं।

(२३-१-१९३९)

*

संगीत भी धरती की सभी चीजों का अनुकरण करता है—जबतक वे भगवान् की ओर न मुड़ें वे दिव्य नहीं हो सकतीं।

(२५-५-१९४१)

*

क्या मेरा यह कहना ठीक होगा कि जब माताजी ऑर्गन बजाती हैं तो संगीत की अमुक तंत्रियां उन स्पंदनों का सृजन करती हैं जो उस उच्चतर 'शक्ति' की अभिव्यक्ति के लिये जरूरी हैं जिसे माताजी धरती पर स्थापित करना चाहती हैं ?

जब कोई उच्चतर चेतना में निवास करता है तो वह जो भी करे, सोचे या बोले उसमें इस उच्चतर चेतना के स्पंदन प्रकट होते ही हैं। इस व्यक्ति की धरती पर उपस्थिति के तथ्य से ही उच्चतर स्पंदन व्यक्त होते हैं।

आशीर्वाद।

*

आपके संगीत में जो धुन बार-बार आया करती है उसका अर्थ क्या है ?

तुमने देखा होगा कि यह धुन साधारणतः तब आती है जब कोई कष्ट या दुर्व्यवस्था प्रकट की गयी हो। वह समस्या के समाधान के रूप में आती है। इसका अर्थ है आगे बढ़ना, प्रगति, चेतना में एक कदम आगे। यह बोध के रूप में आती है। मेरा संगीत साधना की आंतरिक गतियों के अनुरूप होता है। कभी-कभी कोई कष्ट, कोई दुर्व्यवस्था, कोई समस्या, कोई गलत गति, जिसके बारे में हम समझते थे कि हमने उसे जीत लिया है, वह और अधिक बल के साथ वापिस आती है। लेकिन तब, उसके उत्तरस्वरूप या सहायता के रूप में, वृद्धि, चेतना का उद्घाटन—और फिर अंतिम बोध।

इस संगीत को समझना बहुत कठिन है—विशेषकर पश्चिमी मन के लिये। प्रायः पश्चिमी लोगों के लिये इसका कोई अर्थ नहीं होता; वे आसानी से उसमें तदनुरूप गतियों का अनुभव ही नहीं करते। अधिकतर वे लोग जो भारतीय राग में रस ले सकते हैं उन्हें यह संगीत पसंद आ सकता है; क्योंकि इसमें रागों का कुछ सादृश्य है। लेकिन यहां भी रूप की दृष्टि से, संगीत के नियमों और स्वरांकण की सभी परंपराओं को तोड़ा गया है।

(३०-१०-१९५७)

*

क्रीड़ांगण में आपके संगीत के साथ ध्यान करते समय हमें क्या करना चाहिये ?

इस संगीत का लक्ष्य होता है अमुक गहन भावों को जगाना।

उसे सुनने के लिये तुम्हें अपने-आपको जितना हो सके उतना नीरव और निश्चेष्ट बनाना चाहिये। और यदि, मानसिक नीरवता में, सत्ता का एक भाग साक्षी-भाव धारण कर सके जो भाग लिये या प्रतिक्रिया किये बिना केवल देखता है तो वह देख सकता है कि भावों और भावनाओं पर संगीत का क्या असर हो रहा है और; अगर वह गहरी स्थिर शांत और अर्द्धसमाधि की स्थिति पैदा करे तो यह काफी अच्छा है।

(१५-११-१९५९)

*

मधुर मां, हम किसी और के बजाये हुए संगीत की भावनाओं में कैसे प्रवेश कर सकते हैं ?

उसी तरह जैसे तुम सहानुभूति, सहजता, कम या ज्यादा गहरी सजातीयता या फिर गहरी एकाग्रता के द्वारा—जो अंत में तादात्म्य बन जाती है—दूसरों के भावों में भाग लेता है। जब तुम तीव्र, घनी एकाग्रता के साथ संगीत सुनते हो यहांतक कि मस्तिष्क के अंदर के, और सारे शोर को बंद करके पूर्ण नीरवता प्राप्त कर लेते हो तो ऊपर कही गयी अंतिम पद्धति का अनुसरण होता है। संगीत के स्वर बूंद-बूंद करके उस नीरवता में गिरते हैं और केवल वही एक शब्द रहता है; और उस ध्वनि के साथ सभी भावनाएं, सभी भावों की गतियां इस तरह देखी और अनुभव की जाती हैं मानों वे स्वयं हमारे अंदर पैदा हो रही हों।

(२०-१०-१९५९)

'क' और मैं मिलकर बांसुरी बजाते हैं। हमें एक पुस्तक मिली है जिसके गीत बहुत सुंदर, बहुत सरल और लय बजाने के लिये बहुत सुगम हैं। हम जानना चाहेंगे कि क्या प्रेम और मृत्यु की कविताएं, जो हमारे आश्रम के आदर्श के साथ मेल नहीं खातीं, अपनी धुन में कोई बुरी भावना लिये रहती हैं ? क्या गिरजाघर में बजाये जानेवाले संगीत के टुकड़े बजाना हमारे लिये ठीक नहीं है ? अगर ऐसा है, तो हम गंवारू शब्दों या धार्मिक गानोंवाली तानें नहीं बजायेंगे।

तुम दोनों अवस्थाओं में शब्द छोड़कर केवल संगीत रख सकते हो।

अगर तुम संगीत लिखना जानते हो तो (शब्दों की नकल किये बिना) केवल तानों की नकल कर लो। अगर तुम संगीत लिखना नहीं जानते तो किसी जानकार से लिखवा लो, वह तुम्हारे लिये लिख दे या तुम्हें लिखना सिखा दे।

इन किताबों को अपने पास मत रखो, इन किताबों का बुरा असर हो सकता है।

(१९६५)

*

हमें संगीत से किस चीज की आशा करनी चाहिये ?

संगीत के किसी टुकड़े के गुण का मूल्यांकन कैसे किया जाये ?

(संगीत के लिये) सुरुचि कैसे पैदा की जाये ?

सिनेमा, जैज वगैरा के हल्के संगीत के बारे में आपकी क्या राय है ? हमारे बच्चों को यह बहुत पसंद है।

संगीत का काम है चेतना को अपने-आपको आध्यात्मिक ऊंचाइयों तक उठाने में सहायता करना।

वह सब तो चेतना को नीचा करता है, कामनाओं को प्रोत्साहित करता और आवेगों को जगाता है, संगीत के सच्चे लक्ष्य के विरुद्ध है और उससे बचना चाहिये।

यह नाम का नहीं, प्रेरणा का प्रश्न है—और केवल आध्यात्मिक चेतना ही इसमें निर्णायक हो सकती है।

(२२-७-१९६७)

*

(एक मध्यकालीन गीत के बारे में)

शब्द बेतुके हैं, बल्कि कुरुचिपूर्ण हैं। साधारणतः, जब हम कोई गीत सीखते थे तो अगर उसके शब्द अशोभन होते तो उन्हें बदल दिया जाता था और केवल तर्ज रखी जाती थी।

जिसमें लय का ज्ञान हो वह इसे आसानी से कर सकता है।

(फरवरी १९६८)

(किसी गान-समारोह के कार्यक्रम पर छपी दो ईसाई सूक्तियों के बारे में)

यह ठीक है बशर्ते कि यह ऐकांतिक न हो और अन्य धर्मों को भी स्थान मिले।

(मार्च १९६८)

*

कविता

कविता आत्मा की संवेदनशीलता है।

*

मेरे लिये सच्ची कविता समस्त दर्शन और समस्त व्याख्या से परे है।

*

फोटोग्राफी

आधुनिक फोटोग्राफी एक कला बन गयी है और, अन्य कलाओं की तरह, सार्थक रूप में, सच्चे सौंदर्य-बोध के साथ अंतरात्मा की आंतरिक भावनाओं को व्यक्त कर सकती है।

*

अगर फोटोग्राफर कलाकार हो तो फोटेग्राफी कला बन जाती है।

*

सिनेमा

आजकल हम लोग बहुत ज्यादा फिल्में देखते हैं, पता नहीं वे हमें किस तरह शिक्षा दे सकती हैं!

अगर तुम्हारे अंदर सच्ची वृत्ति हो तो हर चीज कुछ सीखने का अवसर होती है।

बहरहाल, इस अधिकता से तुम यह समझ सकते हो कि कुछ लोगों की फिल्में देखने की निरकुंश कामना उतनी ही घातक हो सकती है जितनी अन्य सब कामनाएं।

(११-५-१९६३)

*

हम चाहेंगे कि बच्चों को ऐसे जीवन के चित्र दिखा सकें जैसा वह होना चाहिये, लेकिन हम उस बिंदु तक नहीं पहुंचे हैं, उससे अभी दूर हैं। ऐसी फिल्में अभीतक बनी नहीं हैं। और अभी तो, बहुधा, सिनेमा ऐसा जीवन दिखलाता है जैसा नहीं होना चाहिये, वह इतनी तीव्रता से दिखाया जाता है कि तुम्हें जीवन से घृणा हो जाती है।

यह भी तैयारी के रूप में उपयोगी है।

आश्रम में फिल्मों को मनोरंजन की दृष्टि से नहीं, शिक्षा के एक अंग की दृष्टि से प्रवेश मिलता है। तो हमारे सामने शिक्षा की समस्या होती है।

अगर हम यह सोचें कि बच्चे को केवल वही सीखना और जानना चाहिये जो उसे हर निम्न, भद्दी, उग्र और गिरानेवाली गति से शुद्ध रख सके तो हम एक साथ सारी मानवजाति के साथ पूरा संपर्क खतम कर देंगे, आरंभ होगा युद्ध और हत्या की, संघर्ष

और धोखेबाजी की कहानियों से जो इतिहास के नाम से चलती हैं; हमें परिवार के साथ, रिश्तेदारों और दोस्तों के साथ सभी संबंध खतम कर देने होंगे; हमें उनकी सत्ता के सभी प्राणिक आवेगों पर अंकुश लगाना होगा।

कन्वेंट की चारदीवारी में बंद साधु-जीवन या गुफाओं और वनों में संन्यासी जीवन के पीछे यही विचार था।

लेकिन यह उपचार बिलकुल प्रभावहीन निकला और मानवजाति को दलदल में से निकालने में असमर्थ रहा।

श्रीअरविन्द के अनुसार, उपचार कुछ और ही है।

हमें संपूर्ण जीवन का, उसमें अभीतक बाकी समस्त कुरूपता, मिथ्यात्व और क्रूरता का सामना करना चाहिये, लेकिन हमें अपने अंदर समस्त शिव और सुन्दर, समस्त ज्योति और समस्त सत्य को खोजने की सावधानी बरतनी चाहिये ताकि हम सचेतन रूप से इस स्रोत का बाकी संसार के साथ नाता जोड़ सकें और उसे रूपांतरित कर सकें।

यह भाग जाने या न देखने के लिये आंखें मूंद लेने की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन है, लेकिन यही एक सच्चा प्रभावकारी उपाय है—यह उन लोगों का मार्ग है जो सचमुच बलवान् और शुद्ध हैं, जो 'सत्य' को अभिव्यक्त करने में समर्थ हैं।

(२९-५-१९६८)

*

माताजी, फिल्में कैसे देखनी चाहिये ? अगर हम पात्रों के साथ एक हो जायें और यदि वह दुःखान्त या जासूसी फिल्म हो तो हम उसमें बहुत फंस जाते हैं, रोते और भयभीत होते हैं। अगर हम अलग-थलग रहें तो उसका भली-भांति मजा नहीं ले सकते। तब क्या करना चाहिये ?

प्राण के ऊपर प्रभाव पड़ता है और वही द्रवित होता है।

अगर तुम मानसिक रूप से देखो, तो वही रुचि नहीं रहती; कष्ट पाने या द्रवित होने की जगह तुम शांति के साथ फिल्म का मूल्यांकन कर सकते हो, तुम देख सकते हो कि वह ठीक तरह बनी है या नहीं, अभिनय अच्छा है या नहीं और चित्रों का कोई कलात्मक मूल्य है या नहीं।

पहली अवस्था में तुम "अच्छे दर्शक" हो, दूसरी में तुम ज्यादा शांत होते हो।

आशीर्वाद।

(३०-१-१९७०)

*

(ओरोवील में सिनेमा के बारे में)

१५ वर्ष से कम के बच्चे केवल शिक्षणात्मक फिल्में देखेंगे।
ओरोवील में दिखायी जानेवाली फिल्मों के चुनाव में सावधानी बरतनी चाहिये।★
उस सबसे बचना चाहिये जो निम्न गतियों और क्रियाओं को प्रोत्साहन देता है।[१]

(२५-२-१९७२)

*

नीरव होना सीखो

सिनेमा उन लोगों के लिये दिखाया जाता है जो चित्रों को देखना तथा शब्दों और संगीत को सुनना चाहते हैं। उन्हें यह अधिकार है कि वे शांति के साथ देख-सुन सकें।

जो बातें करना, गप्पें लगाना, हंसना और शोर मचाना यहांतक कि दौड़-भाग करना बंद नहीं कर सकते उन्हें वहां न रहना चाहिये, क्योंकि वे जो कुछ करते हैं उसे, अपने से भिन्न प्रकार के लोगों के रंग में भंग किये बिना, कहीं और कर सकते हैं।

तो फैसला यह है: चुपचाप दर्शक—या फिर सिनेमा बंद।

(१२-१०-१९६२)

*

"विज़र्ड ऑफ आज़"[२]

आज रात को तुम्हें जो फिल्म दिखायी जायेगी उसके बारे में जरा-सी व्याख्या उसे ज्यादा रसप्रद बना देगी।

यह फिल्म तीन भागों में है, दो काले और एक, सबसे विस्तृत भाग, रंगीन। दो काले भाग (पहला और अंतिम) यह दिखाते हैं कि चीजें भौतिक जगत् में कैसी दीखती हैं; रंगीन चित्र ऐसे ही कथाक्रम और ऐसे ही चरित्रों को प्राणमय लोक में दिखाता है, यह वह जगत् है जहां आदमी गाढ़ी नींद में अपना शरीर छोड़कर जाता है। जबतक तुम्हारा भौतिक शरीर हो, तबतक प्राण-जगत् में कोई सच्ची हानि नहीं हो सकती, भौतिक शरीर रक्षक का काम देता है, और तुम हमेशा, जब चाहो, उसमें

[१] पहले दो वाक्य माताजी की टिप्पणियों पर आधारित हैं। जब ये उन्हें दिखलाये गये तो उन्होंने तीसरा वाक्य जोड़ दिया।

[२] आश्रम में जब यह फिल्म दिखायी गयी थी तो माताजी ने लाउड-स्पीकर पर यह टिप्पणी की थी।

लौटकर आ सकते हो। यह चीज इस चित्र में शास्त्रीय ढंग से दिखायी गयी है। तुम देखोगे कि छोटी लड़की अपने पैरों में जादुई लाल-सुर्ख जूते पहनती है, और जबतक वह जूते पहने रहती है तबतक उसे कोई नुकसान नहीं हो पाता। ये लाल-सुर्ख जूते भौतिक शरीर के साथ संबंध के प्रतीक हैं, और जबतक ये जूते पैरों में रहते हैं, वह, जब मरजी, शरीर में लौट सकती है और वहां आश्रय पा सकती है।

दो और बातें मजेदार हैं। एक है बरफ की बौछार जो दल को दुष्ट डायन के प्रभाव से बचाती है। इस डायन ने अपने जादू के द्वारा कल्याणकारी ऊर्जा के मरकत भवन की ओर उन्हें बढ़ने से रोक दिया है। प्राणिक जगत् में, बरफ पवित्रता का प्रतीक है। उनकी भावनाओं और उनके इरादों की पवित्रता उन्हें महान् विपदा से बचा लेती है। यह भी ख्याल करो कि अच्छे जादूगर के किले में जाने के लिये उन्हें सुनहरी ईंटों के चौड़े रास्ते पर से, प्रकाशमय विश्वास और आनन्द के रास्ते से जाना पड़ता है।

दूसरी बात है : डॉरोथी भूसे के आदमी को आग से बचाने के लिये उस पर पानी डालती है, तो कुछ पानी उस डायन के मुंह पर गिरता है जिसने आग सुलगायी थी और वह तुरंत घुलकर मर जाती है। पानी पवित्रता की शक्ति का प्रतीक है और इस शक्ति का उपयोग सद्भावना और सचाई के साथ किया जाये तो कोई भी विरोधी सत्ता या शक्ति उसके सामने नहीं ठहर सकती।

अंत में, जब अच्छी परी छोटी लड़की को बतलाती है कि वह कैसे एक जूते से दूसरे को बजाकर घर लौट सकती है, तो वह कहती है कि घर से अच्छा कुछ भी नहीं है; तो यहां "घर" का मतलब है भौतिक जगत् जो सुरक्षा और सिद्धि का स्थान है।

जैसा कि देखते हो, इस फिल्म का विषय मजेदार है और ज्ञान से रिक्त नहीं है। खेद की बात है कि यह उतनी अच्छी, सुंदर और सामंजस्यपूर्ण नहीं हो पायी जितनी कि हो सकती थी। इसके ढांचे में बहुत-सी रस की दृष्टि से गंभीर भूलें हैं और बहुत-से शोचनीय गंवारूपन हैं।

(१४-९-१९५२)

*

अन्य विषय

लिखना-पढ़ना जानना, कम-से-कम एक भाषा शुद्ध रूप से बोल सकना, थोड़ा-सा सामान्य भूगोल जानना, आधुनिक विज्ञान का थोड़ा-सा परिचय होना और आचार-व्यवहार के कुछ नियम जानना—किसी दल या समाज में रहने के लिये यह जरूरी है।

*

मुझे लगता है कि योग के बिना मनोविज्ञान निर्जीव है।

मनोविज्ञान के अध्ययन का अनिवार्य परिणाम होना चाहिये योग, अगर योग सिद्धांत नहीं तो कम-से-कम क्रियात्मक योग।

(२३-१२-१९६०)

*

जो एक है उसके भाग मत करो। विज्ञान और आध्यात्मिकता, दोनों का एक ही लक्ष्य है—'परम भागवत सत्ता'। फर्क बस इतना है कि आध्यात्मिकता यह बात जानती है और विज्ञान नहीं जानता।

(दिसंबर १९६२)

*

मधुर मां, कुछ चीजें मेरी प्रगति के लिये अच्छी हैं लेकिन मुझे बहुत नीरस लगती हैं। उदाहरण के लिये, गणित एक अच्छा विषय है लेकिन मुझे नहीं रुचता। कृपया बताइये कि मैं उन विषयों में कैसे रस ले सकता हूं जिनकी ओर मुझे आकर्षण नहीं होता ?

ऐसी बहुत-सी चीजें हैं जो हमें जाननी चाहिये, इसलिये नहीं कि वे विशेष रुचिकर हैं बल्कि इसलिये कि वे उपयोगी या अनिवार्य तक हैं; गणित उनमें से एक है।

जब हमारे पास ज्ञान की मजबूत पृष्ठभूमि हो तभी हम सफलता के साथ जीवन का सामना कर सकते हैं।

*

इतिहास और भूगोल केवल उन मनों को रोचक लग सकते हैं जो इस धरती को जानने के लिये उत्सुक हैं, जिसपर हमारा निवास है।

इन दो विषयों में रस ले सकने से पहले, तुम्हें अपनी ज्ञान की प्यास के क्षितिज को विस्तृत करना और अपनी चेतना के क्षेत्र को बढ़ाना चाहिये।

*

आपको पाने में गणित, इतिहास, विज्ञान कैसे सहायक हो सकते हैं ?

ये कई तरीकों से सहायक हो सकते हैं :

१. 'सत्य' की ज्योति पाने और सह सकने के लिये मन को मजबूत, विस्तृत और नमनीय होना चाहिये। ये अध्ययन इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये बहुत अच्छे हैं।

२. अगर तुम विज्ञान का काफी गहराई में अध्ययन करो, तो वह तुम्हें बाहरी रूप-रंग की अवास्तविकता का भान करा देगा और इस तरह तुम्हें आध्यात्मिक सद्वस्तु की ओर ले जायेगा।

३. भौतिक प्रकृति के सभी पहलुओं और गतियों का अध्ययन तुम्हें वैश्व माता के संपर्क में ले आयेगा, और इस तरह तुम मेरे ज्यादा नजदीक होगे।

(१७-१२-१९६६)

*

रही बात अंकगणित की। मैं लिखित की अपेक्षा व्यावहारिक गणित को ज्यादा पसंद करती हूं, मानसिक गणित की क्षमता के विकास पर जोर देती हूं। यह ज्यादा कठिन है, लेकिन यह तुम्हारे मानस दर्शन और तर्क-बुद्धि की क्षमता को बहुत विकसित करता है। रटे हुए ज्ञान की जगह सच्ची समझदारी विकसित करने के लिये यह एक समर्थ उपाय है।

जब तुम मानसिक अंकगणित जानते हो और अंकगणित को समझते हो, तो फिर दूसरे गणित के सीखने-समझने में बहुत कम समय लगता है।

समान वस्तुओं की सहायता से—छोटी संख्याओं के लिये तुम स्वयं बच्चों से ही शुरू कर सकते हो और फिर जब दहाई और सैकड़े की बात आये तो कंकड़ या गणित की सहायता ले सकते हो।

इस भांति, थोड़ा कष्ट उठाकर, तुम उन्हें सभी क्रियाएं तर्कसंगत रूप में सिखा सकते हो और इस तरह वे बच्चों के लिये वास्तविक, जीवित और ठोस अर्थ ले लेते हैं।

राष्ट्रीय शिक्षा

हमारा उद्देश्य भारत के लिये राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति नहीं है, बल्कि सारे जगत् के लिये शिक्षा है।

*

माताजी,

हमारा लक्ष्य भारत के लिये ऐकांतिक शिक्षा नहीं है बल्कि सारी मानवजाति के लिये आवश्यक और आधारभूत शिक्षा है। मगर, क्या यह ठीक नहीं है, माताजी, कि (अपने सांस्कृतिक प्रयासों और प्राप्ति के कारण) शिक्षा के बारे में भारत की अपने तथा जगत् के प्रति कुछ विशेष जिम्मेदारी है ? बहरहाल, मेरा ख्याल है कि वह आवश्यक शिक्षा ही भारत की राष्ट्रीय शिक्षा होगी। वास्तव में, मैं यह मानता हूं कि इसी भांति हर बड़े राष्ट्र में अपनी विशेष विभिन्नताओं के आधार पर एक राष्ट्रीय शिक्षा होगी।

क्या यह ठीक है और माताजी इसका समर्थन करेंगी ?

हां, यह ठीक है और अगर मेरे पास तुम्हारे प्रश्न का पूरा उत्तर देने का समय होता तो मैं जो उत्तर देती उसका यह एक भाग होता।

भारत के पास आत्मा का ज्ञान है या यूं कहें था, लेकिन उसने भौतिक तत्त्व की अवहेलना की और उसके कारण कष्ट भोगा।

पश्चिम के पास भौतिक तत्त्व का ज्ञान है पर उसने 'आत्मा' को अस्वीकार किया और इस कारण बुरी तरह कष्ट पाता है।

पूर्ण शिक्षा वह होगी जो, कुछ थोड़े-से परिवर्तनों के साथ, संसार के सभी देशों में अपनायी जा सके। उसे पूर्णतया विकसित और उपयोग में लाये हुए भौतिक द्रव्य पर 'आत्मा' के वैध अधिकार को वापिस लाना होगा।

मैं जो कहना चाहती थी उसका संक्षेप यही है।

आशीर्वाद सहित।

(२६-७-१९६५)

*

भारतीय शिक्षा के आधारभूत प्रश्न[१]

(१) भारत के वर्तमान और भावी राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय जीवन की दृष्टि से, भारत को शिक्षा में किस चीज को अपना लक्ष्य बनाना चाहिये ?

अपने बालकों को मिथ्यात्व के त्याग और 'सत्य' की अभिव्यक्ति के लिये तैयार करना।

(२) किस उपाय से देश इस महान् लक्ष्य को चरितार्थ कर सकता है ? इस दिशा में आरंभ कैसे किया जाये ?

भौतिक को 'आत्मा' की अभिव्यक्ति के लिये तैयार करके।

(३) भारत की सच्ची प्रतिभा क्या है और उसकी नियति क्या है ?

जगत् को यह सिखाना कि भौतिक तबतक मिथ्या और अशक्त है जबतक वह 'आत्मा' की अभिव्यक्ति न बन जाये।

(४) माताजी भारत में विज्ञान और औद्योगिकी की प्रगति को किस दृष्टि से देखती हैं ? मन के अंदर 'आत्मा' के विकास में वे क्या कर सकते हैं ?

इसका एकमात्र उपयोग है भौतिक को 'आत्मा' की अभिव्यक्ति के लिये अधिक मजबूत, अधिक पूर्ण और अधिक समर्थ बनाना।

(५) देश राष्ट्रीय एकता के लिये काफी चिन्तित है। माताजी की क्या दृष्टि है ? भारत अपने तथा जगत् के प्रति अपने उत्तरदायित्व को कैसे पूरा करेगा ?

सभी देशों की एकता जगत् की अवश्यंभावी नियति है। लेकिन सभी देशों की एकता के संभव होने के लिये पहले हर देश को अपनी एकता चरितार्थ करनी होगी।

(६) भाषा की समस्या भारत को काफी तंग करती है। इस मामले में हमारी उचित वृत्ति क्या होनी चाहिये ?

[१] अगस्त १९६५ में भारत सरकार का शिक्षा-आयोग आश्रम के 'शिक्षा-केंद्र' की शिक्षा पद्धति का निरीक्षण करने के लिये पांडिचेरी आया था। उस समय कुछ अध्यापकों ने माताजी से ये प्रश्न पूछे थे।

एकता एक जीवित तथ्य होना चाहिये, मनमाने नियमों के द्वारा आरोपित वस्तु नहीं। जब भारत एक होगा तो सहज रूप से उसकी एक भाषा होगी जिसे सब समझ सकेंगे।

(७) शिक्षा सामान्यतः साक्षरता और एक सामाजिक स्तर की चीज बन गयी है। क्या यह हानिकर नहीं है? लेकिन शिक्षा को उसका आंतरिक मूल्य और उसका मूलभूत आनन्द कैसे प्रदान किया जाये?

परंपराओं से बाहर निकल कर और अंतरात्मा के विकास पर जोर देकर।

(८) आज हमारी शिक्षा कौन-से दोषों और भ्रांतियों का शिकार है? हम उनसे कैसे बच सकते हैं?

क—सफलता, आजीविका और धन को दिया जानेवाला प्रायः ऐकांतिक महत्त्व। ख—'आत्मा' के साथ संपर्क स्थापित करके और सत्ता के 'सत्य' के विकास और उसकी अभिव्यक्ति की परम आवश्यकता पर जोर देकर।

(५-८-१९६५)

*

(१) बच्चों को मिथ्यात्व के त्याग के लिये कैसे तैयार किया जाये (क) जब कि अभी तक मिथ्यात्व मेरे रक्त में और शरीर के एक-एक कोषाणु में है? (ख) जब कि अहंकारपूर्ण और स्वत्वात्मक भाव के कारण मिथ्यात्व के प्रति आकर्षण बढ़ता ही जा रहा है?

(२) हर देश की एकता कैसे सिद्ध हो सकती है (क) जब कि व्यक्ति के अंदर ही एकता नहीं है? (ख) जब कि परिवार के दो सदस्यों में एकता नहीं है? (ग) जब कि किसी संस्था या संगठन में एकता नहीं है?

(३) जब एक आश्रमवासी भी अपनी निजी आवश्यकताएं पूरी करने के लिये सामाजिक स्तर का संक्रमण फैलाता है तो परंपराओं से बाहर निकलने और अंतरात्मा के विकास पर कैसे जोर दिया जाये?

(४) जब हर एक अपने अहं की तुष्टि के लिये और अपने महत्त्व के प्रदर्शन के लिये धन के पीछे दौड़ रहा है तो सफलता, आजीविका और धन को लगभग ऐकान्तिक महत्त्व कैसे न दिया जाये?[1]

[1] माताजी के ५-८-१९६५ (पिछला पत्र) के उत्तरों के आधार पर किसी अध्यापक ने ये प्रश्न भेजे थे।

हर एक को यह काम करने के लिये एक **शरीर** दिया गया है क्योंकि अपने अंदर इन चीजों को चरितार्थ करके ही तुम धरती पर इन्हें चरितार्थ करने में मानवजाति की सहायता कर सकते हो।

अध्यापक में निश्चित रूप से वे गुण और वह चेतना होनी चाहिये जिन्हें वह अपने विद्यार्थियों को प्राप्त करवाना चाहता है।

*

मैं चाहूंगी कि वे (सरकार) योग को शिक्षा के रूप में स्वीकार कर लें, यह केवल हमारे लिये नहीं, देश भर के लिये अच्छा होगा।

भौतिक-द्रव्य का रूपांतर होगा, वह ठोस आधार होगा। जीवन दिव्य बनेगा। भारत को नेतृत्व करना चाहिये।

*

पांडिचेरी में फ्रेंच संस्था के उद्घाटन के अवसर पर दिया गया संदेश

किसी भी देश में बालकों को जो सबसे अच्छी शिक्षा दी जा सकती है उसमें यह सिखाना भी आ जाता है कि उनके देश की सच्ची प्रकृति क्या है और उसके अपने गुण कौन-से हैं, उनके राष्ट्र को जगत् में कौन-सा कार्य पूरा करना है और वैश्व वृन्दवाद्य में उसका सच्चा स्थान कौन-सा है। उसके साथ ही दूसरे देशों की भूमिका की विस्तृत समझ भी होनी चाहिये, लेकिन नकल की भावना से नहीं, और साथ ही अपने देश की प्रतिभा को आंख से ओझल किये बिना। फ्रांस का अर्थ था भावों की उदारता, विचारों की नवीनता और निर्भीकता और कार्य में क्षात्र धर्म और शौर्य। यह फ्रांस सबका मान और सबकी प्रशंसा पाता था : इन्हीं गुणों के कारण वह संसार में ऊंचा उठा हुआ था।

उपयोगितावादी, हिसाबी, व्यापारिक फ्रांस फ्रांस नहीं रहा। ये चीजें उसके सच्चे स्वभाव के साथ मेल नहीं खातीं और इन्हें व्यवहार में लाकर वह संसार में अपना उदात्त स्थान खो रहा है।

यही बात है जो आज के बच्चों को बतायी जानी चाहिये।

(४-४-१९५५)

२

श्रीअरविन्दाश्रम का शारीरिक शिक्षण विभाग

इस विभाग की स्थापना मई १९४५ में हुई थी। यह 'श्रीअरविन्द अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा-केंद्र' के विद्यार्थियों, अध्यापकों तथा अन्य आश्रम-वासियों के लिये शारीरिक शिक्षण की व्यवस्था करता है। इसके कार्य के लिये प्रशिक्षकों का दल है जो कप्तान कहलाते हैं। ऐथलेटिक्स, जिम्नास्टिक्स, तैराकी, खेलकूद, कुश्ती, जूडो, आसन, आदि सिखाने की व्यवस्था है। वर्ष का कार्यक्रम चार विभागों में बंटा है: पहले तीन विभागों में प्रशिक्षण की अवधि के बाद, प्रतियोगताएं होती हैं; वर्ष के अंत में, इसमें भाग लेनेवाले २ दिसम्बर को वार्षिकोत्सव के रूप में प्रस्तुत करने के लिये एक विशेष कार्यक्रम तैयार करते हैं। यह कार्यक्रम आश्रम के स्पोर्ट्स ग्राउंड में होता है। इस विभाग में एक अपना पुस्तकालय है, जिम्नेजियम, 'प्ले ग्राउंड', 'स्पोर्ट्स ग्राउंड', तैरने के लिये तालाब, टेनिस कोर्ट, जूडो हॉल आदि की व्यवस्था है।

माताजी ने इस विभाग के निर्माण में सक्रिय रूप से भाग लिया था। वे बरसों तक शाम के चार, साढ़े चार के बाद का समय शारीरिक शिक्षण के विभिन्न कार्य-कलाप में बिताया करती थीं।

यौवन

यौवन इस बात पर निर्भर नहीं है कि हम कितने छोटे हैं, बल्कि इस पर कि हम में विकसित होने की क्षमता और प्रगति करने की योग्यता कितनी है। विकसित होने का अर्थ है अपनी अंतर्निहित शक्तियां, अपनी क्षमताएं बढ़ाना; प्रगति करने का अर्थ है अबतक अधिकृत योग्यताओं को बिना रुके निरंतर पूर्णता की ओर ले जाना। जरा (बुढ़ापा) आयु बड़ी हो जाने से नहीं आती बल्कि विकसित होने और प्रगति करने की अयोग्यता के कारण अथवा विकसित होना और प्रगति करना अस्वीकार कर देने के कारण आती है। मैंने बीस वर्ष की आयु के वृद्ध और सत्तर वर्ष के युवक देखे हैं। ज्यों ही मनुष्य जीवन में स्थित हो जाने और पुराने प्रयासों की कमाई खाने की इच्छा करता है, ज्यों ही मनुष्य यह सोचने लगता है कि उसे जो कुछ करना था वह उसे कर चुका और जो कुछ उसे प्राप्त करना था वह प्राप्त कर चुका, संक्षेप में, ज्यों ही मनुष्य प्रगति करना, पूर्णता के मार्ग पर अग्रसर होना बंद कर देता है, त्यों ही उसका पीछे हटना, बूढ़ा होना निश्चित हो जाता है।

शरीर के विषय में भी मनुष्य यह जान सकता है कि उसकी क्षमताओं की वृद्धि और उसके विकास की कोई सीमा नहीं, बशर्ते कि मनुष्य इसकी असली पद्धति और सच्चे कारण ढूंढ निकाले। यहां हम जो बहुत-से परीक्षण करना चाहते हैं उन्हीं में से एक यह शारीरिक विकास भी है और हम मानवजाति की सामूहिक धारणा को निर्मूल कर संसार को यह दिखा देना चाहते हैं कि मनुष्य में कल्पनातीत संभावनाएं निहित हैं।

(२ फरवरी, १९४९)

एकाग्रता और विक्षेप

जो लोग खेल-कूद में सफल होना चाहते हैं वे किसी एक धारा या एक विषय को चुन लेते हैं जो उन्हें पसंद आये या उनकी प्रकृति के अनुकूल हो; वे अपनी पसंद के विषय पर पूरी तरह से एकाग्र होते हैं और इस बात का खास ख्याल रखते हैं कि अपनी शक्तियों को इधर-उधर न बिखेरें। जैसे जीवन में आदमी अपनी जीविका के लिये एक खास मार्ग चुन लेता है और अपना सारा ध्यान उसी पर लगा देता है, उसी तरह खिलाड़ी भी किसी विशेष खेल या शारीरिक क्रिया को चुन लेता है और उसमें भरसक पूर्णता पाने के लिये पूरे प्रयास को एकाग्र कर देता है। यह पूर्णता साधारणतः एक ही गति को बार-बार करते रहने से सहज प्रतिवर्ती क्रिया के रूप में आती है। परंतु, अपने हित में, इस सहज प्रतिवर्ती क्रिया का स्थान एकाग्र मनोयोग ले लेता है। एकाग्रता की यह क्षमता केवल बौद्धिक क्रियाओं में ही नहीं बल्कि सब प्रकार के क्रिया-कलाप में हो सकती है और यह शक्तियों पर सचेतन रूप से अधिकार करने से आती है।

यह जानी हुई बात है कि मनुष्य का मूल्य उसके केंद्रित मनोयोग की क्षमता के अनुपात में होता है, एकाग्रता जितनी अधिक होती है परिणाम भी उतना ही असाधारण होता है, यहांतक कि पूर्ण और अविरत एकाग्र मनोयोग अपने काम पर प्रतिभा की मुहर लगा देता है। अपनी ही अन्य गतिविधियों की तरह खेल-कूद में भी प्रतिभा हो सकती है।

तो क्या हम एकाग्रता की पूर्णता पाने के लिये अपनी क्रियाओं को एक ही क्रिया तक सीमित रखने की सलाह दे सकते हैं ?

सीमित करने के लाभ तो जाने हुए हैं, लेकिन उसकी असुविधाएं भी हैं, सीमा संकीर्णता लाती है और अपनी चुनी हुई दिशाओं को छोड़कर अन्य दिशाओं में अक्षमता लाती है। यह पूर्ण विकसित और सामंजस्यपूर्ण मानव के आदर्श से उलटी बात है। इन परस्पर-विरोधी वृत्तियों में कैसे मेल बैठाया जाये ?

समस्या का एक ही समाधान मालूम होता है। जैसे कोई विधिवत् रूप से वैज्ञानिक और क्रमिक प्रशिक्षण द्वारा मांसपेशियों को विकसित करता है, उसी तरह वैज्ञानिक और विधिवत् प्रशिक्षण के द्वारा एकाग्र मनोयोग की क्षमता को भी इस तरह विकसित किया जा सकता है कि स्वेच्छा से किसी भी विषय या किसी भी क्रिया पर एकाग्र हुआ जा सके। इस तरह तैयारी का काम धीरे-धीरे, लगातार एक ही क्रिया को दोहराते हुए अवचेतना में करने की जगह, सचेतन रूप से इच्छा-शक्ति को एकाग्र करके और मनोयोग को किसी एक बिंदु पर अपनी योजना और निश्चय के अनुसार केंद्रित करके किया जाता है। सबसे बड़ी कठिनाई है भीतरी और बाहरी परिस्थितियों की परवाह न करते हुए एकाग्रता की यह क्षमता प्राप्त करना—यह शायद कठिन है पर दृढ़ निश्चय

करनेवाले अध्यवसायी के लिये असंभव नहीं है। और फिर, विकास का चाहे जो मार्ग अपनाया जाये, सफलता के लिये दृढ़ निश्चय और अध्यवसाय अनिवार्य है।

प्रशिक्षण का उद्देश्य है मनोयोग को केंद्रित करने की एक ऐसी क्षमता को विकसित करना जो इच्छा के अनुसार किसी भी विषय पर अत्यंत आध्यात्मिक से लेकर अत्यंत जड़-भौतिक तक अपनी शक्ति की पूर्णता में से कुछ भी खोये बिना लगा सके, उदाहरण के लिये, भौतिक क्षेत्र में, अपनी शक्ति को एक खेल से दूसरे खेल की ओर, एक क्रिया से दूसरी क्रिया की ओर समान रूप से सफलता के साथ लगा सकना।

किसी खेल या उत्तोलन, कलाबाजी, मुक्केबाजी, दौड़ आदि शारीरिक क्रियाओं में जिस एकाग्रता की जरूरत होती है, सभी शक्तियों को इनमें से किसी गति पर केंद्रित करने से शरीर में जो आनंद की लहर आती है, वही अपने साथ क्रिया की पूर्णता और सफलता लाती है। साधारणत: यह तब होता है जब खिलाड़ी किसी खेल या क्रिया में विशेष रस लेता है और उसकी घटना सब प्रकार के संयम, निर्णय या संकल्प को पार कर जाती है।

फिर भी एकाग्र मनोयोग के समुचित प्रशिक्षण के द्वारा व्यक्ति इच्छा, या यूं कहें, आदेश के अनुसार इस स्थिति को ला सकता है, और फलस्वरूप किसी भी क्रिया को संपादित करने की पूरी-पूरी क्षमता अनिवार्य रूप से आ जाती है।

हम अपने 'शारीरिक शिक्षण-विभाग' में ठीक इसी चीज के लिये प्रयास करना चाहते हैं। अन्य प्रक्रियाओं की अपेक्षा इस प्रक्रिया से परिणाम ज्यादा धीमे आ सकते हैं, परंतु तेजी की यह कमी निश्चित रूप से अभिव्यक्ति की पूर्णता और प्रचुरता द्वारा पूरी हो जायेगी।

('बुलेटिन', अप्रैल १९४९)

हमारा मुखपृष्ठ और हमारा झंडा

हमारे 'बुलेटिन' के मुखपृष्ठ पर छपा झंडा रजतनील रंग के समचतुष्कोण के ठीक बीचोंबीच, पूरी तरह खिला हुआ सुनहरा कमल है जिसमें पंखुड़ियों की दो पंक्तियां हैं, चार अंदर और बारह बाहर।

यह नील रंग आत्मा का नीला रंग है और सुनहरा रंग 'परात्पर मां' का रंग है। झंडे को घेरे हुए लाल रंग आलोकित भौतिक चेतना का प्रतीक है।

शुरू में यह झंडा केवल जि० एस० आ० एस० आ० ("जनैस स्पौर्तिव द लाश्रम द अरविन्द") या 'श्रीअरविन्दाश्रम युवक खिलाड़ी संघ' का झंडा था; पर जब यहां (आश्रम में) १५ अगस्त, १९४७ को भारत की स्वाधीनता मनायी गयी तो देखा गया कि यह समस्त भारत के आध्यात्मिक लक्ष्य को भी अभिव्यक्त करता है, इसलिये यह हमारे लिये पुनरुत्थित, एकता-प्राप्त, संयुक्त और विजयी भारत का प्रतीक है जो अपने-आपको शताब्दियों की निर्जीवता से उठाकर, गुलामी की बेड़ियों को फेंककर, नव जीवन की प्रसव वेदना में से होकर फिर से एक बार एक महान्, संयुक्त राष्ट्र के रूप में उदय हो रहा है जो संसार और उसकी मानवजाति को आत्मा के ऊंचे-से-ऊंचे लक्ष्य तक ले जायेगा।

इसलिये हम ऐसे प्रतीकवाले झंडे पाकर अपने-आपको बहुत भाग्यवान् मानते हैं और इसे गहरा प्रेम और आदर देते हैं।

('बुलेटिन', अप्रैल १९४९)

शक्ति का अक्षय भंडार

किसी खिलाड़ी को यौगिक साधना से जो सबसे बड़ी सहायता मिल सकती है वह यह है कि साधना उसे यह सिखा सकती है कि विश्व-ऊर्जा के अक्षय स्रोत से शक्ति खींचकर अपनी शक्ति को नया और ताजा कैसे बनाया जा सकता है।

आधुनिक विज्ञान ने पोषण-कला में बहुत उन्नति की है, अभीतक शक्ति पाने के लिये यही सबसे अधिक जाना-माना साधन है। लेकिन यह प्रक्रिया अपने अच्छे-से-अच्छे रूप में भी अनिश्चित है और नाना प्रकार की सीमाओं से घिरी है। यहां हम इस विषय को नहीं ले रहे, क्योंकि इस विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है। पर यह स्पष्ट है कि जबतक मनुष्य और संसार अपनी वर्तमान अवस्था में है तबतक भोजन अनिवार्य है। योग-विज्ञान शक्ति प्राप्त करने के अन्य साधनों को जानता है, और यहां हम दो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण साधनों की बात करेंगे।

पहला है जड़ और पार्थिव जगत् में एकत्रित शक्तियों के साथ नाता जोड़ना और उनके अक्षय भंडार से आजादी के साथ ले सकना। ये भौतिक शक्तियां अंधेरी और निश्चेतन होती हैं; ये मनुष्य के अंदर पाशविकता बढ़ाती हैं, लेकिन साथ-ही-साथ, ये मानव शरीर और भौतिक प्रकृति के बीच एक सामंजस्यपूर्ण संबंध भी स्थापित करती हैं। जो इन शक्तियों को लेना और इनका उपयोग करना जानते हैं वे प्रायः जीवन में सफलता पाते हैं और जो कुछ हाथ में लेते हैं उसमें सफल होते हैं। पर फिर भी वे बहुत हदतक जीवन की परिस्थितियों और शारीरिक स्वास्थ्य की अवस्था पर निर्भर रहते हैं। उनमें जो सामंजस्य पैदा होता है वह आक्रमणों से सुरक्षित नहीं होता; जब परिस्थितियां उलटी हो जायें तो वह गायब हो जाता है। बालक बिना नापे-तोले, मस्ती में, खुलकर इधर-उधर हाथ-पैर मारता हुआ शक्ति फेंकता और भौतिक प्रकृति से शक्ति पाता रहता है। लेकिन अधिकतर मनुष्यों में, जैसे-जैसे वे बड़े होते हैं, यह क्षमता जीवन की चिंताओं और चेतना में मानसिक क्रियाओं के महत्त्व पा लेने के कारण मर-सी जाती है।

फिर भी, शक्ति का एक स्रोत है। एक बार उसका पता लग जाये तो फिर जीवन की भौतिक अवस्थाएं चाहे जैसी क्यों न हों, चाहे जैसी परिस्थितियां क्यों न आ जायें, वह स्रोत कभी सूख नहीं सकता। कहा जा सकता है कि यह आध्यात्मिक शक्ति है जो नीचे से, निश्चेतना की गहराइयों में से नहीं, बल्कि ऊपर से, मनुष्यों और जगत् के परम स्रोत से, अतिचेतना के शाश्वत और सर्वशक्तिमान वैभवों से आती है। वह हर जगह, हमारे चारों ओर मौजूद है और हर चीज में घुसी हुई है; और उसके साथ नाता जोड़ने के लिये और उसे पाने के लिये इतना काफी है कि उसके लिये सचाई से अभीप्सा की जाये, अपने-आपको पूरे श्रद्धा-विश्वास के साथ उसके प्रति खोला जाये, अपनी चेतना को विशाल बनाया जाये और विश्व 'चेतना' के साथ एक हुआ जाये।

शुरू में, यह चीज असंभव नहीं, तो कठिन जरूर प्रतीत हो सकती है। लेकिन अगर तथ्यों को जरा ज्यादा नजदीक से देखा जाये, तो मालूम होगा कि यह चीज इतनी परायी नहीं है, सामान्य रूप से विकसित मानव चेतना से इतनी दूर नहीं है। वास्तव में, ऐसे लोग बहुत कम होंगे जिन्होंने अपने जीवन में, कम-से-कम एक बार, यह अनुभव नहीं किया कि मानों वे अपने-आपसे परे उठा लिये गये हैं, एक अप्रत्याशित और ऐसी असाधारण शक्ति से भर गये हैं जो उन्हें, उस समय के लिये, सब कुछ करने की सामर्थ्य देती है; ऐसे क्षणों में कोई चीज बहुत कठिन नहीं मालूम होती और "असंभव" शब्द अपना अर्थ खो बैठता है।

यह अनुभव, चाहे कितना भी क्षणिक क्यों न हो, हमें उस उच्चतर शक्ति के संपर्क की एक झांकी दे देता है जिसे योग-साधना पाती और बनाये रखती है।

इस संपर्क को पाने की विधि यहां बड़ी मुश्किल से ही बतायी जा सकती है। इसके अतिरिक्त, यह एक व्यक्तिगत चीज है, हर एक के लिये अपना तरीका है जो हर व्यक्ति को वहीं आकर पकड़ता है जहां वह खड़ा हो, अपने-आपको उसकी निजी जरूरतों के अनुकूल बनाता है और उसे एक कदम आगे बढ़ने में सहायता देता है। रास्ता लंबा है और कभी-कभी गति धीमी होती है, लेकिन परिणाम कष्ट उठाने लायक है। हम सहज ही इस शक्ति के परिणामों की कल्पना कर सकते हैं जो हर परिस्थिति में और जब चाहे तब शक्ति के उस असीम भंडार से शक्ति ग्रहण करती है जो अपनी भास्वर पवित्रता से युक्त सर्वसमर्थ है। थकान, क्लांति, रोग, जरा और मृत्यु तक रास्ते की बाधाएं भर रह जाते हैं, उन्हें स्थिर संकल्प के द्वारा निश्चित रूप से पार किया जा सकता है।

('बुलेटिन', अगस्त १९४९)

यथार्थ निर्णय

खेलों की प्रतियोगिताओं से संबंध रखनेवाली जो कई बड़ी-बड़ी समस्याएं हैं, उनमें से एक है ठीक-ठीक निर्णय देने की समस्या।

इस विषय में जिन-जिन संघर्षों और विवादों का उत्पन्न होना अन्य अवस्थाओं में अवश्यंभावी होता, उनसे बचने के उद्देश्य से सदा के लिये एक बारगी यह निश्चित कर दिया गया है कि प्रतियोगिताओं में भाग लेनेवालों को जजों या पंचों के निर्णय को निर्विवाद स्वीकार कर लेना होगा। इस बात से जहांतक विचाराधीन व्यक्तियों का संबंध है वहांतक तो इस समस्या का समाधान हो जाता है, पर निर्णय करनेवाले व्यक्तियों का जहांतक संबंध है, इसका कोई समाधान नहीं होता; क्योंकि अगर वे सच्चे हों तो उनपर जितना अधिक विश्वास किया जायेगा उतनी ही अधिक उन्हें अपने निर्णय में पूर्ण रूप से निर्भ्रान्त होने के लिये सावधानी रखनी होगी। यही कारण है कि एकदम आरंभ में ही मैं उन सब मामलों को रद्द कर देती हूं जिनमें कि नीति के कारण या ऐसे ही कारणों से पहले ही निर्णय कर दिया गया होता है। क्योंकि, यद्यपि दुर्भाग्यवश प्रायः ही पर्याप्त अवसरों पर ऐसा ही किया जाता है, तो भी प्रायः सब लोग इस बात पर सहमत होंगे कि ऐसा करना नीचता है और मनुष्य की मर्यादा यह नहीं चाहती कि इस तरह की बात की जाये।

साधारणतया, लोग यह समझते हैं कि अगर निर्णय खेलों के नियमादि के गभीर ज्ञान और पर्याप्त निष्पक्षता पर आश्रित हों तो फिर कोई हर्ज नहीं। ऐसा निर्णय इंद्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान पर निर्भर होता है और प्रायः ही लोग उसे ऐसी चीज समझते हैं जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पर, जो हो, यदि वास्तव में देखा जाये तो इस तरह प्राप्त किया हुआ ज्ञान स्वयं निर्भ्रांत नहीं होता। ये इंद्रियां उस व्यक्ति की आंतरिक अवस्था के सीधे प्रभाव में होती हैं जो उनका उपयोग करता है, और इसलिये दृश्य वस्तु के विषय में द्रष्टा का जो भी मनोभाव होता है उसके द्वारा एक-न-एक प्रकार से इंद्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान परिवर्तित, मिथ्या और विकृत हो जाता है।

उदाहरणार्थ, जो लोग किसी एक दल या संस्था के होते हैं, वे या तो उस दल के सदस्यों के प्रति बहुत अधिक नरम होते हैं या अनुचित रूप से सख्त होते हैं। सत्य की दृष्टि से देखा जाये तो, चाहे नर्मी हो या सख्ती, कोई भी एक-दूसरे से अधिक मूल्य नहीं रखती, क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में निर्णय आंतरिक भावना के ऊपर आश्रित होता है, न कि तथ्यों के वास्तविक और अनासक्त ज्ञान पर। यह बात बहुत स्पष्ट है, पर इस हदतक यदि न भी जाया जाये, तो भी यह कहा जा सकता है कि कोई भी मनुष्य, यदि वह योगी न हो तो, इन सब आकर्षणों और विकर्षणों से मुक्त नहीं होता और इन सब चीजों को बहुत कम ही लोग अपनी ऊपरी सक्रिय चेतना में देख पाते हैं, जब कि ये इंद्रियों की क्रियाओं पर बहुत अधिक प्रभाव डालती हैं।

जो मनुष्य पसंदगी और नापसंदगी से, कामनाओं-वासनाओं से, और अपनी अभिरुचियों से एकदम ऊपर उठ गया है, वही प्रत्येक चीज की ओर पूर्ण निष्पक्षता के साथ देख सकता है; उसकी इंद्रियों की विशुद्ध रूप से वस्तुनिष्ठ दृष्टि पूर्णता-प्राप्त मशीन की तरह बन जाती है जिसके ज्ञान के साथ सजीव चेतना की उज्ज्वलता जुड़ी है।

यहां भी यौगिक साधना हमारी सहायता कर सकती है और उसके द्वारा हम इतने ऊंचे चरित्रों का निर्माण कर सकते हैं कि वे सत्य के यंत्र बन सकें।

('बुलेटिन', नवम्बर १९४९)

ऑलिम्पिक रिंग्ज़

अधिकारिक रूप से यह घोषित किया गया है कि ऑलिम्पिक की पांच कड़ियां (रिंग्ज़) संसार के पांच महाद्वीपों को सूचित करती हैं, परंतु उसमें न तो उन कड़ियों के रंगों का कोई विशेष अर्थ बताया गया है और न प्रत्येक महाद्वीप का अपना-अपना विशिष्ट रंग निश्चित करने का कोई इरादा दिखायी देता है।

पर, जो हो, इन रंगों का अध्ययन करना और यह देखना कि इन रंगों का क्या अर्थ हो सकता है और ये रंग कोई विशेष संदेश देते हैं या नहीं, बहुत मजेदार होगा।

यह अच्छी तरह जानी-मानी बात है कि प्रत्येक रंग का एक अर्थ होता है, परंतु विभिन्न व्याख्याताओं ने उन्हें विभिन्न प्रकार का अर्थ दिया है और अधिकांश में वे अर्थ एक-दूसरे के विरोधी हैं। उन्हें देखने से ऐसा मालूम होता है कि ऐसे अर्थों का कोई सर्वजन स्वीकृत वर्गीकरण नहीं है। इसका कारण यह है कि इन रंगों को मनुष्य मन की दृष्टि से देखता है, अथवा कम-से-कम व्याख्याता की व्याख्या पर उसके मन का प्रभाव पड़ता है। परंतु मनुष्य यदि मन के ऊपर जाकर परे के वास्तविक गुह्य क्षेत्रों में प्रवेश करे, तो प्रत्येक रंग का सच्चा अर्थ प्रत्येक आदमी के लिये, जो इस तरह सीधा ग्रहण कर सकेगा, एक ही होगा। यह बात केवल इसी क्षेत्र के लिये नहीं बल्कि सभी आध्यात्मिक और गुह्य अनुभूतियों के लिये एकदम सही है। समस्त कालों और स्थानों के योगियों की आध्यात्मिक अनुभूतियों में हम एक बड़ी ही अद्भुत समानता पाते हैं।

अतएव, इस दृष्टिकोण से यदि हम ऑलिम्पिक चिह्न की कड़ियों के रंगों को देखें, तो हमें उनका सच्चा गूढ़ अर्थ मिल सकता है और फिर संसार के महाद्वीपों के साथ उनका संबंध जोड़ने की बात का भी अध्ययन किया जा सकता है।

हरा रंग एक विशाल और शांत मनोभाव को और प्रकृति के साथ सीधे संपर्क और अत्यंत सामंजस्यपूर्ण संबंध को सूचित करता है। यह उस महाद्वीप का प्रतीक हो सकता है जिसमें खुले हुए विस्तृत मैदान हों और जहां के लोग बिलकुल शुद्ध और सरल हों, किसी मिलावट के कारण नष्ट न हो गये हों और प्रकृति और मिट्टी के बहुत समीप हों।

लाल भौतिक और स्थूल जगत् का रंग है। इसलिये लाल कड़ी उन लोगों के लिये प्रयुक्त हो सकती है जिन्होंने भौतिक जगत् पर महान् विजय प्राप्त की हो। यह रंग साथ ही यह भी सूचित करता है कि इस भौतिक सफलता ने उन्हें दूसरों के ऊपर प्रभुत्व प्रदान किया है। जो हो, यह उन लोगों को सूचित करता है जो अत्यंत भौतिक और स्थूल वस्तुओं पर ही अधिक जोर देते हैं।

नीला रंग, दूसरी ओर, एक नये महाद्वीप को सूचित करता है जिसके सामने उसका सारा भविष्य पड़ा है और जिसमें बहुत बड़ी-बड़ी संभावनाएं हैं, परंतु जो अभी कच्चा और पूरी तरह विकास की प्रक्रिया में है।

काला रंग वास्तव में अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण चुनाव है क्योंकि यह केवल एक ऐसे महाद्वीप को ही सूचित कर सकता है जो तेजी से गभीर अंधकार में गिर रहा हो—यह रंग पतनोन्मुख जाति के काली विस्मृति के अंदर गिरने की अवस्था को प्रकट करता है।

इसके विपरीत, पीला रंग सब रंगों में सबसे अधिक गौरवपूर्ण है। वह दिव्य 'ज्योति' का सुनहला रंग है—उस 'ज्योति' का जो समस्त वस्तुओं के 'मूलस्रोत' और 'आदि-स्थान' से आती है और जो विकसनशील मनुष्यजाति को, अपने दयालु हाथ से, उसके भागवत 'मूल' की ओर वापिस ले जायेगी।

जिस ढंग से ये कड़ियां व्यवस्थित हैं, उसका भी एक अर्थ है। काला केंद्रीय और आधार-रूप रंग है, और यह निश्चय ही आज संसार में फैली हुई वर्तमान अंधकारपूर्ण अस्तव्यस्तता का तथा अज्ञान के अंधकारपूर्ण समुद्र के ऊपर मनुष्यजाति की नौका को खेने के लिये संघर्ष करनेवाले लोगों की अंधता का सच्चा परिचायक है।

हम आशा करते हैं कि भविष्य में इस काली कड़ी के स्थान पर एक सफेद कड़ी आ जायेगी जब मानव-व्यापारों का ज्वार पलटा खायेगा, जब अज्ञान की छाया एक नवीन ज्योति के, एक नयी 'चेतना' की उज्ज्वल, श्वेत, स्वयं प्रकाशमान ज्योति के उदय होने के कारण दूर हो जायगी और जब चकाचौंध करनेवाली इस उज्ज्वलता के सम्मुख मनुष्यजाति की नौका के कर्णधार वे लोग होंगे जो 'प्रतिश्रुत लोक' की ओर जाने का मार्ग निश्चित करेंगे।★

('बुलेटिन' नवम्बर १९४९)

चैम्पियनशिप पदक

इस त्रिमास में 'जि० एस० आ० एस० आ०' की ओर से एथलेटिक चैम्पियनशिप की जो प्रतियोगिताएं हुई थीं, उनमें हर उपदल के चैम्पियन को उपहारस्वरूप चैम्पियनशिप पदक मिला था। यह पदक एक सुनहरे कछुए के रूप में है जिसके बीच में लाल रंग का चक्र है और चक्र में से बारह सफेद किरणें निकल रही हैं।

पद के आकार और रंग का गुह्य अर्थ है और उसकी व्याख्या इस तरह की जा सकती है :

कछुआ पार्थिव अमरता, यानी, इस धरती पर भौतिक सत्ता की अमरता का प्रतीक है। लाल केंद्र आलोकित भौतिक का प्रतीक है और इससे 'सत्य' के समग्र 'प्रकाश' की बारह किरणें निकल रही हैं। किरणें आकार में गोलाई लिये हुए हैं और यह बताती हैं कि 'प्रकाश' स्वभाव से गतिशील है और क्रिया में लगा है।

कछुए का अपना सुनहरा रंग यह बताता है कि इस पार्थिव अमरता को 'अतिमानस' सहारा दे रहा है और केवल वही रूपांतर साध सकता है।★

('बुलेटिन', नवम्बर १९४९)

साम्मुख्य या "टूर्नामेंट"

जनवरी, फरवरी, मार्च और अप्रैल हमारे लिये साम्मुख्य के महीने हैं। छोटे और बड़े, सभी एक समान उत्साह के साथ भाग लेते हैं, पर, यह मैं अवश्य कहूंगी कि प्रतियोगिता में भाग लेनेवाले साधारण खिलाड़ियों के मनोभाव के साथ नहीं। क्योंकि हम हमेशा जीतने का नहीं, बल्कि यथाशक्ति अच्छे-से-अच्छे ढंग से खेलने का और इस तरह एक नवीन प्रगति के लिये मार्ग खोलने का प्रयास करते हैं।

हमारा लक्ष्य सफलता नहीं है—हमारा लक्ष्य है पूर्णता।

हम नाम या यश प्राप्त करने की चेष्टा नहीं कर रहे, हम चाहते हैं भगवान् की अभिव्यक्ति के लिये अपने-आपको तैयार करना। यही कारण है कि हम साहस के साथ कह सकते हैं : प्रतीत होने की अपेक्षा होना कहीं अच्छा है। अगर हमारी सच्चाई पूर्ण हो तो हमें अच्छा प्रतीत होने की जरूरत नहीं। और पूर्ण सच्चाई से हमारा अभिप्राय यह है कि हमारे सभी विचार, अनुभव, इंद्रिय-बोध और कर्म हमारी सत्ता के केंद्रीय 'सत्य' के सिवा और किसी चीज को अभिव्यक्त न करें।

('बुलेटिन', अप्रैल १९५०)

शारीरिक शिक्षा के दलों[१] की प्रार्थनाएं और माताजी के उत्तर

ग्रुप ए

मधुर मां, तूने हमारे लिये मार्ग को सभी संकटों और कठिनाइयों से मुक्त रखा है। यह मार्ग निश्चय ही लक्ष्य तक ले जाता है; और जब अंतिम विजय प्राप्त होगी, तो वह अनन्तता तक जा पहुंचेगी।

मां, हमें हमेशा हरा रख, ताकि हम बिना रुके हमेशा उस मार्ग पर बढ़ते रहें जो तूने हमारे लिये इतने श्रम के साथ बनाया है।

मेरे नन्हे बच्चो, तुम आशा हो, तुम भविष्य हो। इस तरुणाई को हमेशा बनाये रखो, यही प्रगति की क्षमता है; तुम्हारे लिये "असंभव" शब्द का कोई अर्थ नहीं रह जायेगा।

(२२-४-१९४९)

*

ग्रुप बी

मधुर मां, हम तेरी अंतिम सुनिश्चित विजय के लिये लड़नेवाले तेरे वीर वफादार सिपाही बनना चाहते हैं।

मधुर मां की जय।

विजय के लिये आह्वान

मेरे नन्हे बहादुर सिपाहियो, मैं तुम्हारा अभिवादन करती हूं, विजय से साक्षात्कार करने के लिये तुम्हारा आवाहन करती हूं।

(३-४-१९४९)

*

ग्रुप सी

प्रभो, अपने श्रेष्ठ कार्यकर्ताओं को समस्त अज्ञान से मुक्त कर, उनकी पवित्रता की ध्वजा को छोटे-से-छोटे रास्ते से 'उपलब्धि' की ओर ले जा।

तेरी ही इच्छा पूरी हो हमारी नहीं।

[१] यहां इन दलों का उल्लेख उसी तरह किया गया है जैसे उस समय थे। बाद में उनमें हेर-फेर हुए हैं।

प्रभु अपने कार्यकर्ताओं में से उन्हीं को "श्रेष्ठ" कहेंगे जो अपने अंदर की पाशविकता को पूरी तरह जीत लेंगे और उसके परे चले जायेंगे। आरंभ में हम उनके निष्ठावान और सच्चे निष्कपट कार्यकर्ता बनें और जब यह विनम्र कार्यक्रम पूरा हो जाये तब हम अपने-आपको ज्यादा बड़ी उपलब्धियों के लिये तैयार करेंगे।

(२३-४-१९४९)

*

ग्रुप डी

मधुर मां, हम तेरे वीर योद्धा बनना चाहते हैं। हम अंतिम 'विजय' तक तेरा अनुकरण करेंगे।

एक, सच्चे और निष्कपट हृदय से हम सब 'विजय' के लिये संकल्प करते हैं, लेकिन वह एक-एक चरण करके ही उपलब्ध हो सकती है। अध्यवसायपूर्ण अनुशासन पहला कदम है। तुम्हारी नयी वर्दी इसकी परिपूर्ति का प्रतीक हो।

(१७-४-१९४९)

*

ग्रुप डीजी

मधुर मां, हम—तेरे नन्हे बालक—तेरे सर्वशक्तिमान् 'प्रकाश' के लिये अभीप्सा करते हैं। और, मधुर मां, तूने हमें अंतिम 'विजय' का आश्वासन दिया है; तेरी इच्छा है कि हम तेरे वफादार, सच्चे, बहादुर और अनुशासित सैनिक बनें।

मधुर मां, यह हमारी प्रतिज्ञा है। हमारा निश्चय है कि हम ऐसे होंगे, और सबसे बढ़कर यह कि हम अपने-आपको पूरी तरह तेरे हाथों में सौंप देंगे। हमें यह करने की शक्ति प्रदान कर।

मैं तुम्हारी प्रतिज्ञा स्वीकार करती हूं, और तुम उसे सिद्ध करने में मेरी सहायता पर भरोसा रख सकते हो। आयु का अस्तित्व उन्हीं लोगों के लिये है जो बूढ़े होने का चुनाव करते हैं।

आगे बढ़ो, हमेशा आगे बढ़ो, भय के बिना और संकोच के बिना आगे बढ़ो।

(२२-४-१९४९)

*

ग्रुप डीके

दिव्य जननी, हमारी प्रार्थना है :
वर दे कि हम हमेशा तेरी आज्ञाकारी और सच्चे सैनिक रहें। तेरी शक्ति हमें विरोधी शक्तियों के विरुद्ध लड़ने और तेरी विजय पाने के योग्य बनाये।
माताजी की जय!

हमेशा निष्ठावान् और अध्यवसायी रहो तो तुम्हें उपलब्धि में अपना भाग मिलेगा।

(२२-४-१९४९)

*

ग्रुप ई

हम वही होना चाहते हैं जो तू हमें बनाना चाहे।

मुझे तुम्हारी सद्भावना पर पूरा विश्वास है। मेरी सहायता पर विश्वास रखो।

*

कप्तानों का दल

'शारीरिक शिक्षण' के कप्तानो :
तुम सर्वश्रेष्ठ हो सकते हो और तुम्हें होना चाहिये। मैं सोच रही थी कि, आश्रम में, एक केंद्र होना चाहिये जिसके चारों ओर सब कुछ संगठित हो। 'शारीरिक शिक्षण' के कप्तान शारीरिक 'शिक्षा के केंद्र' हो सकते हैं। उनकी संख्या अधिक होने की जरूरत नहीं है, लेकिन चुनाव अच्छा हो, वे पहली श्रेणी के लोग हों, अतिमानवता के सच्चे प्रत्याशी हों जो अपने-आपको पूरी तरह, बिना कुछ बचाये भगवान् के महान् कार्य के लिये दे सकें। तुमसे यही आशा की जाती है। यही तुम्हारा कार्यक्रम होना चाहिये।

(मार्च, १९६१)

*

मधुर मां,
तूने हमें जो लक्ष्य दिखलाया है, हम मिलकर उसके लिये काम करने की अभीप्सा करते हैं।

इस महान् कार्य को सिद्ध करने के लिये हमें आवश्यक ऋजुता, साहस, अध्यवसाय और सद्भाव प्रदान कर।

हमारे अंदर वह ज्वाला जगा जो हमारे अंदर के सारे विरोध को भस्म कर दे और हमें तेरे वफादार सेवक बनने के योग्य बनाये।

मेरे बालको,

हम सब उसी एक लक्ष्य और उसी उपलब्धि के लिये मिलकर एक हुए हैं—हमें भागवत 'कृपा' ने जो काम पूरा करने के लिये दिया है वह अनोखा और नवीन है। मैं आशा करती हूं कि तुम इस काम के असाधारण महत्त्व को अधिकाधिक समझोगे और तुम अपने अंदर उस श्रेष्ठ आनंद को अनुभव करोगे जो उपलब्धि से तुम्हें प्राप्त होगा।

भागवत शक्ति तुम्हारे साथ है—उसकी उपस्थिति को अधिकाधिक अनुभव करो और खबरदार, उसे कभी धोखा न देना।

ऐसा अनुभव करो, ऐसी इच्छा करो, ऐसा कार्य करो कि तुम नये जगत् की सिद्धि के लिये नयी सत्ताएं बनो और इसके लिये मेरे आशीर्वाद हमेशा तुम्हारे साथ रहेंगे।

(२४-४-१९६१)

प्रतियोगिताओं के लिये संदेश

ऐथलेटिक्स प्रतियोगिता १९५९

भौतिक आंखें जिन दृश्यों को देख सकती हैं उनके पीछे एक बहुत अधिक ठोस और स्थायी वास्तविकता है। इस वास्तविकता में मैं आज तुम्हारे साथ हूं और सारे ऐथलेटिक्स काल में रहूंगी। बल, शक्ति, ज्योति और चेतना निरंतर तुम्हारे साथ रहेंगी, ताकि हर एक को, उसकी ग्रहणशक्ति के अनुसार, उसके प्रयास में सफलता मिले और सभी सच्चे प्रयास को मिले प्रगति का शीर्ष-मुकुट।

(१९-७-१९५९)

*

जिम्नास्टिक्स प्रतियोगिता १९५९

मैंने ऐथलेटिक्स की ऋतु के आरंभ में जो कहा था वह जिम्नास्टिक्स प्रतियोगिताओं के लिये भी ठीक है; मैं सारे समय तुम्हारे साथ रहूंगी, तुम्हारे प्रयास में सहायता करूंगी और तुम्हारे प्रदर्शन का आनंद लूंगी।

मेरे आशीर्वाद सहित।

(१६-१०-१९५९)

*

ऐथलेटिक्स प्रतियोगिता १९६०

सभी मेरी शक्ति, मेरी सहायता और मेरे आशीर्वाद के साथ, आनंद और विश्वास के साथ, अपना अच्छे-से-अच्छा करें।

(२१-८-१९६०)

*

ऐथलेटिक्स प्रतियोगिता १९६२

पहला होने की महत्त्वाकांक्षा के स्थान पर यथासंभव अच्छे-से-अच्छा करने का संकल्प करो।

सफलता की कामना के स्थान पर प्रगति के लिये उत्कंठा रखो।

ख्याति के लिये उत्सुकता के स्थान पर पूर्णता के लिये अभीप्सा करो।

शारीरिक शिक्षण उच्चतर और अधिक अच्छे जीवन के लिये आवश्यक सभी चीजें—चेतना और संयम, अनुशासन और प्रभुत्व, आदि, लाने के लिये है।

ये सब बातें मन में रखो, सचाई के साथ अभ्यास करो और तुम अच्छे ऐथलीट बन जाओगे; सच्चे मनुष्य होने के रास्ते पर यह पहला कदम है।

आशीर्वाद।

(१५-७-१९६२)

*

ऐथलेटिक्स प्रतियोगिता १९६३

उन सबसे जो अपने शरीर को 'दिव्य जीवन' के लिये उपयुक्त बनाना चाहते हैं, मैं कहती हूं, ऐथलेटिक्स प्रतियोगिता के इस अच्छे अवसर को न खोओ और यह कभी न भूलो कि हम जो कुछ करें उसमें पूर्णता के लिये अभीप्सा करते रहें। क्योंकि पूर्णता की यह चाह ही, सभी कठिनाइयों के बावजूद, हमें 'लक्ष्य' तक ले जायेगी।

आशीर्वाद।

(२१-८-१९६३)

*

ऐथलेटिक्स प्रतियोगिता १९६४

हम एक नयी दुनिया की नींव रखने के लिये यहां हैं।

ऐथलेटिक्स में सफल होने के लिये जो गुण और कौशल चाहिये, वे सब ठीक वही हैं जो नयी शक्ति को ग्रहण करने और अभिव्यक्त करने के लिये भौतिक मनुष्य में होने चाहिये।

मैं आशा करती हूं कि तुम इस ज्ञान और इस भावना के साथ इस ऐथलेटिक्स प्रतियोगिता में उतरोगे और उसे सफलता से पूरा करोगे।

मेरे आशीर्वाद तुम्हारे साथ हैं।

(२४-८-१९६४)

*

24-8-64

We are here to lay the foundations of a new world.

All the virtues and skills required to succeed in athletics are exactly those the physical man must have to be fit for receiving and manifesting the new force.

I expect that with this knowledge and in this spirit you will enter this athletic competition and go through it successfully.

My blessings are with you.

*

जिम्नास्टिक्स प्रतियोगिता १९६४

१८ अक्तूबर एक अच्छा दिन है।
जिम्नास्टिक्स एक अच्छी कला है।
और तुम एक अच्छे जिम्नास्ट होगे।
आशीर्वाद।

(१८-१०-१९६४)

प्रतियोगिताएं १९६६

तुम्हें यह याद दिलाना ज्यादा अच्छा रहेगा कि हम यहां एक विशेष काम के लिये हैं, एक ऐसे काम के लिये जो और कहीं नहीं किया जाता।

हम परम चेतना, वैश्व चेतना के संपर्क में आना चाहते हैं, हम उसे अपने अंदर उतार लाना और अभिव्यक्त करना चाहते हैं। लेकिन उसके लिये हमारी नींव बहुत ठोस होनी चाहिये; हमारी नींव है हमारी भौतिक सत्ता, हमारा शरीर। इसलिये हमें एक ऐसा शरीर बनाना चाहिये जो ठोस, स्वस्थ, सहनशील, कुशल, फुरतीला और मजबूत, हर चीज के लिये तैयार हो। शरीर को तैयार करने के लिये शारीरिक व्यायाम से अच्छा और कोई तरीका नहीं है: खेलकूद, ऐथलेटिक्स, जिम्नास्टिक्स तथा अन्य क्रीड़ाएं शरीर को विकसित करने और मजबूत बनाने के लिये सबसे अच्छे उपाय हैं।

इसलिये मैं तुम्हें आज से शुरू होनेवाली प्रतियोगिताओं में पूरे दिल से, पूरी ऊर्जा और पूरे संकल्प के साथ भाग लेने का निमंत्रण देती हूं।

(१-४-१९६६)

*

प्रतियोगिताएं १९६७

शारीरिक प्रशिक्षण और खेलकूद के अवसर पर :

मुझे फिर से एक बार कहना चाहिये कि आध्यात्मिक जीवन का अर्थ 'भौतिक द्रव्य' का तिरस्कार नहीं, उसे दिव्य बनाना है। हम शरीर को त्यागना नहीं, उसका रूपांतर करना चाहते हैं। इसके लिये शारीरिक प्रशिक्षण सबसे अधिक सीधा प्रभाव करनेवाले साधनों में से एक है।

इसलिये मैं आज से शुरू होनेवाले कार्यक्रम में उत्साह और अनुशासन के साथ भाग लेने के लिये निमंत्रण देती हूं—अनुशासन, इसलिये क्योंकि वह सुव्यवस्था की पहली अनिवार्य शर्त है; उत्साह, इसलिये क्योंकि वह सफलता की आवश्यक शर्त है।

आशीर्वाद।

(१-४-१९६७)

*

1.4.68

The first condition for acquiring power is to be obedient.

The body must learn to obey before it can manifest power; and physical education is the most thorough disciplin for the body.

So be eager and sincere in your efforts for physical education and you will acquire a powerful body.

My blessings are with you

M.

प्रतियोगिताएं १९६८

शक्ति पाने के लिये पहली शर्त है आज्ञाकारिता।

शक्ति अभिव्यक्त करने से पहले शरीर को आज्ञा मानना सीखना चाहिये; और शारीरिक प्रशिक्षण शरीर के लिये सबसे बढ़िया अनुशासन है।

अतः शारीरिक प्रशिक्षण के लिये उत्सुक और सच्चे होओ और तुम शक्तिशाली शरीर पा लोगे।

मेरे आशीर्वाद तुम्हारे साथ हैं।

(१-४-१९६८)

*

प्रतियोगिताएं १९६९

इस वर्ष के आरंभ से एक नयी चेतना, नयी सृष्टि, अतिमानव की तैयारी करने के लिये धरती पर काम में लगी है। इस सृष्टि के संभव होने के लिये मानव शरीर को बनानेवाले पदार्थ में एक बहुत बड़ा परिवर्तन जरूरी है, उसे चेतना के प्रति अधिक ग्रहणशील और उसकी क्रिया के आगे अधिक लचीला होना चाहिये।

यही वे गुण हैं जिन्हें तुम शारीरिक शिक्षण के द्वारा पा सकते हो।

तो, अगर हम इस तरह के परिणाम को नजर में रखते हुए ऐसे अनुशासन का पालन करें तो निश्चित ही बहुत अधिक मजेदार परिणाम आयेंगे।

सबको प्रगति और उपलब्धि के लिये मेरे आशीर्वाद।

(१-४-१९६९)

*

प्रतियोगिताएं १९७०

हम भगवान् को अपने विकसित होते हुए शरीर के कौशल की भेंट से बढ़कर और कौन-सी भेंट दे सकते हैं?

आओ, पूर्णता के लिये किये गये प्रयासों को निवेदित कर दें, इससे शारीरिक शिक्षण हमारे लिये एक नया अर्थ और बहुत अधिक मूल्य पा लेगा।

संसार एक नयी सृष्टि के लिये तैयारी कर रहा है, आओ, हम भौतिक रूपांतर के मार्ग पर अपने शरीर को अधिक बलवान्, अधिक ग्रहणशील और अधिक लचीला बनाकर शारीरिक प्रशिक्षण के द्वारा सहायता करें।

(१-४-१९७०)

*

प्रतियोगिताएं १९७१

हम उन "दिव्य मुहूर्त्तों" में से एक में हैं जब पुरानी नींवें हिल जाती हैं और बड़ी अस्त-व्यस्तता होती है; लेकिन जो आगे छलांग लगाना चाहते हैं उनके लिये यह एक अद्‌भुत अवसर है, प्रगति की संभावना अपवादित रूप से बहुत अधिक है।

क्या तुम उनमें से न होगे जो इसका लाभ उठायेंगे ?

तुम्हारे शरीर इस महान् परिवर्तन के लिये शारीरिक प्रशिक्षण द्वारा तैयार हों!

सबको मेरे आशीर्वाद।

(१-४-१९७१)

*

प्रतियोगिताएं १९७२

आओ, इस वर्ष हम अपने शरीर के सभी क्रिया-कलाप को श्रीअरविन्द के प्रति अर्पित कर दें।

(१-४-१९७२)

शारीरिक व्यायामों के वार्षिक प्रदर्शन के लिये संदेश

प्रदर्शन १९६०

शाबाश ! उन सबको जिन्होंने कल[१] के प्रदर्शन में भाग लिया था, मेरी ओर से शाबाशी ! यह बहुत बढ़िया था। हर एक को मेरी बधाइयां। सब कुछ अच्छी तरह आयोजित था और अच्छी तरह प्रस्तुत किया गया था।

सभी को प्रेम और आशीर्वाद।

(नवम्बर, १९६०)

*

प्रदर्शन १९६३

कल मैं सारी शक्ति और समस्त चेतना के साथ तुम्हारी सहायता करने और तुम्हें सहारा देने के लिये सारे समय तुम्हारे साथ थी, मैं जानती थी कि वर्षा एक ऐसी परीक्षा होगी जिसमें उत्तीर्ण होना ही होगा।[२]

तुमने उसमें विजय पायी है और इसके लिये मैं बहुत खुश हूं। सभी को मेरे पूर्ण संतोष के बारे में बता दो।

मेरे आशीर्वाद के साथ।

(३-१२-१९६३)

*

प्रदर्शन १९६४

उन सबको मेरे आशीर्वाद जो प्रदर्शन में भाग लेनेवाले हैं ताकि वे अपनी-अपनी क्षमता की चोटी पर रह सकें।

(२-१२-१९६४)

*

प्रदर्शन १९६६

साहसी, सहनशील और जागरूक बनो; और सबसे बढ़कर, पूरी ईमानदारी के साथ सच्चे बनो।

तब तुम सभी कठिनाइयों का सामना कर सकोगे और विजय तुम्हारी होगी।

(२-१२-१९६६)

*

[१] मुख्य प्रदर्शन के पूर्वाभ्यास में।

[२] प्रदर्शन के समय बहुत जोर से वर्षा हुई थी।

The prayer of the cells in the body.

Now that, by the effect of the Grace, we are slowly emerging out of inconscience and waking to a conscious life, an ardent prayer rises in us for more light, more consciousness,

"O Supreme Lord of the universe, we implore Thee, give us the strength and the beauty, the harmonious perfection needed to be Thy divine instruments upon earth."

M.—

प्रदर्शन १९६७

शरीर के कोषाणुओं की प्रार्थना

अब जब कि हम 'कृपा' के प्रभाव से धीरे-धीरे निश्चेतना में से बाहर निकल रहे हैं और सचेतन जीवन की ओर जाग रहे हैं तो हमारे अंदर से अधिक प्रकाश और अधिक चेतना के लिये एक उत्कट प्रार्थना उठती है :

"हे सृष्टि के परम प्रभु, हम अनुनय करते हैं, हमें वह बल और सुन्दरता, सामंजस्यपूर्ण पूर्णता प्रदान कर जो धरती पर तेरे दिव्य यंत्र बनने के लिये जरूरी है।"

(२-१२-१९६७)

सामान्य संदेश और पत्र

अपने शरीर के 'स्वामी' बन जाओ—यह तुम्हें स्वाधीनता की ओर ले जायेगा।

*

शरीर की चेतना को विकसित करने के लिये शारीरिक-शिक्षण सबसे अच्छा उपाय है और शरीर जितना अधिक सचेतन होगा, उतना ही अधिक उन भागवत शक्तियों के प्रति ग्रहणशील बन सकेगा जो उसे रूपांतरित करने और एक नयी जाति को जन्म देने के लिये काम कर रही हैं।

*

(जिम्नास्टिक्स के लिये एक कमरे के बारे में)

क्या इस कमरे में हवा और रोशनी हैं ? हवा और रोशनी के बिना की गयी कसरत फायदे की जगह नुकसान ज्यादा पहुंचाती है।

(५-१०-१९४५)

*

सीखने के लिये यह एक अत्यंत आवश्यक और अनिवार्य पाठ है। कोई उपयोगी काम सहयोग की भावना और खेल के अनुशासन के बिना नहीं हो सकता।

(१५-१-१९४७)

*

आजकल जो खेल-कूद की प्रतियोगिताएं हो रही हैं इन्हें हमें किस भाव से लेना चाहिये और इनमें कैसे भाग लेना चाहिये ?

संलग्न पुस्तिका[१] को पढ़ो—इससे तुम्हें उत्तर मिल जायेगा और साथ ही पहले 'बुलेटिन' में श्रीअरविन्द का संदेश[२] पढ़ो।

(२-६-१९४९)

[१] 'कोड ऑफ स्पोर्ट्समैनशिप'

[२] श्रीअरविन्द सेंटिनरी वाल्यूम, खंड १६, पृ० १-४।

अगर मैं तुम्हारी बात को ठीक समझी हूं तो तुम यह कहना चाहते हो कि तुम जो शारीरिक क्रिया कर रहे हो उसपर एकाग्र होने से मानसिक क्रिया-कलाप अपने-आप बंद हो जाते हैं और इससे शरीर की क्षमता बढ़ती है। यह सच है बशर्ते कि एकाग्रता पूर्ण हो जो विरल ही होती है।

आशीर्वाद।

(२-६-१९४९)

(एक कप्तान ने दस-ग्यारह वर्ष के बच्चे को ऐथलेटिक्स सिखाना शुरू किया था। उसने माताजी से पूछा कि क्या उसे अपने क्रिया-कलाप की योजना बनानी चाहिये। माताजी का उत्तर :)

योजना अच्छी चीज है, लेकिन बच्चों की अपेक्षा तुम्हारे लिये ज्यादा अच्छी है। मेरा मतलब यह है कि तुम्हें ठीक-ठीक पता होना चाहिये कि तुम क्या करना चाहते हो और तुम्हें अपने काम की व्यवस्था करनी चाहिये। लेकिन अपनी पद्धति को बहुत कठोरता के साथ लागू मत करो क्योंकि बच्चे अपनी गतिविधि में स्वतंत्र और सहज होना चाहते हैं और यह स्वतंत्रता उनके विकास के लिये अच्छी है।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद।

(६-६-१९५०)

*

सोवियेट जिम्नास्ट्स दल[१] से

भाइयो, हम तुम्हारा अभिवादन करते हैं, हम सब यहां पर जिस शारीरिक पूर्णता के लिये अभीप्सा करते हैं उसके मार्ग पर तुम इतने आगे हो।

हम अपने बीच, आश्रम में, तुम्हारा स्वागत करते हैं। हमें विश्वास है कि आज महान् मानव परिवार की एकता की ओर एक और कदम उठाया गया है।

(३-४-१९५६)

*

अपने अंदर संपूर्ण समन्वय का निर्माण करो ताकि जब समय आये तो 'संपूर्ण सौंदर्य' अपने-आपको तुम्हारे द्वारा प्रकट कर सके।

(१९५९)

*

[१] सोवियेट जिम्नास्ट्स को संदेश जिन्होंने २ और ३ अप्रैल १९५६ को आश्रम के 'स्पोर्ट्स ग्राउंड' में प्रदर्शन दिये थे।

हठयोग के बारे में

हमने अपने अनुभव से जाना है कि किसी विशेष व्यायाम-पद्धति पर ही एकमात्र यौगिक व्यायाम की मुहर नहीं लगायी जा सकती और यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि केवल इन्हीं कसरतों में भाग लेने से स्वास्थ्य लाभ होगा क्योंकि ये यौगिक कसरतें हैं।

अपनी आवश्यकताओं और क्षमताओं के अनुकूल कोई भी युक्तियुक्त व्यायाम-पद्धति व्यायाम करनेवाले को अपना स्वास्थ्य सुधारने में सहायता देगी। और फिर मनोवृत्ति का महत्त्व ज्यादा है। यौगिक वृत्ति से अपनायी गयी, कोई भी सुनियोजित वैज्ञानिक रूप से व्यवस्थित व्यायाम-पद्धति यौगिक कसरत हो सकती है और उसमें भाग लेनेवाला शारीरिक स्वास्थ्य और नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान की दृष्टि से पूरा लाभ उठा सकता है।

('बुलेटिन', अप्रैल १९५९)

*

मैं केवल सुन्दर होना चाहता हूं।

सचाई के साथ शारीरिक व्यायाम करो और तुम सफल हो जाओगे।

(१९६५)

*

मुझे इस बात में बुद्धिमानी नहीं मालूम होती कि छः वर्ष से कम उम्र के बच्चों को समुद्र-स्नान के लिये ले जाया जाये; उनके लिये समुद्र का पानी बहुत तेज होता है।

(८-२-१९६६)

*

(एक कप्तान ने लिखा कि उसने बच्चों से कहा है कि अगर वे अपने दल के नियंत्रण में रहेंगे तो माताजी प्रसन्न होंगी। माताजी ने लिखा :)

तुम्हारा उत्तर ठीक है।

अगर कोई नियंत्रण में रहने की क्षमता नहीं रखता हो तो वह जीवन में कोई भी चिरस्थायी मूल्य की चीज करने में असमर्थ होता है।

(१६-२-१९६७)

*

(एक कप्तान ने माताजी को लिखा कि उसे ऐसा लगता है कि वह शारीरिक और मानसिक ढंग से "पिट-सा" गया है। माताजी ने उत्तर दिया :)

चिंता मत करो—कुछ अच्छी और नियंत्रित कसरतों से और मेरे आशीर्वाद के साथ सब ठीक हो जायेगा।

प्रेम और आशीर्वाद।

(१४-३-१९६७)

*

तीन बार मेरे दाहिने घुटने में चोट लगी है और तीनों बार मैं ठीक हो गया।

माताजी, यह वर दीजिये कि मुझे फिर से चोट न लगे, और मैं अपने दल के काम से वंचित न रहूं।

अधिक सचेतन होओ तो तुम्हें फिर से चोट न लगेगी।

(८-७-१९६८)

*

माताजी, मैंने देखा है कि मैं अपने भौतिक शरीर को उसकी वास्तविक क्षमता से जरा ज्यादा अच्छा करने के लिये बाधित नहीं कर पाता। मैं जानना चाहूंगा कि मैं उसपर कैसे जोर डाल सकता हूं। लेकिन माताजी, क्या अपने शरीर पर जोर डालना ठीक है ?

नहीं।

शरीर प्रगति करने के योग्य है और धीरे-धीरे वह जो चीजें नहीं कर सकता था उन्हें करना सीख सकता है। लेकिन उसकी प्रगति की क्षमता प्राण की प्रगति की कामना और मन के प्रगति के संकल्प की अपेक्षा बहुत धीमी है। और अगर प्राण और मन को क्रिया के स्वामी के रूप में छोड़ दिया जाये तो वे शरीर को परेशान कर मारेंगे, उसको नष्ट कर देंगे और स्वास्थ्य बिगाड़ देंगे।

इसलिये तुम्हें धीरज रखना चाहिये और शरीर की लय का अनुसरण करना चाहिये; वह ज्यादा समझदार है और जानता है कि वह क्या कर सकता है और क्या नहीं कर सकता।

स्वभावतः, तामसिक शरीर भी होते हैं और उन्हें प्रगति करने के लिये कुछ प्रोत्साहन की जरूरत होती है।

परंतु हर चीज में, हर हालत में अपना संतुलन बनाये रखना चाहिये।

आशीर्वाद।

(१३-१०-१९६९)

माताजी, हमें प्रतियोगिताओं और प्रदर्शनों में क्यों भाग लेना चाहिये ?

क्योंकि यह ज्यादा प्रयास करने का और इसलिये तेजी से प्रगति करने का अवसर होता है।

आशीर्वाद।

(१६-११-१९६९)

(खेलकूद में दुर्घटनाओं के बारे में)

मुझे नहीं लगता कि यहां बाहर की अपेक्षा ज्यादा दुर्घटनाएं होती हैं। निश्चय ही यहां कम होनी चाहिये। लेकिन उसके लिये, यहां रहनेवाले बच्चों को चेतना में अधिक विकसित होने की कोशिश करनी चाहिये (यह कहीं और की अपेक्षा यहां ज्यादा सरल है)। लेकिन, दुर्भाग्यवश, उनमें से बहुत कम यह करने का कष्ट उठाते हैं। वे मिला हुआ सुअवसर खो बैठते हैं।

(२२-१२-१९६९)

माताजी, खेल-कूद और शारीरिक प्रशिक्षण में क्या भेद है ?

सभी क्रीड़ाएं, प्रतियोगिताएं, साम्मुख्य आदि, वे सब चीजें जो प्रतियोगिता पर आधारित हैं और जिनके अंत में स्थान और इनाम मिलते हैं, वे सब खेल-कूद (स्पोर्ट्स) हैं।

शारीरिक शिक्षण का मतलब है सब कसरतों का मेल जिसका उद्देश्य है शरीर को स्वस्थ रखना और विकसित करना।

स्वभावतः, हमारे यहां दोनों साथ-साथ हैं। लेकिन यह विशेष रूप से इसलिये है क्योंकि मनुष्य को, विशेषतः छोटी आयु में, अभीतक प्रयास करने के लिये कुछ उत्तेजना की जरूरत होती है।

आशीर्वाद।

(१४-१-१९७०)

*

खेल-कूद शरीर को 'रूपांतर' के लिये तैयार करने में सहायता देते हैं।

(३०-९-१९७२)

*

(खेल-कूद के साम्मुख्य में जीतनेवाले को जो कार्ड मिलता है उसपर अंकित चित्र के बारे में)

जीतनेवाले के कार्ड पर जो चित्र बना है वह एक यूनानी कांस्य मूर्ति पर आधारित है और यह हमारे इस संकल्प को प्रकट करता है कि हम शारीरिक शक्ति का उपयोग आवेगों के काले सांड पर प्रभुत्व पाने के लिये करेंगे।

*

(खेल-कूद के साम्मुख्य में दूसरा होनेवाले को जो कार्ड दिया जाता है उसपर जो रेखाचित्र है उसके बारे में)

दूसरा होनेवाले के कार्ड पर रोदें के 'विचारक' का मतलब है ज्यादा अच्छे परिणाम के लिये साधन को पूर्ण बनाने पर मनन की आवश्यकता।

*

(जिम्नास्टिक्स प्रतियोगिता पुरस्कार के कार्ड पर गुस्ताव मोरो के 'ईडिपस और स्फिंक्स' के रेखाचित्र के बारे में)

संसार की पहेली

अगर तुम से हल कर सको तो अमर हो जाओगे, लेकिन असफल रहे तो मर जाओगे।

नारियों से—उनके शरीर के बारे में

(कुछ प्रश्नों के उत्तर)

१. हे भगवान्, क्या तुम यह नहीं भूल सकते कि तुम लड़का हो या लड़की और मनुष्य बनने की कोशिश नहीं कर सकते ?

२. प्रत्येक विचार (या विचारों का दर्शन) अपने काल और देश में सच्चा होता है। लेकिन अगर वह ऐकांतिक होना चाहे या अपना समय पूरा हो जाने पर भी बचे रहने की कोशिश करे, तो वह सच्चा नहीं रहता।

शारीरिक शिक्षण के उद्देश्य से अपने दल के बच्चों के साथ व्यवहार करते समय बालिकाओं के विषय में कुछ समस्याएं हमारे सामने आ खड़ी होती हैं। उनमें से अधिकांश ऐसे सुझाव हैं जो उन्हें अपने मित्रों से, बड़ी लड़कियों से, माता-पिता या अभिभावकों और डॉक्टरों से मिलते हैं। कृपा कर नीचे लिखे प्रश्नों पर कुछ प्रकाश डालिये ताकि अपने उत्तरदायित्वों को अधिक योग्यता के साथ पूरा करने के लिये हमें अधिक ज्ञान प्राप्त हो।

१. अपने मासिक काल के विषय में किसी लड़की का मनोभाव क्या होना चाहिये ?

२. क्या अपने मासिक काल में किसी लड़की को अपने शारीरिक शिक्षण के सामान्य कार्यक्रम में भाग लेना चाहिये ?

३. कुछ लड़कियां अपने मासिक काल में क्यों पूर्णतः दुर्बल हो जाती हैं तथा अपनी पीठ के निचले भाग में और पेट में दर्द का अनुभव करती हैं जब कि औरों को कोई असुविधा नहीं होती या बहुत मामूली-सी असुविधा होती है ?

४. कोई लड़की अपने मासिक काल के दुःख-दर्द को कैसे जीत सकती है ?

५. क्या आपकी राय में लड़कों और लड़कियों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यायाम होने चाहिये ? क्या तथाकथित पुरुषोचित खेलकूदों का अभ्यास करने से किसी लड़की के जननेन्द्रिय आदि अंगों को हानि पहुंच सकती है ?

६. क्या कठिन व्यायामों का अभ्यास करने से किसी लड़की की आकृति बदल जायेगी और वह एक पुरुष की आकृति की तरह मांसल हो जायेगी और इस कारण वह लड़की कुरूप दिखायी देने लगेगी ?

७. यदि कोई लड़की विवाह करना चाहे और पीछे उसे बच्चा हो तो क्या कठिन व्यायामों की कारण उसे बच्चा होते समय अधिक कठिनाइयां होंगी ?

८. नारीत्व की दृष्टि से बालिकाओं के लिये शारीरिक शिक्षण का क्या आदर्श होना चाहिये ?

९. हमारी नवीन जीवन-पद्धति के अंदर पुरुष और स्त्री का क्या मुख्य कार्य होना चाहिये ? उनमें परस्पर क्या संबंध होगा ?

१०. नारी के शारीरिक सौंदर्य का क्या आदर्श होना चाहिये ?

तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर देने से पहले मैं तुमसे कुछ बातें कहना चाहती हूं जो निस्संदेह तुम जानते हो, पर तुम यदि यह जानना चाहते हो कि श्रेष्ठ जीवन कैसे यापन किया जाये तो तुम्हें उन्हें कभी भूलना नहीं चाहिये।

यह सच है कि हम, अपने आंतरिक स्वरूप में, एक आत्मा हैं, सजीव अंतरात्मा हैं जो अपने अंदर भगवान् को वहन करती है, और भगवान् बनने की, उन्हें पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करने की अभीप्सा करती हैं; वैसे ही यह भी सच है कि, कम-से-कम इस क्षण, अपनी अत्यंत स्थूल बाह्य सत्ता में, अपने शरीर में, हम अब भी एक पशु, स्तनपायी जीव हैं, निस्संदेह एक उच्चतर जाति के हैं, पर पशुओं जैसे ही निर्मित हैं और पशु-प्रकृति के नियमों के ही अधीन हैं।

तुम लोगों को निश्चय ही यह पढ़ाया गया होगा कि स्तनपायी जीवों की एक विशेषता यह है कि उनकी मादा गर्भ-धारण करती है और अपने गर्भस्थ बच्चे को तबतक वहन करती और निर्मित करती है जबतक वह क्षण नहीं आ जाता जब बच्चा पूर्ण आकार प्राप्त करके अपनी माता के शरीर से बाहर निकल सके और स्वतंत्र रूप से जीवन यापन करने लगे।

इस कार्य को दृष्टि में रखकर प्रकृति माता ने स्त्रियों को खून की कुछ अतिरिक्त मात्रा प्रदान की है जो बालक के निर्माण के लिये व्यवहृत होती है। परंतु इस अतिरिक्त रक्त का उपयोग करना सर्वदा आवश्यक नहीं होता, इसलिये जब कोई बच्चा पैदा होनेवाला नहीं होता तब रक्त की अधिकता और जमाव से बचने के लिये अतिरिक्त रक्त को निकाल फेंकने की आवश्यकता होती है। बस, यही है मासिक धर्म का कारण। यह एक सीधी-सी स्वाभाविक क्रिया है, जिस पद्धति से नारी का निर्माण हुआ है उसीका एक परिणाम है और शरीर की अन्य क्रियाओं की अपेक्षा इसे अधिक महत्त्व देने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह कोई रोग नहीं है और किसी दुर्बलता या सच्ची असुविधा का कारण नहीं बन सकती। अतएव एक स्वाभाविक स्थिति में रहनेवाली स्त्री को, ऐसी स्त्री को जो अनावश्यक ढंग से नर्म तबियत की न हो, उसे केवल स्वच्छता-संबंधी आवश्यक सावधानी बरतनी चाहिये, इसके विषय में कभी जरा भी सोचना नहीं चाहिये और अपने कार्यक्रम में कोई भी परिवर्तन न कर, नित्य की तरह अपना दैनिक जीवन बिताना चाहिये। यही अच्छा स्वास्थ्य बनाये रखने का सबसे उत्तम उपाय है।

इसके अतिरिक्त, यह स्वीकार करने पर भी कि जहांतक हमारे शरीर का प्रश्न है हम अब भी भयंकर रूप से पशुत्व से संबंध रखते हैं, हमें यह सिद्धांत नहीं बना लेना चाहिये कि यह पशु-अंग, जिस तरह हमारे लिये अत्यंत ठोस और अत्यंत सत्य है उसी तरह वह एकमात्र वस्तु है जिसकी अधीनता स्वीकार करने के लिये हम बाध्य हैं और जिसे हमें अपने ऊपर शासन करने देना चाहिये। दुर्भाग्यवश जीवन में अधिकतर यही होता है और निश्चय ही मनुष्य अपनी भौतिक सत्ता के प्रभु की अपेक्षा कहीं अधिक गुलाम हैं। परंतु इसके विपरीत ही होना चाहिये क्योंकि व्यक्तिगत जीवन का सत्य एकदम दूसरी चीज है।

हमारे अंदर एक विवेकपूर्ण संकल्प-शक्ति है जिसे कम या अधिक बोध प्राप्त है और जो हमारे चैत्य पुरुष का प्रथम यंत्र है। इसी युक्तिपूर्ण संकल्प-शक्ति का हमें उपयोग करके यह सीखना चाहिये कि एक पशु-मानव की तरह नहीं, वरन् सच्चे मनुष्य की तरह, देवत्व के उम्मीदवार की तरह कैसे जीना चाहिये।

और इस सिद्धि की ओर जाने का पहला पग है इस शरीर का एक अक्षम दास न रह, इसका प्रभु बन जाना।

इस लक्ष्य को प्राप्त करने में अत्यंत उपयोगी सहायता देनेवाली चीज है शारीरिक साधना अर्थात् व्यायाम।

लगभग एक शताब्दी से उस ज्ञान का पुनरुद्धार करने का प्रयास हो रहा है जिसे प्राचीन युगों में बहुत महत्त्व दिया जाता था और जिसे लोग अंशतः भूल गये हैं। अब यह पुनः जाग्रत् हो रहा है और आधुनिक विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ यह भी एक नवीन विस्तार और महत्त्व को प्राप्त करता जा रहा है। यह ज्ञान स्थूल शरीर तथा उस असाधारण प्रभुत्व की चर्चा करता है जो प्रबुद्ध और विधिबद्ध शारीरिक शिक्षण की सहायता से शरीर के ऊपर प्राप्त किया जा सकता है।

यह पुनरुद्धार एक नयी शक्ति और ज्योति की क्रिया का फल है जो निकट भविष्य में सिद्ध होनेवाले महान् रूपांतर की सिद्धि के योग्य शरीर को तैयार करने के लिये पृथ्वी पर फैल गयी है।

हमें इस शारीरिक शिक्षण को प्रधान महत्त्व देने में हिचकिचाना नहीं चाहिये जिसका उद्देश्य ही है हमारे शरीर को इस योग्य बना देना कि वह पृथ्वी पर अभिव्यक्त होने का प्रयास करनेवाली नवीन शक्ति को ग्रहण और प्रकट करने लगे।

इतना कहकर, अब मैं उन प्रश्नों का उत्तर देती हूं जिन्हें तुमने मेरे सामने रखा है।

१. अपने मासिक काल के प्रति किसी लड़की का मनोभाव क्या होना चाहिये ?

वही मनोभाव होना चाहिये जो तुम किसी एकदम स्वाभाविक और अपरिहार्य वस्तु के

प्रति रखती हो। इसे यथासंभव कम-से-कम महत्त्व दो और इसके कारण कोई परिवर्तन किये बिना, अपने सामान्य जीवन को नियमित रूप से चलाती रहो।

२. क्या अपने मासिक काल में किसी लड़की को अपने शारीरिक शिक्षण के सामान्य कार्यक्रम में भाग लेना चाहिये?

यदि शारीरिक व्यायाम करने का उसे अभ्यास हो तो उसे निश्चय ही इस कारण उसे बंद नहीं करना चाहिये। यदि कोई अपना सामान्य जीवन बिताने का अभ्यास सर्वदा बनाये रखे तो बहुत शीघ्र उसे ऐसी आदत पड़ जायेगी कि उसे पता भी नहीं चलेगा कि उसे मासिक हो रहा है।

३. कुछ लड़कियां अपने मासिक काल में क्यों पूर्णतः दुर्बल हो जाती हैं तथा अपनी पीठ के निचले भाग में और पेट में दर्द का अनुभव करती हैं जब कि दूसरों को कोई असुविधा नहीं होती या बहुत मामूली-सी असुविधा होती है?

यह प्रश्न व्यक्ति के स्वभाव तथा अधिकांशतः शिक्षा का है। यदि किसी लड़की को अपने बचपन से ही यह अभ्यास हो गया हो कि वह बिलकुल मामूली तकलीफ की ओर भी बहुत अधिक ध्यान देती हो और अत्यंत तुच्छ असुविधा के लिये भी बहुत अधिक हाय-तौबा मचाती हो तो वह सहन करने की सारी क्षमता खो बैठेगी और कोई भी चीज उसके दुर्बल होने का कारण बन जायेगी। विशेषकर यदि मां-बाप अपने बच्चों की प्रतिक्रियाओं के विषय में बहुत शीघ्र चिंतित हो उठें तब तो उसका असर और भी बुरा होगा। अधिक बुद्धिमानी की बात यही है कि बच्चों को थोड़ा बलशाली और सहनशील होने की शिक्षा दी जाये और उन सब छोटी-मोटी असुविधाओं और दुर्घटनाओं के प्रति कम-से-कम दुश्चिंता करना सिखाया जाये जिनसे जीवन में सर्वदा बचा नहीं जा सकता। शांत सहिष्णुता का भाव ही सबसे उत्तम मनोभाव है जिसे मनुष्य स्वयं अपने लिये धारण कर सकता है और अपने बच्चों को भी सिखा सकता है।

यह बिलकुल जानी हुई बात है कि यदि तुम किसी कष्ट की आशा करो तो वह अवश्य तुम्हें प्राप्त होगा और, एक बार यदि वह आ जाये, यदि तुम उसपर अधिक ध्यान दो तो वह अधिकाधिक बढ़ता जायेगा और जबतक कि वह, जैसा कि साधारणतया उसे नाम दिया जाता है, "असह्य" ही न हो उठे, यद्यपि थोड़ी-सी संकल्प-शक्ति और साहस का प्रयोग करने पर ऐसा कोई दुःख-दर्द नहीं जिसे सहा न जा सके।

४. कोई लड़की अपने मासिक काल के दुःख-दर्द को कैसे जीत सकती है?

कुछ व्यायाम ऐसे हैं जो पेट को मजबूत बनाते तथा रक्त प्रवाह को बढ़ाते हैं। इन व्यायामों को नियमित रूप से करते रहना चाहिये और दर्द के दूर हो जाने पर भी उन्हें जारी रखना चाहिये। बड़ी उम्र की लड़कियों को इस प्रकार का दर्द प्रायः पूर्ण रूप से काम-वासना के कारण होता है। यदि हम वासनाओं से मुक्त हो जायें तो हम दर्द से भी मुक्त हो जाते हैं। वासनाओं से मुक्त होने के दो उपाय हैं; पहला है प्रचलित उपाय, वासना की तृप्ति (अथवा यों कहें कि इसे यह नाम दिया जाता है, क्योंकि वासना के राज्य में "तृप्ति" नाम की कोई चीज है ही नहीं)। इसका अर्थ है साधारण मानव-पशु का जीवन बिताना, विवाह, संतान, और बाकी सभी चीजें।

निश्चय ही, एक दूसरा पथ भी है, उससे कहीं अधिक अच्छा पथ है,—वह है संयम, प्रभुत्व, रूपांतर का पथ; यह कहीं अधिक महान् और अधिक प्रभावशाली है।

५. क्या आपकी राय में लड़कों और लड़कियों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यायाम होने चाहियें? क्या तथाकथित पुरुषोचित खेल-कूद का अभ्यास करने से लड़की के जननेंद्रिय आदि अंगों को हानि पहुंच सकती है?

सभी प्रसंगों में, जैसे लड़कों के लिये वैसे ही लड़कियों के लिये, व्यायामों को प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति और क्षमता के अनुसार क्रमबद्ध कर देना चाहिये। यदि कोई दुर्बल छात्र एकाएक कठिन और भारी व्यायाम करने की कोशिश करे तो वह अपनी मूर्खता के कारण दुःख भोग सकता है। परंतु, यदि बुद्धिमानी के साथ और धीरे-धीरे शिक्षा दी जाये तो लड़कियां और लड़के दोनों ही सब प्रकार के खेलों में भाग ले सकते हैं और इस प्रकार अपनी शक्ति और स्वास्थ्य को बढ़ा सकते हैं।

बलवान् और स्वस्थ बनने से शरीर को कभी कोई हानि नहीं पहुंच सकती, भले ही वह शरीर स्त्री का ही क्यों न हो!

६. क्या कठिन व्यायाम का अभ्यास करने से किसी लड़की की आकृति बदल जायेगी और वह एक पुरुष की आकृति की तरह मांसल हो जायेगी और इस कारण वह लड़की कुरूप दिखायी देने लगेगी?

दुर्बलता और क्षीणता भले ही किसी विकृत मन की दृष्टि में आकर्षक प्रतीत हों, पर यह प्रकृति का सत्य नहीं है और न आत्मा का ही सत्य है।

यदि तुमने कभी व्यायाम करनेवाली स्त्रियों के चित्रों को देखा हो तो तुम्हें पता चलेगा कि उनका शरीर कितना पूर्ण सुंदर होता है; और कोई भी व्यक्ति यह अस्वीकार नहीं कर सकता कि उनका शरीर मांसल होता है।

७. यदि कोई लड़की विवाह करना चाहे और पीछे उसे बच्चा हो तो क्या कठिन व्यायामों के कारण उसे बच्चा होते समय अधिक कठिनाइयां होंगी ?

मैंने ऐसा कोई उदाहरण कभी नहीं देखा। बल्कि इसके विपरीत, जो स्त्रियां कठिन व्यायामें करने की शिक्षा प्राप्त करती हैं और सुदृढ़ मांसल शरीरवाली होती हैं वे बच्चा धारण करने और पैदा करने की कठिन परीक्षा में कहीं अधिक आसानी और कम दर्द के साथ उत्तीर्ण होती हैं।

मैंने अफ्रीका की उन स्त्रियों की एक विश्वसनीय कहानी सुनी है जो भारी बोझ लेकर मीलों यात्रा करने की आदी होती हैं। एक स्त्री गर्भवती थी और एक दिन यात्रा करते समय ही उसके बच्चा जनने का समय हो गया। वह रास्ते में एक किनारे, एक पेड़ के नीचे बैठ गयी, उसका बच्चा भूमिष्ठ हुआ, आधा घंटा उसने विश्राम किया, फिर वह उठ खड़ी हुई और अपने पुराने बोझ के साथ-साथ बच्चे को भी लेकर चुपचाप अपने रास्ते पर चल पड़ी मानों उसे कुछ भी न हुआ हो। यह इस बात का अत्यंत उज्ज्वल उदाहरण है कि स्वास्थ्य और शक्ति पर पूर्ण अधिकार रखनेवाली एक नारी क्या कर सकती है।

डाक्टर कहेंगे कि मनुष्यजाति ने आज जितनी भी प्रगति की है उस सबके होते हुए भी किसी सभ्य समाज में इस तरह की बात कभी घटित नहीं हो सकती; परंतु हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि, शरीर की दृष्टि से देखा जाये तो, आधुनिक सभ्यताओं ने जो संवेदनशीलता, दुःख-कष्ट और जटिलता उत्पन्न की है उसके मुकाबले यह कहीं सुखदायी स्थिति है।

इसके अलावा, साधारणतया डाक्टर लोग अस्वाभाविक प्रसंगों में ही अधिक दिलचस्पी लेते हैं और वे अधिकांशतः उसी दृष्टिकोण से विचार करते हैं। परंतु हमारे लिये बात इससे भिन्न है; हम स्वाभाविक से अति-स्वाभाविक की ओर जा सकते हैं, न कि अस्वाभाविक से जो कि सर्वदा ही पथभ्रष्टता और निष्कृष्टता का चिह्न होता है।

८. नारीत्व की दृष्टि से बालिकाओं के लिये शारीरिक शिक्षण का क्या आदर्श होना चाहिये ?

मेरी समझ में नहीं आता कि लड़कों से भिन्न लड़कियों के लिये शारीरिक शिक्षण का कोई विशेष आदर्श क्यों होना चाहिये।

शारीरिक शिक्षण का उद्देश्य है मानव शरीर की सभी संभावनाओं को विकसित करना, जैसे, सुसामंजस्य, शक्ति, नमनीयता, चतुरता, फुर्तीलापन, सहनशीलता आदि की संभावनाओं को प्रस्फुटित करना, अपने अंगों और इंद्रियों की क्रियाओं पर अपना अधिकार बढ़ाना, एक सज्ञान संकल्प-शक्ति के व्यवहार के लिये शरीर को सर्वांगपूर्ण

यंत्र बनाना। यह कार्यक्रम सभी मानव प्राणियों के लिये एक समान उत्तम है, और ऐसा कोई कारण नहीं कि लड़कियों के लिये कोई दूसरा कार्यक्रम स्वीकार करने की कामना की जाये।

९. हमारी नवीन जीवन-पद्धति के अंदर पुरुष और स्त्री का क्या कार्य मुख्य होना चाहिये ? उनमें परस्पर क्या संबंध होगा ?

भला दोनों के बीच तनिक भी विभेद क्यों किया जाये ? वे दोनों ही एक जैसे मानव प्राणी हैं जो वर्ग, जाति, धर्म तथा राष्ट्रीयता के परे 'भागवत कार्य' के लिये उपयुक्त यंत्र बनने की चेष्टा करते हैं, जो एक ही अनंत दिव्य माता की संतान हैं तथा एक ही 'शाश्वत भगवान्' को प्राप्त करने की अभीप्सा रखते हैं।

१०. नारी के शारीरिक सौंदर्य का क्या आदर्श होना चाहिये ?

अंगों के परिमाण में पूर्ण सामंजस्य, कोमलता और बल-सामर्थ्य, कमनीयता और क्षमता, नमनीयता और दृढ़ता, तथा सबसे बढ़कर, अति उत्तम, एक रूप और अपरिवर्तनशील स्वास्थ्य जो एक शुद्ध चरित्र आत्मा बनने का, जीवन में समुचित विश्वास तथा 'भागवत कृपा' में अटल श्रद्धा-विश्वास रखने का परिणाम होता है।

अंत में एक बात और जोड़ दूं :

मैंने ये सब बातें तुमसे इसलिये कही है कि तुम्हें इन्हें सुनने की आवश्यकता थी, पर तुम इन्हें अकाट्य सिद्धांत का रूप मत दे देना क्योंकि ऐसा करने पर ये अपना सत्य ही खो बैठेंगी।

(सितंबर १९६० में प्रकाशित)

३

न्यू एज ऐसोसियेशन (नव युग संघ)

नव युग संघ की स्थापना 'श्रीअरविन्द अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र' की 'उच्चतर कक्षाओं' के विद्यार्थियों के विचारों को अभिव्यक्त करने के लिये एक मंच के रूप में १९६४ में की गयी थी।

हर सम्मेलन के विषय पर नीचे कुछ संकेत-चिह्न दिये गये हैं, पाठक उन्हें ध्यान में रखें :

(ग)—माताजी का दिया हुआ विषय;

(घ)—प्रस्तावित विषयों में से माताजी के द्वारा चुना हुआ विषय;

(ङ)—माताजी के द्वारा स्वीकृत विषय।

एक खुली बातचीत, जहां हर एक जो सोचता या अनुभव करता है उसे अभिव्यक्त कर सकता है।

(१९६४)

*

उद्घाटन समारोह (१२-७-१९६४)

यह कभी न मानो कि तुम जानते हो।
हमेशा ज्यादा अच्छी तरह जानने की कोशिश करो।
आशीर्वाद।

(१२-७-१९६४)

*

पहला सम्मेलन (९-८-१९६४)

सामान्य मानसिक क्रिया-कलाप के पार जाने का सबसे अच्छा तरीका क्या है ? (ग)

मेरा उत्तर है : चुप रहो।

*

दूसरा सम्मेलन (२२-११-१९६४)

'दिव्य जीवन' के लिये अपनी अभीप्सा में स्थिर और सच्चे कैसे हों। (ग)

'दिव्य जीवन' को प्राप्त करने लायक सबसे महत्त्वपूर्ण चीज मानो।

*

तीसरा सम्मेलन (१४-२-१९६५)

कार्य के आवेगों में 'सत्य' और मिथ्यात्व के बीच फर्क कैसे करें। (ग)

जो लोग अंधकार और मिथ्यात्व की शक्तियों पर 'सत्य' की ज्योति के विजयी होने में सहायता करना चाहते हैं वे अपनी गतिविधि और क्रिया को शुरू करनेवाले आवेगों का ध्यानपूर्वक अवलोकन करके, और उनके बीच भेद करके, जो 'सत्य' से आते हैं

और जो मिथ्यात्व से आते हैं उनमें से पहले को स्वीकार और दूसरे को अस्वीकार करके ऐसा कर सकते हैं।

धरती के वातावरण में 'सत्य की ज्योति' के 'आगमन' के पहले प्रभावों में से एक है—यह विवेक शक्ति।

वास्तव में 'सत्य की ज्योति' द्वारा लाये हुए इस विवेक के विशेष उपहार को पाये बिना, 'सत्य' के मनोवेगों और मिथ्यात्व के मनोवेगों में फर्क करना बहुत कठिन है।

फिर भी, आरंभ में सहायता करने के लिये, तुम यह निर्देशक नियम बना सकते हो कि जो-जो चीजें शांति, श्रद्धा, आनंद, सामंजस्य, विशालता, एकता और उठता हुआ विकास लाती हैं वे 'सत्य' से आती हैं; जब कि जिन चीजों के साथ बेचैनी, संदेह, अविश्वास, दुःख, फूट, स्वार्थपूर्ण संकीर्णता, जड़ता, उत्साहहीनता और निराशा आयें वे सीधी मिथ्यात्व से आती हैं।

(२२-१-१९६५)

*

चौथा सम्मेलन (२५-४-१९६५)

अपने अध्ययन को साधना का साधन कैसे बनाया जाये ? (घ)

*

पांचवा सम्मेलन (८-८-१९६५)

अपनी कठिनाइयों को प्रगति के अवसरों में कैसे बदला जाये ? (घ)

*

छठा सम्मेलन (२१-११-१९६५)

१—मानवजाति की प्रगति का सबसे अच्छा उपाय कौन-सा है ? (ङ)
२—सच्ची स्वाधीनता क्या है और उसे कैसे पाया जाये ? (ङ)

१—स्वयं प्रगति करना।
२—(क) अहं से मुक्ति।
(ख) अहं से छुटकारा पा कर।

(१३-१०-१९६५)

*

सातवां सम्मेलन (२०-२-१९६६)

'सत्य' की सेवा कैसे की जाये ?[१] (ङ)

*

आठवां सम्मेलन (१४-८-१९६६)

मनुष्य की नियति क्या है ? (घ)

*

नवां सम्मेलन (२७-११-१९६६)

सच्चा प्रेम क्या है, उसे कैसे पाया जाये ? (घ)

क्या तुम जानते हो कि सच्चा प्रेम क्या है ?

सच्चा प्रेम केवल एक ही है, भगवान् का प्रेम जो मनुष्यों में भगवान् के लिये प्रेम में बदल जाता है।

क्या हम कह सकते हैं कि भगवान् का स्वभाव है 'प्रेम' ?

*

[१] यह प्रश्न १९६६ के नये वर्ष के संदेश से संबंध रखता है :
"आओ, हम 'सत्य' की सेवा करें।"

Do *you* know what is true love?

There is only *one* true love, the love *from* the Divine, which, in human beings, turns into love *for* the Divine.

Shall we say that the nature of the Divine is Love.

दसवां सम्मेलन (१९-२-१९६७)

'चुनाव' अनिवार्य क्यों है ?[१] (घ)

क्योंकि जैसा श्रीअरविन्द ने कहा है, हम एक "भागवत मुहूर्त" में हैं—और संसार के रूपांतरकारी विकास ने तेज और तीव्र गति अपना ली है।

*

ग्यारहवां सम्मेलन (३०-४-१९६७)

इस समय की आवश्यकता क्या है ? (घ)

सचाई (निष्कपटता)।

भगवान् को धोखा देने की कोशिश न करो।

*

बारहवां सम्मेलन (१३-८-१९६७)

श्रीअरविन्द और 'नव युग'। (घ)

*

चौथा वार्षिक अधिवेशन (१०-९-१९६७)

पुरानी रूढ़ियों से अलग हो जाना और पुराने नियमों को न मानना अच्छा है—लेकिन इस शर्त पर कि व्यक्ति स्वयं अपने अंदर एक अधिक सच्ची और अधिक ऊंची चेतना पा ले जो 'सामंजस्य', 'शांति', 'सौंदर्य' और श्रेष्ठतर, विशाल और प्रगतिशील 'व्यवस्था' को अभिव्यक्त करे।

(२६-८-१९६७)

*

[१] यह प्रश्न १९६७ के नये वर्ष के संदेश से संबंध रखता है :

मनुष्यो, देशो, महाद्वीपो !
चुनाव अनिवार्य है :
सत्य या फिर रसातल।

तेरहवां सम्मेलन (२६-११-१९६७)

शिक्षा पर नयी दृष्टि। (घ)

शिक्षा का निर्देशक सिद्धांत क्या होना चाहिये ?

'सत्य', 'सामंजस्य', 'स्वाधीनता'।

*

चौदहवां सम्मेलन (२५-२-१९६८)

हम माताजी से क्या आशा रखते हैं। (ग)

ठीक-ठीक वह क्या वस्तु है जिसकी हमें आपसे आशा करनी चाहिये ?

सब कुछ।

धरती पर अपने 'कार्य' की सिद्धि के लिये आप हमसे और मानवजाति से किसी चीज की आशा करती हैं ?

किसी चीज की नहीं।

क्या अपने साठ वर्ष से ऊपर के अनुभव में आपने देखा है कि आपने हमसे और मानवजाति से जो आशा की थी वह पर्याप्त रूप में सफल हुई है ?

चूंकि मैं किसी चीज की आशा नहीं करती इसलिये मैं इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकती।

क्या हमारे और मानवजाति के लिये आपके 'कार्य' की सफलता किसी रूप में हमारे और मानवजाति के द्वारा आपकी आशाओं की पूर्ति पर निर्भर है ?

सौभाग्यवश नहीं।

(२०-२-१९६८)

*

पन्द्रहवां सम्मेलन (२८-४-१९६८)

१. युवा कैसे रहा जाये ? (घ)
२. निरन्तर प्रगति का रहस्य क्या है ?[1] (घ)

१—चूंकि ह्रास और विघटन जो बुढ़ापे को लानेवाली चीजें हैं, वे मृत्यु का आरंभ हैं तो क्या यह संभव है कि मृत्यु पर विजय पाये बिना बुढ़ापे को रोका जा सके ?

क्या शरीर के भौतिक कोषों को अतिमानसिक आनंद के द्वारा पूर्णतः रूपांतरित किये बिना शरीर को निरंतर युवा रखा जा सकता है ?

जबतक अतिमानस धरती पर अभिव्यक्त न हो जाये तबतक इन प्रश्नों का उत्तर कैसे दिया जा सकता है ? उसकी अभिव्यक्ति के बाद ही हम जान सकेंगे कि वह कैसे आया और कैसे अभिव्यक्त हुआ।

(२५-४-१९६८)

२—क्या आपके उत्तर का मतलब यह है कि अतिमानस अभीतक धरती पर अभिव्यक्त नहीं हुआ है ? या आपका मतलब है निश्चेतन 'जड़ पदार्थ' के मूल तक में संपूर्ण अभिव्यक्ति ? आपने कहा है कि २९ फरवरी, १९५६ को अतिमानसिक अभिव्यक्ति का आरंभ हो गया था। हो सकता है कि आपके इस उत्तर का मतलब है पूर्ण अभिव्यक्ति। क्या आप इसे स्पष्ट करने की कृपा करेंगी ?

मैं उस अतिमानसिक अभिव्यक्ति की बात कह रही हूं जो सबके लिये स्पष्ट हो, निपट अज्ञानी के लिये भी—जैसे मानव अभिव्यक्ति सबके लिये स्पष्ट हुई जब वह अभिव्यक्त हुई।

(२६-४-१९६८)

*

सोलहवां सम्मेलन (२३-२-१९६९)

१—धर्मों के भगवान् और **एकमेव** भगवान्। (घ)
—तपश्चर्या और सच्चा संयम। (घ)

[1] ये प्रश्न १९६८ के नये वर्ष के संदेश से संबंध रखते हैं :
"हमेशा युवा रहो, कभी पूर्णता के लिये प्रयास करना बंद न करो।"

श्रीअरविन्द के योग के साधक को भूतकाल और वर्तमान में पूजे जानेवाले भगवान् के विभिन्न रूपों के पुजारियों के प्रति कैसी वृत्ति रखनी चाहिये ? अगर वह उनकी पूजा जारी रखे तो क्या वह उसकी प्रगति में बाधक होंगी और उसके लक्ष्य की सिद्धि को रोकेंगी ?

सभी पुजारियों की ओर शुभचिंतायुक्त सद्भावना।

सभी धर्मों के प्रति एक प्रबुद्ध उदासीनता।

रही बात 'अधिमानस' सत्ताओं के साथ संबंध की, अगर यह संबंध पहले से है, हर एक का अपना अलग समाधान होगा।

धर्मों के विभिन्न देवताओं की अतिमानसिक युग में क्या भूमिका होगी ? क्या वे धरती पर अतिमानसिक 'सत्य' की प्रतिष्ठा और 'जड़-तत्त्व' के रूपांतर में सहायता कर सकते हैं ?

अभी से यह प्रश्न नहीं किया जा सकता।

(१९-२-१९६९)

*

सत्रहवां सम्मेलन (२७-४-१९६९)

१—हमारा योग एक साहस-कार्य क्यों है ? (घ)
२—श्रद्धा की शक्ति। (घ)

१—हमारा योग किस अर्थ में साहस-कार्य है ?

उसे एक साहस-कार्य कहा जा सकता है क्योंकि यह पहली बार है कि कोई योग भौतिक जीवन से बच निकलने की जगह उसका रूपांतर करने और उसे दिव्य बनाने का लक्ष्य अपना रहा है।

२—योग में श्रद्धा की ऐसी अनिवार्य आवश्यकता क्यों है ?

क्योंकि हम एक ऐसे लक्ष्य के लिये प्रयास कर रहे हैं जैसा पहले कभी नहीं किया गया।

३—श्रद्धा में निश्चायक शक्ति किस कारण होती है ?

तुम्हारी श्रद्धा तुम्हें 'परम् पुरुष' के रक्षण में रख देती है और वे सर्वशक्तिमान् हैं।
(२६-४-१९६९)

*

छठा वार्षिक अधिवेशन (१७-८-१९६९)

सब शब्दों से ऊपर, सब विचारों से ऊपर अभीप्सा करती हुई श्रद्धा की प्रकाशमान नीरवता में अपने-आपको पूरी तरह, बिना कुछ बचाये हुए, समस्त जीवन के परम प्रभु के अर्पण कर दो और वे तुम्हें जो बनाना चाहते हैं वही बना देंगे।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

*

अठारहवां सम्मेलन (२३-११-१९६९)

यह रहा एक विषय।

जगत् का निस्तार एकता और सामंजस्य में है। इस एकता और सामंजस्य के बारे में तुम्हारी क्या कल्पना है?

आशीर्वाद। (ग)

*

उन्नीसवां सम्मेलन (२२-२-१९७०)

वह कौन-सा बड़ा परिवर्तन है जिसके लिये संसार तैयारी कर रहा है? हम उसकी सहायता कैसे कर सकते हैं?[१] (ङ)

१—यह कौन-सा महान् परिवर्तन है जिसके लिये संसार तैयारी कर रहा है?

चेतना का परिवर्तन। और जब हमारी चेतना बदल जायेगी तब हम जान लेंगे कि यह परिवर्तन क्या है।

२—हम इस परिवर्तन को लाने में कैसे सहायता दे सकते हैं?

[१] यह प्रश्न १९७० के नये वर्ष के संदेश के साथ संबंध रखता है:
"संसार एक महान् परिवर्तन की तैयारी में है। क्या तुम सहायता करोगे?"

परिर्तन के आने में हमारी सहायता की जरूरत नहीं है, लेकिन हमें अपने-आपको उस चेतना के प्रति खोलना चाहिये ताकि उसका आना हमारे लिये व्यर्थ न हो।

(१९-२-१९७०)

*

Is the aim of life to be happy?

This is just putting things topsy-turvy.

The aim of human life is to discover the Divine and to manifest It. Naturally this discovery leads to happiness; but this happiness is a consequence, not an aim in itself. And it is this mistake of taking a mere consequence for aim of life that has been the cause of most of the miseries which are afflicting human life.

बीसवां सम्मेलन (२६-४-१९७०)

क्या सुखी होना जीवन का लक्ष्य है? (घ)

क्या सुखी होना जीवन का लक्ष्य है?

यह तो चीजों को ऊट-पटांग ढंग से रखना हुआ।

मानव जीवन का लक्ष्य है भगवान् को खोजना और उन्हें अभिव्यक्त करना। स्वभावतः इस खोज से सुख मिलता है; परंतु यह सुख अपने-आपमें लक्ष्य न होकर एक परिणाम है। और मनुष्यजाति पर आनेवाली अधिकतर विपदाओं का कारण है एक सामान्य अनुवर्ती परिणाम को जीवन का लक्ष्य मान बैठने की भूल।

(२८-३-१९७०)

*

सातवां वार्षिक अधिवेशन (१६-८-१९७०)

श्रीअरविन्द के 'स्वप्न' का भारत। (ङ)

अपने एक संदेश में आपने कहा है:

"भारत की सबसे पहली समस्या है अपनी अंतरात्मा को फिर से पाना और उसे अभिव्यक्त करना।"

भारत की अंतरात्मा को फिर से कैसे पाया जाये?

अपने चैत्य पुरुष के बारे में सचेतन होओ। तुम्हारी चैत्य सत्ता भारत की 'अंतरात्मा' में तीव्र रूप से रस ले और उसके लिये सेवा-भाव से अभीप्सा करे; और अगर तुम सच्चे और निष्कपट हो तो सफल होओगे।

(१५-६-१९७०)

*

इक्कीसवां सम्मेलन (२१-११-१९७०)

संसार की समस्याओं का समाधान चेतना के परिवर्तन में है। इस परिवर्तन के बारे में तुम्हारी क्या कल्पना है? इसे कैसे लाया जाये? (घ)

जिस चेतना को अभिव्यक्त करना है वह धरती के वातावरण में आ चुकी है। अब केवल ग्रहणशीलता का प्रश्न है।

(१९-११-१९७०)

*

बाईसवां सम्मेलन (२८-२-१९७१)

भविष्य में छलांग किस तरह लगायी जाये ?[१] (घ)

अपने पिछले नये साल के संदेश में आपने कहा था : "चुनाव अनिवार्य है।" इस वर्ष आपने एक "छलांग" लगाने के लिये कहा है। उस "चुनाव" और इस "छलांग" में क्या फर्क है ?

चुनाव मानसिक है। छलांग पूरी सत्ता लगाती है।

यह छलांग कैसे लगायी जाये ?

हर एक का अपना तरीका होगा।

आपने इस वर्ष के संदेश में बाइबल के शब्द "ब्लेसेड" (धन्य) का उपयोग क्यों किया है ? क्या इसका कोई विशेष महत्त्व है ?

"ब्लेसेड" पर बाइबल का एकाधिकार नहीं है।

(२४-२-१९७१)

*

तेईसवां सम्मेलन (२५-४-१९७१)

समग्र पूर्णता का हमारा आदर्श क्या है ? (घ)

भगवान् के साथ सचेतन ऐक्य।

(२८-३-१९७१)

*

[१] यह प्रश्न १९७१ के नये वर्ष के संदेश से संबंध रखता है :
"धन्य हैं वे जो भविष्य की ओर छलांग लगाते हैं।"

आठवां वार्षिक अधिवेशन (२२-८-१९७१)

श्रद्धा रखो और सच्चे (निष्कपट) बनो।
आशीर्वाद।

(२२-८-१९७१)

*

चौबीसवां सम्मेलन (२८-११-१९७१)

युवकों को श्रीअरविन्द का आह्वान। (घ)

युवकों को श्रीअरविन्द का आह्वान क्या है ?

'अतिमानसिक' चेतना के प्रकाश में ज्यादा अच्छे भविष्य के निर्माता बनो।

(२७-११-१९७१)

*

पच्चीसवां सम्मेलन (२७-२-१९७२)

श्रीअरविन्द की शताब्दी के योग्य कैसे बनें ?[१] (ङ)

इस वर्ष पहली जनवरी को आपने कहा था : "इस वर्ष श्रीअरविन्द की शताब्दी के लिये धरती पर एक विशेष सहायता आयी है।"

क्या आप कृपया इस शक्ति के स्वरूप और उसकी क्रिया के बारे में बता सकेंगी और यह भी कि उसका लाभ उठाने के लिये हमें क्या करना चाहिये ?

जो अपने अहंकार पर चैत्य पुरुष के आधिपत्य के द्वारा ग्रहणशील बन सकेंगे, वे इस सहायता को जानेंगे और उसका पूरा लाभ पायेंगे।

(२४-२-१९७२)

*

छब्बीसवां सम्मेलन (२३-४-१९७२)

शिक्षा और योग। (घ)

[१] यह प्रश्न १९७२ के नये वर्ष के संदेश से संबंध रखता है :
"आओ, हम सब श्रीअरविन्द की शताब्दी के योग्य बनने की कोशिश करें।"

अगर शिक्षा को योग के अंग के रूप में लिया जाये तो उसमें कौन-सी भावना होगी, उसका क्या रूप होगा ?

श्रीअरविन्द की किताबें पढ़ो।

(१९-४-१९७२)

*

नवां वार्षिक अधिवेशन (१२-८-१९७२)

श्रीअरविन्द भविष्य को प्रकट करते हैं। (ग)

२ जनवरी, १९७२ के संदेश में आपने कहा है :

"उनकी शताब्दी के इस वर्ष में, उनकी सहायता और भी प्रबल होगी। यह हम पर छोड़ा गया है कि हम उसके प्रति अधिक खुलें और उससे लाभ उठायें।

"भविष्य उनके लिये है जो वीर आत्मा हैं।"

क्या आप यह बताने की कृपा करेंगी कि इस संदेश में "वीर" से आपका क्या मतलब है ?

वीर किसी चीज से नहीं डरता, किसी चीज की शिकायत नहीं करता और कभी हार नहीं मानता।

*

सत्ताईसवां सम्मेलन (२५-२-१९७३)

जगत् को यह दिखाने के लिये कि मनुष्य भगवान् का सच्चा सेवक बन सकता है हम किस तरह सच्चा सहयोग दे सकते हैं ?[१] (घ)

भगवान् के सच्चे सेवक बनकर।

(२४-२-१९७३)

*

[१] यह प्रश्न १९७२ में बड़े दिन के अवसर पर दिये गये संदेश से संबंध रखता है :

"हम जगत् को दिखाना चाहते हैं कि मनुष्य भगवान् का सच्चा सेवक बन सकता है। पूरी सचाई के साथ कौन सहयोग देगा ?"

अट्ठाईसवां सम्मेलन (२२-४-१९७३)

> व्यक्ति की स्वाधीनता की मांग और समष्टि की एकता और सुव्यवस्था की आवश्यकता में कैसे मेल बिठाया जाये ? (ङ)

स्वाधीनता का मतलब अव्यवस्था और अस्तव्यस्तता से बहुत भिन्न है।

हमें आंतरिक स्वाधीनता प्राप्त होनी चाहिये, और अगर तुम्हें वह प्राप्त है तो कोई भी उसे तुमसे नहीं छीन सकता।

(२८-३-१९७३)

*

> *(अक्तूबर १९६७ में कुछ विद्यार्थी इन सम्मेलनों में बोलने से कतरा रहे थे, अपनी कठिनाई के रूप में मानसिक तमस् और संकोच और लोगों के सामने बोलने में लज्जा को कारण बतला रहे थे। ये कठिनाइयां माताजी के सामने रखी गयीं तो उन्होंने लिखा :)*

इस प्रकार के कार्य-कलाप का मुख्य उद्देश्य ही है उन कठिनाइयों को दूर करना जिन्हें वे गिना रहे हैं—तमस्, संकोच, आलस्य आदि।

और ठीक इसी कारण मैंने तुमसे वर्ष में चार बार करने के लिये कहा है।

विद्यार्थी यहां सुखी जीवन के लिये नहीं हैं बल्कि अपने-आपको दिव्य जीवन के लिये तैयार करने के लिये हैं।

अगर वे किसी प्रयास से बचें, आलसी तथा "तामसिक" बने रहें तो तैयार कैसे होंगे ?

(३०-१०-१९६७)

४

स्कूल में माताजी के काम की झलक

(१)

आश्रम और स्कूल में फ्रेंच

(दो-तीन अध्यापक स्कूल में शिक्षा के माध्यम के बारे में बातचीत करते हैं। उसका सारांश इस टिप्पणी के साथ माताजी के सामने रखा जाता है :)
अपनी शिक्षा-विषयक पुस्तक में श्रीअरविन्द कहते हैं कि बच्चे को अपनी मातृभाषा में शिक्षा मिलनी चाहिये।

श्रीअरविन्द ने यह कहा तो है, लेकिन उन्होंने और भी बहुत-सी चीजें कही हैं जो उनकी सलाह की पूरक हैं और जो सिद्धांतवाद की हर संभावना को रद्द करती हैं। स्वयं श्रीअरविन्द ने बहुत बार दोहराया है कि अगर तुम एक चीज को निश्चयपूर्वक स्वीकारते हो, तो तुम्हारे अंदर उससे ठीक विपरीत को भी स्वीकारने की क्षमता होनी चाहिये; अन्यथा तुम 'सत्य' को नहीं समझ पाओगे।

(उसी चिट्ठी में एक अध्यापक पूछता है कि आश्रम में फ्रेंच का क्या भविष्य है ?)

आश्रम में हम फ्रेंच सिखाना जारी रखेंगे, बहरहाल तबतक तो जरूर जबतक मैं जिन्दा हूं, क्योंकि श्रीअरविन्द, जिन्हें फ्रेंच बहुत प्रिय थी और जो इसे बहुत अच्छी तरह जानते थे, यह मानते थे कि यह भाषाओं के ज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।
(२३-८-१९६५)

*(फ्रेंच के बारे में वार्तालाप के समय एक शिष्य माताजी का ध्यान इस बात की ओर खींचता है कि अब बहुत-से फ्रेंच लोग, विशेष रूप से नवागंतुक, अच्छी तरह फ्रेंच जाननेवालों के साथ भी अंग्रेजी में बात करते हैं। माताजी थोड़ी देर एकाग्र रहती हैं, फिर कहती हैं : "**इसमें हानि उन्हीं की है।**" तब शिष्य पूछता है कि माताजी इस विषय पर कोई संदेश दें तो क्या वह लाभदायक होगा। वे अपने हाथ से यह संदेश लिखती हैं और सलाह देती हैं कि इसे स्कूल और आश्रम में लगाया जाये, और इसकी एक प्रति स्कूल के पुस्तकालय में लगायी जाये। अत: फोटो प्रतियां बनायी गयीं।)*

श्रीअरविन्द को फ्रेंच बहुत प्रिय थी। उनका कहना था कि वह एक स्पष्ट और एक

सुनिश्चित भाषा है जिसका व्यवहार बुद्धि की स्पष्टता को बढ़ाता है। चेतना के विकास की दृष्टि से, यह बहुमूल्य है। फ्रेंच में तुम जो कहना चाहते हो, ठीक वही कह सकते हो।

आशीर्वाद।

(१९-१०-१९७१)

(२)

(फ्रेंच की कक्षाओं में काम की व्यवस्था)

(अध्यापकों का एक दल कुछ कक्षाओं को लेकर कुछ व्यवस्था करने की योजना बना रहा है। उनमें से एक माताजी से पूछता है कि इसमें उन्हें आपत्ति है या नहीं।)

कोई आपत्ति नहीं, यह ऐसी चीजें हैं जिन्हें तुम्हें निःसंकोच रूप से आपस में व्यवस्थित करना चाहिये।

(जनवरी १९६१)

(दो अध्यापकों में काम को लेकर गरमागरम बहस चली। उनमें से एक समस्या को माताजी के सामने प्रकट करता है और उनकी राय मांगता है। माताजी उत्तर देती हैं :)

सच पूछा जाये तो मेरी कोई राय नहीं है। सत्य की दृष्टि से अभीतक सब कुछ भयंकर रूप से घुला-मिला है, प्रकाश और अंधकार, सत्य और मिथ्या, ज्ञान और अज्ञान का कम या अधिक सुखद मेल है, और जबतक रायों के अनुसार निर्णय होंगे और काम किये जायेंगे तबतक हमेशा ऐसा ही रहेगा।

हम एक ऐसे काम का उदाहरण देना चाहते हैं जो सत्य की दृष्टि से किया गया हो, लेकिन दुर्भाग्यवश हम इस आदर्श को चरितार्थ करने से बहुत दूर हैं; और अगर सत्य की दृष्टि, अभिव्यक्त होती भी हो तो क्रिया-रूप लेते-लेते बिलकुल विकृत हो जाती है।

अतः, चीजों की वर्तमान अवस्था में, यह कहना असंभव है : यह सच है और यह झूठ, यह हमें लक्ष्य से दूर ले जाता है, यह हमें लक्ष्य के नजदीक ले आता है।

जो प्रगति करनी है उसके अनुसार हर एक चीज का उपयोग किया जा सकता है: अगर हम उपयोग करना जानें तो हर चीज उपयोगी बन सकती है।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हम जिस आदर्श को चरितार्थ करना चाहते हैं उसे कभी आंखों से ओझल न होने दें और इसी उद्देश्य से सभी परिस्थितियों का लाभ उठायें।

अंततः, चीजों के पक्ष या विपक्ष में निर्णय न लेना और साक्षी की निष्पक्षता के साथ घटनाओं को घटते देखना और भागवत 'प्रज्ञा' में आश्रय लेना ज्यादा अच्छा है। वह भले के लिये निश्चय करेगी और जो करना आवश्यक है करेगी।

(जुलाई १९६१)

(एक अध्यापक ने माताजी से काम के बारे में कुछ प्रश्न किये थे और माताजी का व्यक्तिगत उत्तर अपने साथियों को दिखलाया। इस असावधानी पर खेद प्रकट करते हुए उसने तुरंत माताजी से इस विषय में बात की।)

तुमने जो कहा वह कहने में कोई हर्ज नहीं है, क्योंकि देखो, मैं हर एक से पूरी सच्चाई के साथ कह सकती हूं, "मैं सहमत हूं।" वास्तव में, यह एक ऐसी चीज है जिसे समझने में तुम्हें काफी कठिनाई होती है, क्योंकि मन इसे स्वीकार नहीं कर पाता। लेकिन हर एक के दृष्टिकोण के पीछे, सत्य का एक पहलू होता है, कभी-कभी सत्य का बहुत छोटा-सा पहलू, और मैं इस पहलू से हमेशा सहमत होती हूं—स्पष्टतः, बशर्ते कि वह दूसरों को हटाकर एकमात्र सत्य बनने की कोशिश न करे।

और मैं इस क्रिया के एक साधन की खोज में हूं जिससे सभी पहलू अभिव्यक्त हो सकें, हर एक अपने स्थान पर, एक-दूसरे को हानि पहुंचाये बिना रहे। जिस दिन मुझे यह साधन मिल जायेगा, उस दिन मैं स्कूल को पुनर्व्यवस्थित करने लग जाऊंगी। तबतक, तुम हमेशा विचारों को मथ सकते हो; यह हितकर है, जबतक कि यह न तो कट्टर हो, न ऐकांतिक, न उग्र, और जबतक कि तुम आपस में कभी न झगड़ो।

(अगस्त १९६१)

(२)

फ्रेंच सिखानेवाले भारतीयों को फ्रेंच सिखाने के विषय में

पाठ्य पुस्तक की खोज

(एक जवान भारतीय अध्यापिका के लिये पाठ्य-पुस्तक चुनने की बात थी,

वह अपनी फ्रेंच सुधारना चाहती थी। फ्रेंच अध्यापिका ने माताजी से आल्बैर काम्यू की पुस्तक 'ला पेस्त' के बारे में उनकी राय पूछी ["पेस्त" का मतलब है हानिकर कीड़े-मकोड़े]।)

यूरोपवासियों के लिये अमुक चीजें पढ़ना हितकर हो सकता है, उनकी चमड़ी काफी सख्त होती है, ताकि वे अपने अंदर सच्ची करुणा की भावना को जगा सकें; लेकिन यहां भारत में यह आवश्यक नहीं है। और ऐसे जीवन के चित्र को अंधकारपूर्ण बनाना ठीक नहीं जो पहले से ही अपने-आपमें काफी अंधकारपूर्ण हैं।

(माताजी ज्यूल रोमैं की पुस्तक 'रशैर्श द्यून एग्लीज' [गिरजाघर की खोज में] की ओर इशारा करती हैं, और अपनी प्रति फ्रेंच अध्यापिका को भेजती हैं ताकि वह उसके बारे में जानकारी प्राप्त कर सके। अध्यापिका को किताब के कुछ अध्याय पढ़कर "धक्का" लगता है और वह माताजी के सामने काफी कठोर शब्दों में अपना भाव प्रकट करती है। माताजी उत्तर देती हैं :)

'रशैर्श द्यून एग्लीज' मेरी रुचि की पुस्तक है। ज्यूल रोमैं महान् लेखक हैं और उनकी फ्रेंच पहले दर्जे की है। अगर मैंने कुछ हिस्सों को न पढ़ने की बात की थी[१] तो यह इसलिये कि कुछ हिस्से जवान लड़की के दिमाग के लिये उचित नहीं है। लेकिन काट-छांट करना आसान है और बाकी हिस्सा बहुत अच्छा है।

(फ्रेंच अध्यापिका पुस्तक को पढ़ना जारी रखती है और मार्क ब्लापैं की पुस्तक 'ला फ्रांस दोजूरदुई' [आज का फ्रांस] का सुझाव देती है।)

मैंने अभी रस लेकर पुस्तक देखी। इस बार, बहुत अच्छी लगी।

(मई १९६०)

*

काम के कार्यक्रम की खोज

(फ्रेंच अध्यापिका अपने एक युवा भारतीय विद्यार्थी के लिये सभ्यताओं के इतिहास अध्ययन की योजना आरंभ करती है। वह इसे माताजी के आगे प्रस्तुत करती है।)

[१] पहले की एक चिट्ठी में माताजी ने लिखा था : "थोड़ी-बहुत काट-छांट के साथ ज्यूल रोमैं की कुछ पुस्तकें अच्छी होंगी, विशेष रूप से 'रशैर्श द्यून एग्लीज'।")

काम वास्तव में मजेदार हो सकता है, लेकिन तभी जब वह श्रीअरविन्द की पुस्तक 'मानव चक्र'[१] पर आधारित हो (वह 'बुलेटिन' में छप चुकी है)। क्योंकि इस पुस्तक में मानव क्रमविकास की सारी समस्याएं केवल प्रस्तुत ही नहीं की गयीं, बल्कि हल भी की गयी हैं। जब कभी श्रीअरविन्द किसी सभ्यता या देश की बात करते हैं, तो मेल खानेवाले ऐतिहासिक तथ्यों का अध्ययन किया जा सकता है, और यह सचमुच मजेदार काम होगा।

(सितम्बर १९६०)

भारतीय अध्यापकों के लिये जो फ्रेंच कक्षा चलती है उसमें बहुत-से लोग समकालीन लेखकों की रचनाएं पढ़ना चाहते हैं, क्योंकि पुरानी रचनाओं की अपेक्षा इनकी भाषा ज्यादा आधुनिक होती है। माताजी की क्या राय है?

मैं आधुनिक लेखकों के बारे में जितना जानती हूं उसने मेरी अधिक पढ़ने की इच्छा को खतम कर दिया है।

क्यों जानबूझकर कीचड़ में प्रवेश किया जाये? उससे तुम्हें क्या लाभ हो सकता है? यह ज्ञान कि पश्चिमी जगत् कीचड़ में लोट रहा है? इसकी कोई जरूरत नहीं। लगता है कि चुने हुए, अच्छी तरह चुने हुए भाग ही समाधान हैं।

(मई १९६३)

(एक युवा अध्यापक के विषय में जिसे तेजी से फ्रेंच सीखनी थी और साथ ही स्कूल में काफी व्यस्त कार्यक्रम का भी पालन करना था।)

मैं पूरी तरह सहमत हूं। 'क' को भली-भांति फ्रेंच सीखने के लिये समय मिलना चाहिये और उसके काम करने और पढ़ाने के घंटों को इस तरह व्यवस्थित करना चाहिये कि उसे तुम्हारे साथ पाठ जारी रखने का समय मिले, यह तबतक चले जबतक कि उसे यह न लगे कि अब उसके लिये और पढ़ना आवश्यक नहीं रहा।

(सितम्बर १९६६)

(४)

विद्यार्थियों को फ्रेंच पढ़ाना

विद्यार्थियों की वर्तनी कैसे सुधारी जाये?

[१] अब यह पुस्तक के रूप में उपलब्ध है।

साधारणतः, वर्तनी के लिये, आंखों की सहायता लेनी चाहिये। हर एक शब्द का अपना रूप होना चाहिये जिसे आंख याद रख सके। मानसिक स्मरणशक्ति की अपेक्षा दृष्टि की स्मरणशक्ति ज्यादा उपयोगी होती है। बहुत पढ़ना चाहिये—देखना, देखना, बोर्ड पर, किताबों में, चित्रों में देखना।

शैली, लिंग और व्याकरण के लिये भी, पढ़ना, बहुत पढ़ना ही सबसे अच्छा है। इस तरह सब कुछ अवचेतना में पैठ जाता है। सीखने का यह सबसे अच्छा तरीका है।

(जनवरी १९६२)

परीक्षाओं के विषय में

परीक्षाएं तुम्हें बच्चे को पंडिताऊ मूल्य बताने के लिये उपयोगी हैं, लेकिन उसका असली मूल्य बताने के लिये नहीं।

जहांतक बच्चे के असली मूल्य का सवाल है, किसी और चीज को खोजना है, लेकिन यह बाद में आयेगी और उसका स्वरूप भी अलग होगा।

मैं पंडिताऊ मूल्य के विरुद्ध असली मूल्य को नहीं खड़ा करती; दोनों एक ही व्यक्ति में एक साथ मौजूद हो सकते हैं, लेकिन यह काफी विरल तथ्य है और असाधारण प्रकार के लोगों को उत्पन्न करता है।

(१९६२)

*

(स्कूल में फ्रेंच के बारे में किसी अध्यापिका की चिट्ठी के हाशिये पर माताजी की टिप्पणियां। विद्यार्थी कार्यपत्र लेकर काम कर रहे थे।)

विद्यार्थी फ्रेंच में प्रगति क्यों नहीं करते, इसका एक कारण यह है कि अध्यापक उनका संशोधन नहीं करते।

बहुत सच्ची बात है।

... कार्यपत्र का काम तभी उपयोगी होगा जब यथार्थ संशोधन हों।

बहुत अच्छी बात है।

अध्यापकों और बच्चों के लाभ के लिये सभी गृहकार्यों का संशोधित रूप बनाने लगी हूं।

बहुत अच्छी बात है।

यह जरूरी है कि अध्यापक एक बार ये संशोधन देख जायें...

जरूर, एक बार से ज्यादा।

...ताकि वे अपनी गलतियों के प्रति सचेतन हों।

हां, उन्हें खास जरूरत है।

काम करते समय अगर बच्चे के हाथ में यह संशोधित रूप हो तो अच्छा होगा।

हां, यह बहुत उपयोगी है।

केवल भूलों की नीचे लकीर खींच देने से बच्चा कुछ नहीं सीखता।

सच है।

मुझे डर है कि अध्यापकों के हित के लिये मैं जो संशोधित रूप बनाती हूं वे भक्ति-भाव के साथ दराजों में ही पड़े रहते हैं...

यह बीभत्स है!

अगर ऐसा ही है तो साल के अंत में बच्चे बहुत-सा काम तो कर चुके होंगे, लेकिन उसका कोई लाभ न होगा।

बिलकुल ठीक। लगभग सभी अध्यापक, कुछ अपवादों को छोड़कर, विद्यार्थियों से भी ज्यादा आलसी होते हैं।

मेरा ख्याल है इस फ्रेंच भाषा को लेकर मैं आपको ऊबा रही हूं।

नहीं, तुम मुझे ऊबा नहीं रही, तुम्हारी बात ठीक है।

"मुझे लगता है कि कितने ही बच्चों की सद्भावना मिट्टी में मिल जाती है क्योंकि, कक्षा का वातावरण अच्छा भले हो, पर काम बहुत कम उपयोगी होता है और आवश्यक काम होता ही नहीं।"

हां।

(२५ दिसम्बर, १९६२)

(५)

'चुनी हुई पुस्तकों का पुस्तकालय'[१]

(एक अध्यापिका देखती है कि 'चुनी हुई पुस्तकों का पुस्तकालय' में ऐसी कई रचनाएं हैं जो—अगर पुस्तकालय को अपने नाम के अनुरूप होना हो तो—वहां न होनी चाहिये। वह कई बार माताजी से इसके बारे में बात करती है। यह रहा परिणाम :)

'चुनी हुई पुस्तकों का पुस्तकालय' के संघटन के विषय में माताजी की सलाह[२] :

सभी आधुनिक उपन्यास निकाल दिये जायें।

केवल विद्वत्ता, तत्त्वदर्शन, कला और विज्ञानों की रचनाएं रखी जायें।

सबसे अच्छा यह होगा कि पुस्तकों की सूची थोड़ी-थोड़ी लायी जाये, ताकि माताजी पुस्तकों की सामग्री जान सकें।

यह महत्त्वपूर्ण बात है।

(अध्यापिका माताजी से पूछती है कि "विद्वत्ता की रचनाओं" से उनका आशय क्या है। वे उत्तर देती हैं :)

यह सब किताबें जिनका लक्ष्य है शिक्षा प्रदान करना।

'चुनी हुई पुस्तकों का पुस्तकालय' का लक्ष्य है विद्यार्थियों को अच्छी फ्रेंच भाषा और श्रेष्ठ फ्रेंच विचार सिखाना।

उसमें विशेष रूप से विद्वत्ता की रचनाएं होनी चाहिये, अर्थात्, जिनका लक्ष्य है

[१] 'शिक्षा-केंद्र' का अपना निजी पुस्तकालय।

[२] माताजी के साथ वार्तालाप के बाद उसी अध्यापक की लिखी हुई टिप्पणी। यह टिप्पणी माताजी को पढ़कर सुनायी गयी थी, उन्होंने स्वीकृति लिखकर हस्ताक्षर कर दिये।

शिक्षा प्रदान करना : तत्त्वदर्शन, कला, विज्ञान इत्यादि की पुस्तकें।

उपन्यास बहुत कम होने चाहिये (विद्यार्थी बहुत ही ज्यादा उपन्यास पढ़ते हैं) और आधुनिक उपन्यास नहीं होने चाहिये, जबतक कि वे विशेष रूप से अच्छे स्तर के न हों।

'चुनी हुई पुस्तकों का पुस्तकालय' में साहित्य का स्थान है ताकि विद्यार्थी यह सीख सकें कि साहित्य क्या चीज है।

पुस्तकों के चुनाव में ध्यान देने लायक सबसे महत्त्वपूर्ण है भाषा का स्तर और उसकी शैली[१], कोई "भव्य" चीज जैसे फ्लोबैर (लेखक) की। अनुवाद नहीं होने चाहिये, या बहुत ही कम, और वह भी प्रसिद्ध कृतियों के—हम "उत्कृष्ट कलाकृति" नहीं कह सकते क्योंकि वे बहुत ही कम हैं![२]

('चुनी हुई पुस्तकों का पुस्तकालय' से खराब किताबों को निकालने के विषय में माताजी ने कहा है :)

उन्हें एक विशेष स्थान पर रखना चाहिये, एक विशेष कक्ष में जिसका नाम हो "खराब पुस्तकें", ताकि जो लोग यह पढ़ना चाहते हों कि इन पुस्तकों में क्या है वे पढ़ सकें।

जब तुम पुस्तकें मांगते हो तो तुम्हें बहुत सावधानी बरतनी चाहिये।

'चुनी हुई पुस्तकों का पुस्तकालय' का सवाल महत्त्वपूर्ण सवाल है।

'चुनी हुई पुस्तकों का पुस्तकालय' के लिये माताजी का संदेश :

'चुनी हुई पुस्तकों का पुस्तकालय' का कर्तव्य है अच्छी तरह फ्रेंच सिखाना।

१—पुस्तकें अच्छी तरह लिखित होनी चाहिये।

२—उन किताबों को प्राथमिकता दी जानी चाहिये जो शिक्षा की दृष्टि से रुचिकर हों।

३—उपन्यासों को तबतक प्रवेश न मिलना चाहिये जबतक वे असाधारण ढंग से लिखे हुए न हों।

४—अनुवाद बहुत कम हों—उन्हें केवल प्रसिद्ध किताबों तक ही सीमित रखना चाहिये।

[१] जब यह वाक्य पढ़ा जा रहा था तब माताजी ने विशेष रुचि दिखायी।

[२] माताजी के साथ वार्तालाप के बाद उसी अध्यापक की लिखी हुई टिप्पणी। यह टिप्पणी माताजी को पढ़कर सुनायी गयी थी, उन्होंने "स्वीकृत" लिखकर हस्ताक्षर कर दिये।

५---बाकी सबको यह कहकर बड़े पुस्तकालय भेज देना चाहिये : "कम प्रशंसनीय हैं"।[१]

(१९७१)

(अध्यापिका माताजी को लिखी अपनी चिट्ठी उनके आगे पढ़कर सुनाती है। उसमें, और चीजों के अतिरिक्त, वह कहती है : "... मैं समझती हूं कि 'चुने हुए पुस्तकालय' की सामग्री को, उसके अधिकतर अंश को, बदलना और स्तर को कुछ उठाना संभव है। क्या आप मुझे यह बताने की कृपा कर सकती हैं कि आप इस विचार से सहमत हैं या नहीं और मैं उसे चरितार्थ करने का प्रयास कर सकती हूं या नहीं ?" माताजी बल देकर कहती हैं :)

पूरी तरह, मैं पूरी तरह सहमत हूं। यह अनिवार्य है। हम ऐसे स्तर तक उतर आये हैं! हर एक चीज में! आह, मैं पूरी तरह सहमत हूं।

(१९७२)

(६)

दस से बारह वर्ष के बच्चों की कक्षा में माताजी की क्रिया

छोटे बच्चों को फ्रेंच किस तरह सिखायी जाये ?

सबसे अच्छा होगा बहुत सरल शब्दों और वाक्यों का प्रयोग करते हुए उन्हें कहानियां सुनाना, ताकि वे समझ सकें (एक छोटी-सी, मजेदार या दिलचस्प कहानी), और फिर कक्षा में ही, उन्होंने जो सुना है उसे लिखने के लिये कहना।

हां, लेकिन बच्चे बहुत शोर मचाते हैं।

कम-से-कम चुप्पी तो जरूरी है। मैं जानती हूं कि साधारणत: सबसे ज्यादा ऊधमी बच्चे सबसे ज्यादा बुद्धिमान् होते हैं। लेकिन वश में आने के लिये उन्हें ऐसी प्रतिभा का दबाव अनुभव होना चाहिये जो उनकी प्रतिभा से ज्यादा शक्तिशाली हो। और

[१] मातजी ने इसे लिखवाया था, फिर ठीक करके उन्होंने हस्ताक्षर कर दिये।

इसके लिये, उनके स्तर तक न उतरना जानना चाहिये, और विशेष बात यह कि वे जो कुछ करते हैं उससे प्रभावित नहीं होना चाहिये। वास्तव में, यह एक यौगिक समस्या है।

अगर अध्यापक शांत रहे तो क्या सारी समस्याएं हल हो सकती हैं?

हां, लेकिन इसके लिये सत्ता के हर अंग में पूर्ण शांति होनी चाहिये ताकि शक्ति उसके द्वारा अभिव्यक्त हो सके।

(माताजी के देखने के लिये बच्चों की कापियां उनके पास भेजी गयी थीं।)

वर्गीकरण किये बिना मैंने बच्चों की कापियों में टिप्पणियां दी हैं। क्या वर्गीकरण बहुत जरूरी है? हर एक के अपने-अपने गुण हैं और उन्हें वर्ग में डालना कठिन है।

(जून-जुलाई १९६०)

*

(अध्यापक की एक चिट्ठी का उद्धरण:) "मुझे आप पर विश्वास है और आपके कारण बच्चों पर; जहांतक मेरा सवाल है, मैं कुछ नहीं जानता और आप हमारे लिये जो कुछ चाहती हैं, उसके सिवाय कुछ नहीं चाहता। एक-एक कदम करके मुझे बस, यह दिखाने की कृपा करें कि क्या किया जाये और किस तरह उत्तर दिया जाये। हमारा पथ-प्रदर्शन कीजिये, और बाहरी परिस्थितियों के परिणाम चाहे कुछ भी क्यों न हों, हम अपने हृदय की गहराई में चुपचाप आपका अनुसरण करेंगे। बच्चे केवल आपकी "शांति" और आपके "प्रेम" में विकसित हों और खिलें। हम सब मिलकर केवल आपके लिये ही जीयें।"

कक्षा के, तुम्हारे, बच्चों के और मेरे बीच जो सचमुच संपर्क स्थापित होता है, निश्चय ही वही सबसे महत्त्वपूर्ण चीज है और उसे हर कीमत पर बनाये रखना चाहिये। लेकिन भौतिक संगठन या ढांचे की अपेक्षा वह **आंतरिक वृत्ति** पर बहुत ज्यादा निर्भर है। वास्तव में, यही वृत्ति सारे स्कूल में, सभी अध्यापकों में और सभी छात्रों में मौजूद होनी चाहिये। इसी को प्राप्त करना चाहिये और इसी दिशा में हमें प्रयास भी करना चाहिये।

(कक्षा काफी सुधर गयी है। अध्यापक लिखता है:) "यह सब जिसने पूरी तरह परिवर्तन ला दिया है, हमारे अंदर आपके काम का परिणाम है, है न?"

हां, अवश्य।

(अध्यापक प्रश्न करता है कि क्या इस कक्षा में माताजी के साथ उसे जो अनुभूति हुई है उसके कारण अगले साल भी, दूसरे दल को लेने की अपेक्षा, इसी कक्षा को उसके साथ रखना ज्यादा अच्छा नहीं होगा ?)

बच्चों के विभिन्न चरित्र ब्योरे के जिन परिवर्तनों को आवश्यक बनाते हैं, उनके साथ यह अनुभूति सभी बच्चों पर लागू होने और उनके अनुकूल बनने के लिये पर्याप्त लचीली और नमनीय होनी चाहिये। इस तरह तुम्हें विश्वास हो सकता है कि अनुभूति चलती रहेगी। फर्क बस इतना ही होगा कि बच्चे वह-के-वही नहीं होंगे।

(अध्यापक ने बच्चों के साथ काम के लिये दलों की व्यवस्था की। परिणाम ठीक नहीं आया और कक्षा में खूब शोर मचता है। अध्यापक ने पूछा कि क्या इसे जारी रखना चाहिये ?)

उन्हें परीक्षण जारी रखने देना चाहिये। धीरे-धीरे यह व्यवस्थित हो जायेगा। और परिणाम ज्यादा अच्छे आयेंगे।

(बहुत अच्छी तरह काम चलाने के बाद, बच्चों के साथ अब काम करना कठिन बन रहा है।)

शिथिलता निस्संदेह आनेवाली छुट्टियों के कारण है।

(अक्तूबर १९६०)

(७)

सात से नौ वर्ष के बच्चों की कक्षा में माताजी की क्रिया

(स्वयं बच्चों के प्रकट किये हुए विचारों के आधार पर माताजी कक्षा का नाम देती हैं : 'आर्ब्र अंसोलेय्ये' [सूर्य से प्रकाशित पेड़]। वे समझाती हैं :)

पेड़ है अभीप्सा करता हुआ और बढ़ता हुआ जीवन। सूर्य का प्रकाश है 'सत्य' का प्रकाश।

तर्क का शीतल प्रकाश जीवन को बढ़ने और विकसित होने में सहायता नहीं देता। जब सूर्य अपनी आनंद-भरी रश्मियों को धरती पर उंडेलता है तब 'सत्य' का ऊष्मा-भरा और जीवनदायी प्रकाश ही सहायता देता है।

(अध्यापक नये क्रिया-कलापों का परिचय करवाते हैं, जैसे, मिट्टी के बरतन बनाना, बागवानी, गत्ते से चिड़िया-घर बनाना, कोष का निरीक्षण करना इत्यादि। बच्चे इन क्रिया-कलापों को पसंद करते हैं लेकिन फिर "पढ़ने-लिखने" का काम बहुत मुश्किल से स्वीकारते हैं।)

अच्छा आरंभ है। यह स्वाभाविक रूप से ज्यादा बौद्धिक कार्य-कलापों के प्रति बढ़ेगा, और इस बीच सावधानी से किया गया काम कुछ सीखने का अवसर होता है।

(कुछ व्यावहारिक प्रश्नों के उत्तर)

१—बच्चों को कक्षा में खेल के लिये भी बंद कर देना अच्छा नहीं है।
२—क्षण-भर की चुप्पी और एकाग्रता **सभी बच्चों** के लिये अच्छी है। लेकिन प्रार्थना **अनिवार्य नहीं होनी चाहिये**। जिन्हें करनी हो उन्हें प्रोत्साहन दिया जायेगा। मेरा सुझाव यह है कि कक्षा में एक तख्ता लगाया जाये जिस पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा हो :

"माताजी हमारी सहायता और हमारा पथ-प्रदर्शन करने के लिये यहां हमारे बीच सदा उपस्थित हैं।"

अधिकतर बच्चे समझ जायेंगे, और कुछ **अनुभव** करने में सक्षम हैं।

(दिसम्बर १९६०)

*

(अध्यापिका को लगता है कि बच्चे उपद्रवी, बल्कि आलसी हैं और तोतों की न्याईं बातूनी। वह पूछती है :) क्या बात ऐसी इसलिये है कि उनकी असली रुचि अध्ययन की ओर नहीं है ?

हां।

कक्षा में शांति और स्थिरता और बच्चों से काम प्राप्त करने के लिये क्या करना चाहिये ?

सबसे उपयोगी चीज है उनके अंदर अध्ययन के लिये **सच्ची रुचि, सीखने और जानने की आवश्यकता** पैदा करना या जगाना, उनकी **मानसिक जिज्ञासा** को जाग्रत करना।

(अध्यापिका परिणामों के अभाव की शिकायत करती है।)

महीनों, यहांतक कि सालों के कठोर अध्यवसायपूर्ण नियमित और हठीले प्रयास के बाद ही तुम अधिकार के साथ (और तब भी!) कह सकती हो कि वह व्यर्थ और असफल रहा।

कैसे किया जाये?

जबरदस्ती करना न तो शिक्षा का श्रेष्ठ सिद्धांत है, न ही सबसे अधिक उपयोगी।

सच्ची शिक्षा तो उस चीज को **विकसित करना और खोलना चाहिये** जो पहले से ही ग्रहण करनेवाली सत्ताओं में विद्यमान है। जिस तरह फूल सूर्य के प्रकाश में खिलते हैं, उसी तरह बच्चे आनंद में खिलते हैं। यह कहने की जरूरत नहीं कि आनंद का मतलब कमजोरी, अस्तव्यस्तता और गड़बड़ नहीं है। बल्कि एक प्रकाशमय सद्भावना है जो अच्छे को प्रोत्साहन देती है और बुरे पर कठोरता से जोर नहीं देती।

'कृपा' हमेशा न्याय की अपेक्षा 'सत्य' के ज्यादा नजदीक होती है।

माताजी कक्षा में काम कर सकें इसके लिये क्या किया जाये?

ऐसी कोई चीज नहीं, कोई पद्धति नहीं, कोई प्रक्रिया नहीं जो अपने-आपमें बुरी हो; सब कुछ इस पर निर्भर है कि तुम किस वृत्ति से करते हो।

अगर तुम मेरी मदद चाहती हो, तो उसे तुम काम के इस सिद्धांत को स्वीकारने या उसे त्यागने से नहीं प्राप्त कर सकतीं। बल्कि कक्षा से पहले, एकाग्र होकर, अपने हृदय में (और अगर संभव हो तो अपने सिर में भी) मौन और शांति को उत्पन्न करके, और इस सच्ची अभीप्सा के साथ **मेरी उपस्थिति को बुलाकर** कि मैं हर एक क्रिया के पीछे उपस्थित रहूं, तुम मेरी सहायता प्राप्त कर सकती हो, उस तरह नहीं जिस तरह तुम सोचती हो कि मैं काम करूंगी (क्योंकि यह केवल मनमानी और आवश्यक रूप से गलत धारणा हो सकती है), बल्कि शांति, स्थिरता और आंतरिक सहजता के साथ। यह रहा अपनी कठिनाई में से निकलने का सच्चा, एकमात्र उपाय।

और जबतक तुम इसे चरितार्थ करने की प्रतीक्षा में हो, तबतक अपनी क्षमताओं और परिस्थितियों के अनुसार, सच्चाई के साथ और विक्षुब्ध हुए बिना, स्थिरता और अध्यवसाय के साथ अपना भरसक प्रयास करो।

'कृपा' हमेशा उसके साथ रहती है जो भली-भांति करना चाहे।

जहां बच्चों के साथ काम का सवाल है माताजी किस चीज को "अध्यवसाय" कहती हैं?

कापी में मैं जो कहना चाहती थी, वह यह कि जबतक **आंतरिक मनोवैज्ञानिक**

परिवर्तन चोट पहुंचाये बिना बाहरी परिवर्तन न लाये तबतक अपना काम चुपचाप जारी रखना हमेशा ज्यादा अच्छा है। इसी को मैं कहती हूं "अध्यवसाय"।

(जनवरी १९६१)

*

काम और अनुशासन में शिथिलता आ रही है। क्या यह अध्यापक में "प्राण की हड़ताल" के कारण है ?

निश्चय ही। प्राण के असहयोग से उत्पन्न शक्ति की कमजोरी शिथिलता का कारण है। बच्चे इतने पर्याप्त रूप से मन में नहीं रहते कि वे सहज रूप से ऐसे मानसिक संकल्प की बात मान लें जिसे प्राण-शक्ति का सहारा प्राप्त न हो, जो उन्हें बाहरी अभिव्यक्ति के बिना ही प्रभावित करती हो। जब प्राण सहयोग देता है, तो मेरी शक्ति उसके द्वारा काम करती है और अपनी उपस्थितिमात्र से प्राण में सहज रूप से व्यवस्था बनाये रखती है।

छोटे बच्चे उस मानसिक शक्ति के प्रति कम संवेदनशील होते हैं जो प्राणशक्ति से आवेष्टित न हो। और प्राण-शक्ति प्राप्त कर सकने के लिये स्वयं तुम्हें **पूर्ण रूप से स्थिर** होना चाहिये।

(अध्यापक बच्चों के साथ उनके मनपसंद विषयों को लेकर अध्ययन की एक परियोजना बनाने का सुझाव रखता है।)

हां, यह विचार अच्छा है। मैत्रीपूर्ण सहयोगवाला वातावरण हमेशा ज्यादा अच्छा होता है।

(फरवरी १९६१)

*

कठिन समय का आरंभ हो रहा है। अध्यापक के लिये कौन-सी वृत्ति सच्ची होगी ?

केवल चैत्य अभीप्सा ही सच्ची है। जो कुछ प्राण और मन से आता है वह आवश्यक रूप से अहंकार-मिश्रित और मनमाना होता है। बाहरी संपर्कों के साथ प्रतिक्रिया द्वारा नहीं, बल्कि प्रेम और निर्विकार सद्‌भावना की दृष्टि में काम करना चाहिये। बाकी सब कुछ तो केवल उलझे हुए और मिश्रित परिणाम देकर अव्यवस्था को बनाये रखेगा।

(किसी अध्यापक की चिट्ठी से उद्धरण) : मुझे लगता है कि केवल मानसिक आवेग ही मुझसे काम करवाते हैं, और वे निशाना चूक जाते हैं। इसलिये यद्यपि मैं कम हस्तक्षेप करता हूं, फिर भी मुझे लगता है कि वह बहुत ज्यादा हैं, क्योंकि वह सच्ची चीज नहीं है। और मेरा ख्याल है कि आपकी बात से मैं यह समझा हूं कि सच्ची स्थिरता हर प्रकार के बाहरी हस्तक्षेप से बहुत ज्यादा उपयोगी है।

मुझे यह भी लगता है कि अगर मैं एक अनुभव में से गुजर हा हूं, तो बच्चों के लिये भी वही बात है, और वास्तव में हम एक साथ मिलकर इस अनुभव से गुजर रहे हैं, हम एक ही नाव के यात्री हैं; केवल भगवान् ही उसका अर्थ और परिणाम जानते हैं।[१]

समस्या पहली नजर में जैसी मालूम होती है उससे कहीं अधिक अर्थ रखती है। यह वास्तव में हर प्रकार के अनुशासन और जबरदस्ती के विरुद्ध बच्चों की प्राणिक शक्तियों का विद्रोह है। साधारण सामान्य तरीका होगा सभी ऊधमी बच्चों को स्कूल से बाहर कर देना और केवल "अच्छे" बच्चों को रखना। लेकिन यह पराजय और निर्बलता है।

अगर तुम **अंततः पूर्ण स्थिरता** में, आंतरिक शक्ति के संचार द्वारा, इस विद्रोह को वश में ला सको, तो वह परिवर्तन और सच्ची समृद्धि बन जाता है। मैं यही कोशिश करना चाहती हूं और आशा करती हूं कि तुम्हारे लिये मेरे काम में सहयोग देते रहना संभव होगा। और अब चूंकि जो करना चाहती हूं तुम केवल वही नहीं, बल्कि उस काम की रचना और प्रक्रिया भी समझ गये, इसलिये मुझे विश्वास है कि हम सफल होकर रहेंगे। तुम्हें असफलताओं के लिये तैयार रहना चाहिये और हताश नहीं होना चाहिये।

प्रकाश को स्वीकार करने और उसके द्वारा परिवर्तित होने से पहले प्राणिक शक्तियां निराशा से पागल होकर लड़ती हैं, यह विशेष रूप से बच्चों में होता है, क्योंकि उनकी तर्क-बुद्धि कम विकसित होती है। लेकिन अंतिम विजय सुनिश्चित है, और हमें टिके रहना तथा प्रतीक्षा करना जानना चाहिये।

(अध्यापक प्रकाश, प्रेम, लचीलापन और कक्षा में माताजी के काम में सहयोग देने के लिये जो कुछ आवश्यक हो उसे प्राप्त कर सकने के लिये प्रार्थना करता है।)

[१] माताजी इस पूरे उद्धरण के नीचे लकीर खींचती हैं और हाशिये पर टिप्पणी चढ़ाती हैं : "यह ठीक है।"

यह सब निरंतर तुम्हारे साथ हैं। उनके प्रति खुले रहो और उन्हें काम करने दो।

(मार्च १९६१)

*

(अध्यापक बच्चों से दलों में काम करवाने की सोचता है। क्या उसे, उनके स्तर के अनुसार, स्वयं दल बनाने चाहिये, या बच्चों को अपनी-अपनी पसंद के अनुसार करने देना चाहिये ?)

उन्हें अपनी सहज अनुभूतियों के साथ दल बनाने दो।

क्या अध्यापक में स्थिरता आवश्यक रूप से कक्षा में भी स्थिरता लायेगी, यानी, "शान्त वातावरण जिसमें हर एक, बिना शोर और विक्षुब्धता के, बिना विकलता और आलस्य के, अपने छन्द और अपनी क्षमताओं के अनुसार काम करेगा . . ." ?

अगर तुम्हारी स्थिरता सर्वांगीण है, यानी, एक साथ आंतरिक और बाह्य है, अगर वह 'भागवत उपस्थिति' की धारणा पर आधारित है, और निर्विकार है, यानी, हर परिस्थिति में सतत और अपरिवर्तनीय है तो वह निःसंदेह सर्वशक्तिमान होगी, और बच्चे अनिवार्य रूप से उसके प्रभाव के आगे झुक जायेंगे और कक्षा, सहज और लगभग स्वाभाविक रूप से, ठीक वही होगी जो तुम चाहते हो कि हो।[१]

(अप्रैल १९६१)

*

(अध्यापक का ख्याल है कि बच्चों में काम के लिये रुचि और काम के लिये आनंद को विकसित करना चाहिये। माताजी उत्तर देती हैं :)

स्कूल, कक्षा और काम के बारे में तुम जो कुछ कहते हो ठीक ही कहते हो, और तुम संगठन के लिये जो प्रयास करना चाहते हो उसके साथ मैं पूरी तरह सहमत हूं।

(माताजी बच्चों को संबोधित करते हुए ये दो संदेश भी लिखती हैं :)

अगर तुम्हें काम नापसंद है, तो तुम जीवन में हमेशा दुःखी रहोगे।

[१] इस संदेश के बाद से कक्षा में स्थिरता निश्चित रूप से आ गयी।

जीवन में सचमुच सुखी होने के लिये, काम पसंद करना चाहिये।

(जुलाई १९६१)

*

इस कक्षा के बच्चों के लिये माताजी के कुछ और संदेश

मेरे प्रिय बच्चो, काम पसंद करो और तुम सुखी रहोगे। सीखना पसंद करो और तुम प्रगति करोगे।

(बच्चों ने अपने अध्यापक के साथ साल-भर का कार्यक्रम बना लिया : फ्रेंच में बोलना, ठीक तरह पढ़ना, बिना भूल किये फ्रेंच लिखना, अच्छी तरह गिनती सीखना, हिसाब के सवालों को समझना, जोड़, बाकी, गुणा, भाग जानना। कक्षा की कापी में माताजी उत्तर देती हैं :)

मेरे प्रिय बच्चो, मैंने तुम्हारी चिट्ठी पढ़ी और मैं इस बात से सहमत हूं कि साल के अंत में तुम यह सब चीजें खूब अच्छी तरह जानो जो तुमने यहां लिखी हैं।

लेकिन एक बात पर मैं तुम्हारा ध्यान खींचना चाहती हूं, क्योंकि यह केंद्रीय और सबसे महत्त्वपूर्ण बात है : वह है कक्षा में तुम्हारी वृत्ति और वह मनोदशा जिसमें तुम स्कूल जाते हो।

कक्षा में अपनी दैनिक उपस्थिति का लाभ उठाने के लिये, तुम्हें वहां सीखने, सतर्क और एकाग्र होने, अध्यापक जो कहते हैं उन पर कान देने और गंभीरता तथा शांति के साथ काम करने की सच्ची इच्छा लेकर जाना चाहिये।

अगर तुम अपना समय चिल्लाने में, विक्षुब्ध होने में और निश्चेतन तथा असभ्य बच्चों की तरह सब कुछ उलट-पुलट देने में बिताते हो, तो तुम अपना समय बरबाद करते हो, अध्यापक का समय नष्ट करते हो और कुछ भी नहीं सीखते। साल के अंत में तुमसे यह कहने के लिये बाधित होऊंगी कि तुम खराब विद्यार्थी हो और तुम एक कक्षा से दूसरी में जाने के योग्य नहीं हो।

कक्षा में सीखने की इच्छा के साथ आना चाहिये, अन्यथा यह समय नष्ट करना है, क्योंकि अगर तुममें एक भी असभ्य हो तो वह बाकी सबको परेशान करने के लिये पर्याप्त है। मैं चाहती हूं कि तुम यह निश्चय करो : तुम अच्छे, शांत, सतर्क बच्चे बनोगे, और अच्छी तरह काम करोगे। इस कापी में तुम्हें मुझे यही वचन देना चाहिये।

और जब तुममें से हर एक, अपनी पूरी सदिच्छा के साथ, लिख ले तो कापी मेरे पास भेज दो ताकि मैं तुम्हें अपने आशीर्वाद दे सकूं।

(१९६१ के आरंभ में)

(बच्चे सीधे नहीं बैठते और बुरी तरह लिखते हैं। माताजी की टिप्पणी :)

बुरी तरह बैठने की अपेक्षा सीधा बैठना अधिक थकाऊ नहीं है। जब तुम सीधे रहते हो, तो शरीर सामंजस्यपूर्ण रूप से विकसित होता है। जब तुम बुरी तरह बैठते हो, तो शरीर विकृत हो जाता है और कुरूप बन जाता है।

घसीटा मारने की अपेक्षा साफ-साफ लिखना ज्यादा थकानेवाला नहीं है। जब गृहकार्य साफ-साफ किया गया हो, तो वह आनंद से पढ़ा जाता है। जब वह खराब अक्षरों में लिखा जाता है, तो वह पढ़ा भी नहीं जा सकता।

जो कुछ करना हो उसे ध्यान देकर करना हर प्रकार की प्रगति का आधार है।

(१९६१)

दिन बीत जाते हैं, सप्ताह बीत जाते हैं, महीने बीत जाते हैं, साल बीत जाते हैं और काल अतीत में विलुप्त हो जाता है। और बाद में, जब वे बड़े हो जाते हैं, जिन्हें अब बालक रहने का परम सौभाग्य प्राप्त नहीं रहता, तो उन्हें इस बात का खेद होता है कि उन्होंने अपना समय खो दिया, वे उसका उपयोग जीना जानने के लिये जो चीजें आवश्यक हैं उन सबको सीखने में कर सकते थे।

(मार्च १९६१)

(८)

१६ से १८ वर्ष के विद्यार्थियों की कक्षा में माताजी की क्रिया

१९६१ में, स्कूल में अध्ययन की पुनर्व्यवस्था के अवसर पर, माताजी ने कहा था कि अगर विद्यार्थी पढ़ाई के रुचिकर विषयों पर सवाल करना चाहें तो वे स्वयं उनके उत्तर देने के लिये तैयार हैं। किसी ने उनसे एक विषय चुन देने के लिये कहा, तो उन्होंने कहा : "मौत"।

यह प्रस्ताव सबके सामने रखा गया। एक फ्रेंच कक्षा ने निम्नलिखित कार्य माताजी के इस प्रस्ताव के उत्तरस्वरूप दिया।

विभिन्न बैठकों में हर एक विद्यार्थी ने स्वयं प्रश्न बनाये और इन प्रश्नों को इकट्ठा करके माताजी के पास भेज दिया गया।

(विद्यार्थी ने माताजी को लिखा और उनके साथ "मौत" पर अध्ययन करने की

स्वीकृति मांगी। माताजी ने मौखिक रूप से अध्यापक को ये आवश्यक निर्देशन दिये।)

विषय है: मौत क्या है?

किस तरह आरंभ किया जाये? अपने भीतर खोज करनी चाहिये, भीतर देखना चाहिये; पुस्तकें पढ़कर जानने की कोशिश नहीं करनी चाहिये। या प्राण और मन में क्या हो रहा है यह ढूंढ़ना नहीं चाहिये: मौत के बारे में तुम्हें क्या लगता है, तुम क्या सोचते हो?

खोज पूरी तरह भौतिक स्तर पर होनी चाहिये: भौतिक दृष्टि से, मौत क्या है?

एकाग्र होना चाहिये और उत्तर अपने अंदर खोजना चाहिये। भाषण नहीं देने चाहिये। एक ही वाक्य बोलना चाहिये। तुम जितने अधिक बुद्धिमान् होते हो, अपने-आपको अभिव्यक्त करने के लिये तुम्हें उतने ही कम शब्दों की जरूरत होती है।

(२७ अप्रैल, १९६८)

("भौतिक दृष्टि से मौत क्या है?" इस प्रश्न पर विद्यार्थियों के उत्तर:

"दिमाग के कोषाणुओं में रक्त-संचार पूरी तरह बंद हो जाता है।"

"जब दिमाग काम करना बंद कर देता है और शरीर का विघटन शुरू हो जाता है, तब मौत होती है।"

"ऊर्जा का स्रोत, या अंतरात्मा की अनुपस्थिति के कारण हर प्रकार का शारीरिक क्रिया-कलाप बंद हो जाता है।"

"मौत के वास्तविक तथ्य से मुझे उस अनुभूति का विचार आता है जिसमें हम बढ़ती हुई ऊर्जा के साथ 'अंतरिक्ष' में उछाले जाते हैं।"

माताजी कक्षा को संबोधित करते हुए उत्तर देती हैं:)

मैंने तुम्हारा भेजा हुआ पत्र मजा लेकर पढ़ा। और यह रहा मेरा उत्तर:

मौत उन कोषाणुओं के विकेंद्रीकरण और छितराव की घटना है जिससे भौतिक शरीर बनता है

चेतना अपने स्वभाव से ही अमर है, और भौतिक जगत् में अभिव्यक्त होने के लिये वह कम या अधिक टिकाऊ रूप धारण करती है।

भौतिक पदार्थ रूपांतर के मार्ग पर है ताकि वह इस चेतना के लिये बहुरूप अभिव्यक्ति की अधिकाधिक पूर्ण और टिकाऊ विधि बन सके।

(१८ मई, १९६८)

*

(इस बार माताजी हर एक प्रश्न का अलग उत्तर देती हैं और अपना उत्तर अध्यापक को भेजती हैं :)

यह रहे तुम्हारे विद्यार्थियों के प्रश्नों के उत्तर। आशा है वे समझ पायेंगे।

अगर कोई कोषाणु अपने व्यक्तित्व के बारे में सचेतन हो जाये तो क्या वह सामूहिक हित की परवाह किये बिना स्वार्थ से काम का खतरा मोल लेता है ?

एक कोषाणु का अपना हित क्या है !

*

क्या विकेंद्रीकरण एक ही बार में हो जाता है या थोड़ा-थोड़ा करके होता है ?

सब कुछ एक ही साथ नहीं छितर जाता; बहुत समय लगता है।

शारीरिक सत्ता की केंद्रीय संकल्पशक्ति सभी कोषाणुओं को एक साथ बनाये रखने की शक्ति को त्याग देती है। यह पहला तथ्य है। किसी-न-किसी कारण से वह (सत्ता) विघटन को स्वीकार लेती है। सबसे शक्तिशाली कारणों में से एक है ऐसे असामंजस्य का भाव जो सुधार से परे है; दूसरा है समन्वय और सामंजस्य के प्रयास को बनाये रखने से विरक्ति। वास्तव में, अनगिनत कारण हैं, लेकिन जबतक कि कोई प्रबल दुर्घटना न हो तबतक विशेष रूप से संबद्धता को बनाये रखने की यह इच्छा, किसी-न-किसी कारण से या अकारण ही, गायब हो जाती है। यही अनिवार्य रूप से मृत्यु के पहले होती है।

क्या हर एक कोषाणु को केंद्र के साथ अपना ऐक्य बनाये रखने के लिये सचेतन होना चाहिये ?

बात ऐसी नहीं है। यह अभी अर्ध-सामूहिक चेतना है, यह कोषाणुओं की व्यष्टिगत चेतना नहीं है।

*

क्या विकेंद्रीकरण हमेशा मौत के बाद ही होता है, या पहले भी शुरू हो सकता है ?

बहुत बार यह पहले शुरू हो जाता है।

कोषाणु हवा में छितर जाते हैं या शरीर में ही ? अगर हवा में छितर जाते हैं तो निश्चय ही शरीर को कोषाणुओं के साथ विलुप्त हो जाना चाहिये ?

स्वभावतः, मौत के बाद शरीर विलीन हो जाता है, लेकिन उसमें बहुत समय लगता है।

*

क्या "कोषाणुओं के छितराव" के इस वाक्यांश में "छितराव" शब्द का कोई विशेष अर्थ है ? अगर है तो क्या है ?

मैंने बिलकुल निश्चयात्मक अर्थ में छितराव शब्द का प्रयोग किया है।

जब शरीर को रचनेवाली एकाग्रता बंद हो जाती है और शरीर विलीन हो जाता है तो जो कोषाणु विशेष रूप से विकसित किये गये थे और जो अपने अंदर स्थित 'उपस्थिति' के प्रति सचेतन बन गये थे, वे बिखर जाते हैं और किसी और संघटन में पैठ जाते हैं जहां, संसर्ग के द्वारा, वे उस 'उपस्थिति' को जगाते हैं जो हर एक में है। और इस तरह संघटन, विकास और छितराव के तथ्य से सारा जड़-पदार्थ विकसित होता है और संसर्ग के द्वारा सीखता है, संसर्ग के द्वारा विकसित होता है, संसर्ग के द्वारा अनुभव प्राप्त करता है।

स्वभावतः, कोषाणु शरीर के साथ विलीन हो जाता है। कोषाणुओं की चेतना अन्य संयोजनों में प्रविष्ट होती है।

(५ जून, १९६८)

*

जब भौतिक सत्ता की संकल्पशक्ति अकारण विलुप्त हो जाती है तो क्या वह भौतिक कारण के बिना होता है या बिना किसी कारण के ?

भौतिक चेतना केवल भौतिक रूप से ही सचेतन होती है; भौतिक सत्ता की संकल्पशक्ति उन कारणों के बिना विलुप्त हो सकती है जिनके बारे में वह खुद सचेतन हो।

समन्वय और सामंजस्य को बनाये रखने के प्रयास से भौतिक सत्ता को विरक्ति कहां से आती है ?

साधारणतः, यह विरक्ति तब पैदा होती है जब सत्ता का एक अंश (कोई महत्त्वपूर्ण

अंश, प्राण या मन) गति करने से एकदम इंकार कर दे। तब यह इनकार, भौतिक रूप में, समय के साथ आनेवाले विघटन के विरुद्ध प्रयास करने की अस्वीकृति में अनूदित होता है।

भौतिक सत्ता की केंद्रीय संकल्पशक्ति में और कोषाणुओं में संपर्क कहां होता है? और किस तरह होता है?

कोषाणुओं में एक आंतरिक रचना या संगठन होता है जो विश्व के संगठन से मेल खाता है। इसलिये समरूप आंतरिक और बाह्य अवस्थाओं में संपर्क होता है...। वह (अवस्था) "बाह्य" नहीं होती, लेकिन व्यक्ति के लिये बाह्य होती है। यानी, कोषाणु को, अपनी आंतरिक संरचना में, संपूर्ण संरचना में स्थित अपने साथ मेल खानेवाली अवस्था से स्पंदन मिलता है। हर एक कोषाणु अलग-अलग दीप्तियों से रचा हुआ है, उसका अपना पूर्ण रूप से ज्योतिर्मय केंद्र होता है, और ज्योति का संपर्क ज्योति से होता है। यानी, संकल्प-शक्ति, ज्योतिर्मय केंद्र, मेल खानेवाली ज्योतियों को छूकर, सत्ता के आंतरिक संपर्क द्वारा कोषाणुओं पर काम करता है। हर एक कोषाणु ब्रह्माण्ड के साथ मेल खानेवाला छोटा-सा जगत् है।

(२५ जुलाई, १९६८)

*

क्या प्रगति के लिये संकल्प समय के साथ आनेवाले विघटन को रोकने के लिये काफी है? शारीरिक सत्ता इस विघटन को किस प्रकार रोक सकती है?

ठीक यही तो है शरीर का रूपांतर: शारीरिक कोषाणु केवल सचेतन ही नहीं, बल्कि सच्ची 'शक्ति-चेतना' के प्रति ग्रहणशील बन जाते हैं; यानी, वे इस उच्चतर 'चेतना' के काम को स्वीकार कर लेते हैं। यही है रूपांतर का काम।

कोषाणु के जड़ पदार्थ पर संकल्प-शक्ति और केंद्रीय प्रकाश, जो भौतिक नहीं है, किस तरह काम करते हैं?

यह ठीक वैसा ही है जैसे यह पूछना: "संकल्प-शक्ति जड़-पदार्थ पर कैसे काम करती है?" सारा जीवन ऐसा ही तो है। इन बच्चों को समझाना चाहिये कि उनका पूरा अस्तित्व ही इस संकल्प-शक्ति की क्रिया का परिणाम है, कि संकल्प-शक्ति के बिना जड़-पदार्थ निष्क्रिय और अचल होगा और ठीक तथ्य यह कि जड़-पदार्थ पर संकल्प-शक्ति के स्पंदन की क्रिया ही जीवन को संभव बनाती है। वरना जीवन होता

ही नहीं। अगर वे एक वैज्ञानिक उत्तर चाहते हैं और यह जानना चाहते हैं कि यह कैसे होता है तो वह ज्यादा कठिन है, लेकिन तथ्य तो है ही, यह तथ्य हर क्षण दिखता है।

(२० जुलाई, १९६८)

*

हम शारीरिक सत्ता के प्रति किस तरह सचेतन हो सकते हैं ?

मानवजाति, लगभग पूरी-की-पूरी, केवल शारीरिक सत्ता के बारे में ही सचेतन है। शिक्षा के साथ-साथ, अपने प्राण और मन के बारे में सचेतन व्यक्तियों की संख्या बढ़ती जा रही है। जहांतक चैत्य पुरुष के प्रति सचेतन होनेवाले मनुष्यों का सवाल है, उनकी संख्या अपेक्षया बहुत कम है।

अगर तुम कहना चाहो : "शारीरिक सत्ता की चेतना को किस तरह जगाया जाये ?" तो शारीरिक शिक्षा का लक्ष्य ठीक यही तो है। शारीरिक शिक्षा ही कोषाणुओं को सचेतन होना सिखाती है। लेकिन दिमाग को विकसित करने के लिये है अध्ययन, निरीक्षण, बुद्धिमत्तापूर्ण शिक्षा, विशेष रूप से निरीक्षण और तर्कणा। और स्वभावतः, चरित्र के दृष्टिकोण से चेतना की शिक्षा के लिये होना चाहिये योग।

क्या शारीरिक सत्ता की केंद्रीय संकल्प-शक्ति का शरीर में कोई विशेष स्थान है ?

दिमाग है।

क्या मरे बिना मौत की अनुभूति हो सकती है ?

निश्चय ही। तुम्हें यौगिक रूप से मौत की अनुभूति हो सकती है; यह अनुभूति भौतिक रूप से भी हो सकती है, बशर्ते कि कुछ ही समय के लिये हो ताकि चिकित्सकों को इतना समय न मिले कि तुम्हें मुर्दा घोषित कर दें।

मौत के बाद सत्ता का कौन-सा अंग इस बात के प्रति सचेतन होता है कि सत्ता मर गयी है ?

सत्ता का जो भी अंग जिंदा रहता है वही समझ लेता है कि शरीर अब नहीं रहा। यह निर्भर है।

हम निश्चिति के साथ कैसे कह सकते हैं कि भौतिक शरीर मर गया है ?

केवल तभी जब वह सड़ने लगे।

विघटन की क्रिया को कैसे रोका या नियंत्रित किया जाये ?

शारीरिक संतुलन को बनाये रखने की सावधानी बरत कर।

जब कोई मरता है तो क्या यह जरूरी है कि उसे शारीरिक यातना हो ?

जरूरी नहीं है।

(२८ सितम्बर, १९६८)

*

मौत की प्रक्रिया को रोकने के लिये हमें अपने दैनिक जीवन में क्या करना चाहिये ?

तरीका यह है : शरीर से अपनी चेतना को खींच लो और उसे गभीर जीवन पर एकाग्र करो ताकि इस गहरी चेतना को शरीर में ला सको।

अगर जीवन में "अहं" का भाव मन के साथ एक हो गया है तो क्या मौत के बाद की सब अनुभूतियां इसी "अहं" को होती हैं, यानी, क्या वह उसके साथ ही जीवन की स्मृतियों को भी बनाये रखता है ? मैं यह मन के बारे में पूछ रहा हूं, क्योंकि मौत के बाद दूसरे अंगों की अपेक्षा यह ज्यादा समय तक बना रहता है।

यह बात सच नहीं है कि मन ज्यादा देर तक बना रहता है। चैत्य चेतना जो शरीर के एक छोटे-से अंश के साथ एक हो गयी थी वह इस छोटे-से भौतिक व्यक्ति में से निकल जाती है। इस चेतना ने जिस ढंग से अपना जीवन गढ़ा है, उसी के अनुपात में वह अपनी बनायी हुई चीज को याद रखती है और स्मृति घटनाओं में चैत्य चेतना के साथ बहुत घनिष्ठ रूप से बंधी होती है। जहां चैत्य चेतना ने घटनाओं में भाग नहीं लिया, उन घटनाओं की स्मृति नहीं रहती। और केवल चैत्य चेतना ही बनी रह सकती है; मन स्मृतियां संजोये· नहीं रखता, यह बात बिलकुल गलत है।

(१ फरवरी, १९६९)

*

(कुछ दिन बाद, इस विद्यार्थी के विषय में अध्यापक के साथ बातचीत करते हुए माताजी, निष्कर्ष के रूप में कहती हैं :)

वास्तव में मौत है ही नहीं।

५

कक्षा की मुखिया को उत्तर

सूत्र

१—कोई महत्त्वाकांक्षा न रखो, और सबसे बढ़कर यह कि किसी चीज का दिखावा न करो, हर क्षण, तुम अधिक-से-अधिक जो हो सकते हो वह बनो।

(२५-२-१९५७)

२—वैश्व अभिव्यक्ति में तुम्हारा क्या स्थान है, यह तुम्हारे लिये परम पुरुष ही ठीक करेंगे।

(२-५-१९५७)

३—परम प्रभु ने अलंघ्य रूप से संसार के वृन्दवाद्य में तुम्हारा स्थान निश्चित कर दिया है, लेकिन वह स्थान जो भी हो, तुम्हें भी अतिमानसिक उपलब्धि की चरम ऊंचाइयों तक चढ़ने का उतना ही अधिकार है जितना औरों को।

(१७-५-१९५७)

४—अपनी सत्ता के सत्य में तुम क्या हो, यह अलंघ्य रूप से निश्चित कर दिया गया है, कोई व्यक्ति या कोई चीज तुम्हें वह होने से नहीं रोक सकती; लेकिन यह तुम्हारे स्वतंत्र चुनाव पर छोड़ा गया है कि तुम वहांतक पहुंचने के लिये कौन-सा रास्ता अपनाओ।

(१९-५-१९५७)

५—ऊपर उठते हुए विकास में हर एक अपनी दिशा चुनने के लिये स्वतंत्र है : वह चाहे तो 'सत्य' के शिखरों की, चरम उपलब्धि की ओर जानेवाली तेज और खड़ी चढ़ाई अपनाये या शिखरों से मुंह मोड़कर, उतरते हुए अनंत जन्मों के अनिश्चित, सरल, सर्पिल मार्ग को स्वीकारे।

(२३-५-१९५७)

६—काल की गति में, बल्कि इसी जीवन में तुम एक ही बार, हमेशा के लिये, अटल रूप में अपना चुनाव कर सकते हो, और तब तुम्हें हर नये अवसर पर उसका अनुमोदन करना होगा; या फिर, अगर आरंभ में तुमने अंतिम निर्णय न लिया हो तो तुम्हें हर क्षण सत्य और मिथ्यात्व के बीच चुनाव करना होगा।

(२३-५-१९५७)

७—लेकिन अगर तुमने आरंभ में अलंघ्य निर्णय नहीं भी लिया, अगर तुम्हें वैश्व इतिहास के उन अपूर्व क्षणों में जीने का सौभाग्य प्राप्त हो जब 'कृपा' उपस्थित हो, धरती पर अवतरित हुई हो तो वह फिर से, कुछ अपवादरूप क्षणों में ऐसा अंतिम चुनाव करने की संभावना प्रदान करेगी जो तुम्हें सीधा लक्ष्य तक ले जायेगा।

(२३-५-१९५७)

पत्रव्यवहार

मधुर मां,

हमारे 'शिक्षा-केंद्र' के विद्यार्थियों को डिप्लोमा या सर्टिफिकेट क्यों नहीं दिये जाते ?

लगभग एक शताब्दी से मानवजाति एक रोग से पीड़ित है जो अधिकाधिक बढ़ता ही दीख रहा है और आज वह अपनी चरम अवस्था पर आ पहुंचा है; इसे हम "उपयोगितावाद'' कहते हैं। ऐसा लगता है कि चीजों और मनुष्यों को, परिस्थितियों और कर्म को अनन्य रूप से उसी एक दृष्टिकोण से विचारा और सराहा जाता है। जिसकी कोई उपयोगिता नहीं उसका कोई मोल नहीं। यह ठीक है कि जो उपयोगी है वह निरुपयोगी से बेहतर है। लेकिन पहले यह समझ लेना चाहिये कि मनुष्य किसे उपयोगी मानता है—उपयोगी किसके लिये, किसके प्रति, किस लिये ?

और, उत्तरोत्तर, वे जातियां जो अपने को सभ्य समझती हैं उसी चीज को उपयोगी कहती हैं जो धन ला सके, कमा सके या पैदा कर सके। सबका निर्णय और मूल्यांकन उसी एक आर्थिक दृष्टिकोण से किया जाता है। मैं इसे ही उपयोगितावाद कहती हूं। और यह रोग बहुत ही संक्रामक है, क्योंकि बच्चे भी इससे अछूते नहीं रहते।

उस उम्र में जब कि सुन्दरता, भव्यता और पूर्णता के सपने संजोये जाने चाहिये, ऐसे सपने जो शायद सामान्य अर्थों से कहीं अधिक उदात्त होते हैं, पर जो निश्चय ही कुण्ठित सामान्य बुद्धि से उच्चतर हैं, आजकल बच्चे पैसे के सपने देखते हैं और उसे कमाने के साधनों के बारे में चिंतातुर रहते हैं।

इसी तरह जब वे अपनी पढ़ाई के बारे में सोचते हैं तो उस सब पर विचार करते हैं जो आगे चलकर उनके लिये उपयोगी हो सके ताकि जब वे बड़े हों तो बहुत-सा धन कमा सकें।

और परीक्षाओं में सफल होने के लिये तैयारी करना उनके लिये सबसे महत्त्वपूर्ण बन गया है, क्योंकि डिप्लोमा, सर्टिफिकेट और उपाधि ही उन्हें उच्च पद प्राप्त करा सकते हैं और इनकी सहायता से धन भी खूब कमा सकते हैं।

उनके लिये पढ़ाई का न कोई और उद्देश्य है, न महत्त्व।

ज्ञान के लिये सीखना, प्रकृति और जीवन के रहस्यों को जानने के लिये पढ़ना, चेतना को विकसित करने के लिये अपने-आपको शिक्षित करना, आत्म-प्रभुत्व पाने के लिये स्वयं को अनुशासित करना, अपनी दुर्बलताओं, अक्षमताओं और अज्ञानताओं को अतिक्रम करने के लिये पढ़ना, जीवन में अधिक उच्च, विशाल, उदार और सच्चे उद्देश्य की ओर बढ़ने के लिये अपने-आपको तैयार करना . . . यह तो वे सोच ही नहीं

सकते, इसे तो वे कपोल-कल्पना ही समझते हैं। बस, एक ही चीज महत्त्वपूर्ण है—व्यावहारिक होना, धन कमाना सीखना और उसके लिये अपने को तैयार करना।

आश्रम का यह 'शिक्षा-केंद्र' उन बच्चों के लिये उपयुक्त स्थान नहीं है जो इस रोग के शिकार हैं। और उनके आगे इस बात को अच्छी तरह प्रमाणित कर देने के लिये ही हम उन्हें किसी प्रकार की परीक्षा के लिये या किसी सरकारी प्रतियोगिता के लिये तैयार नहीं करते और न ही उन्हें कोई डिप्लोमा या उपाधि देते हैं जो बाहरी दुनिया में उनके काम आ सके।

हम यहां केवल उन्हीं बच्चों को चाहते हैं जो एक उच्चतर और श्रेष्ठतर जीवन की अभीप्सा करते हैं, जिनमें ज्ञान और पूर्णता की प्यास है, जो एक पूर्णतर सच्चे भविष्य की ओर उत्कटता से निहारते हैं।

बाकी सबके लिये दुनिया काफी बड़ी है।

(१७-७-१९६०)

मधुर मां,

'शारीरिक शिक्षा-विभाग' में आपने सब आवश्यक व्यवस्था कर रखी है ताकि शारीरिक प्रशिक्षण द्वारा हम सब संभव तरीकों से अपने शरीर को विकसित कर सकें और इस तरह सर्वांगीण रूपांतर के महान् कार्य में भाग लेने को तैयार हो जायें।

हम वर्षों से खेल-कूद और सब तरह के शारीरिक व्यायाम सिखाते आ रहे हैं, लेकिन हम देखते हैं कि हमारे अधिकतर विद्यार्थी इस मूलभूत भाव को नहीं पकड़ पाते। साधारणतया वे मनोरंजन, उत्तेजना, आवेगमय विनोद और सब तरह की पसंद-नापसंद से बहक जाते हैं। परिणामस्वरूप, अनुशासन, सद्भावना, संकल्प, दृढ़ निश्चय, परिश्रम और सच्ची मनोवृत्ति की, जो निश्चय ही हमें प्रगति की ओर ले जाती है, सामान्य कमी रहती है। फुटबॉल साम्मुख्य या कोई उत्तेजक खेल उनमें खूब उत्साह जगाता है पर निष्ठा और एकाग्रता के साथ किया जानेवाला काम जो किन्हीं शारीरिक गुणों पर अधिकार पाने में सहायता करता और अमुक दोषों को सुधार देता, सदा ही बड़े प्रभावहीन ढंग से किया जाता है। विद्यार्थियों की बहुत बड़ी संख्या, चाहे वे छोटे हों या बड़े, इस रोग से ग्रस्त हैं। ऐसे बहुत कम हैं जो शारीरिक शिक्षा का अभ्यास ठीक मनोवृत्ति से करते हैं। इसे सामान्य अभ्यास में उतारना कैसे सिखाया जाये ?

चेतना का तत्त्व ही बदलना होगा, चेतना का स्तर उठाना होगा, चेतना के धर्म को प्रगति करनी होगी।

वस्तुस्थिति वैसी ही है जैसी तुमने बतायी है, क्योंकि अधिकतर बच्चों की चेतना

शरीर में केंद्रित रहती है जो तामसिक होता है और प्रयास कम ही करना चाहता है। वे आराम की जिंदगी चाहते हैं, और उत्तेजना या खेल की प्रतियोगिता या होड़ ही उनमें इतनी-सी रुचि जगा पाती है कि वे प्रयास करने के लिये तैयार हो सकें। इसके लिये, प्राणिक आवेग को जगाना होता है ताकि वह संकल्प में तीव्रता ला सके।

प्रगति की भावना बौद्धिक संकल्प का अंश है जो उन बहुत थोड़े-से लोगों में सक्रिय होती है जो अपने में चैत्य पुरुष के साथ संपर्क में होते हैं; बाद में, उनमें जो मानसिक रूप से विकसित होते हैं और जो अपने विकास की आवश्यकता का अनुभव करते हैं और स्वयं पर काबू पाना चाहते हैं।

मैंने बताया है कि इलाज है चेतना को ज्यादा ऊंचे स्तर तक ले जाना। पर स्वभावतः, यह कप्तानों और प्रशिक्षकों की चेतना से आरंभ करना होगा।

सबसे पहले तो इस बात की स्पष्ट परिकल्पना होनी चाहिये कि वे उनसे क्या पाना चाहते हैं जिनके लिये वे जिम्मेदार हैं; और सिर्फ इतना ही नहीं, उन्हें खुद भी उन गुणों को प्राप्त करना होगा जिनकी वे उनसे अपेक्षा रखते हैं। इसके अतिरिक्त, इन गुणों के साथ-साथ उन्हें अपने चरित्र और कार्य में अत्यधिक धैर्य, सहनशीलता, सद्भावना, समझ और निष्पक्षता विकसित करनी होगी। उनमें न तो पसंद-नापसंद होनी चाहिये, न आकर्षण या घृणा की भावना।

इसलिये यदि हम चाहें कि विद्यार्थी अपनी ओर से इस सच्ची मनोवृत्ति को अपनाएं तो कप्तानों के इस नये दल को श्रेष्ठ लोगों का दल होना चाहिये, ताकि वे उनके सामने अच्छा उदाहरण रख सकें।

अतः, मैं सबसे कहती हूं : सच्चाई से काम में लग जाओ, देर-सवेर बाधाएं दूर हो जायेंगी।

(५-७-१९६१)

मधुर मां,

हमारे शारीरिक प्रशिक्षण के कार्यक्रम में कुछ ऐसी क्रियाएं हैं जो औरों की अपेक्षा अधिक गंभीर होती हैं और एकाग्रता की अपेक्षा रखती हैं; ये सहज ही बच्चों को उबा देती हैं। क्या कप्तानों को अपने दल को इस तरह व्यवस्थित करना चाहिये कि वे जो कुछ सिखायें वह रुचिकर और मनोरंजक हो, या बच्चों को अपने अंदर रुचि पैदा करने की कोशिश करनी चाहिये ?

दोनों चीजें अनिवार्य हैं और, जहांतक हो सके, दोनों को हमेशा रहना चाहिये।

शिक्षक उन्हें जो कुछ सिखायें उसमें थोड़ी-सी कल्पना और आविष्कारशील नमनीयता के साथ कुछ आकर्षक और कुछ अप्रत्याशित मिला देना चाहिये।

अपनी ओर से, बच्चों को, खुद ही प्रगति के लिये संकल्प और अभिरुचि को

संवारते हुए, वे जो कुछ भी करें उसमें सतत रुचि पैदा करनी चाहिये।

जबतक ऐसा न हो जाये तबतक कप्तान बच्चों को उनके व्यायामों की व्यवस्था का थोड़ा-बहुत भार सौंप दें ताकि जो विचार उन्हें सूझते हों, यदि वे ठीक हों तो उनका यथासंभव उपयोग हो सके।

यदि सहयोग और उत्तरदायित्व की भावना बच्चों में जगायी जाये तो वे जो कुछ करते हैं उसमें रुचि लेंगे और उसे खुशी से करेंगे।

(२१-७-१९६१)

मधुर मां,

हम प्रत्येक दिन खेल से पहले और बाद में एक मिनट के लिये मन को एकाग्र करते हैं। इस एकाग्रता के समय हमें क्या करने का प्रयास करना चाहिये ?

पहले, तुम जो कुछ करने जा रहे हो उसे भगवान् को अर्पित करो, ताकि वह समर्पण की भावना से किया जा सके।

बाद में, भगवान् से प्रार्थना करो कि तुम्हारे अंदर प्रगति के संकल्प की वृद्धि हो ताकि तुम उनकी सेवा के अधिकाधिक योग्य यंत्र बन सको।

तुम शुरू करने से पहले नीरवता में आत्मनिवेदन भी कर सकते हो।

और अंत में, भगवान् के प्रति चुपचाप कृतज्ञता अर्पित करो।

मेरा मतलब है कि यह गति हृदय से, दिमाग में किसी शब्द के बिना की जाये।

(२४-७-१९६१)

*

मानव जीवन में सभी कठिनाइयों, सभी विसंगतियों, सभी नैतिक कष्टों का कारण होता है, हर एक के अंदर उपस्थित अहंकार और उसके साथ उसकी कामनाएं, उसकी रुचियां और अरुचियां। निःस्वार्थ काम में भी जिसमें दूसरों की सहायता करनी होती है, जबतक तुम अहं और उसकी मांगों पर विजय पाना न सीख लो, जबतक तुम उसे चुपचाप और शांत रहकर एक कोने में बैठने के लिये बाधित न कर सको, अहंकार हर उस चीज के विरुद्ध प्रतिक्रिया करता है जो उसे पसंद नहीं आती, एक आंतरिक तूफान खड़ा कर देता है जो सतह पर आता है और सारा काम बिगाड़ देता है।

अहंकार पर विजय पाने का यह काम लंबा, धीमा और कठिन है; यह (काम) सतत चौकसी और निरंतर प्रयास की मांग करता है। यह प्रयास कुछ लोगों के लिये ज्यादा सरल होता है और कुछ लोगों के लिये ज्यादा कठिन।

हम यहां आश्रम में यह काम मिलकर श्रीअरविन्द के ज्ञान और उनकी शक्ति की

सहायता से करने के लिये हैं; हम इस कोशिश में हैं कि एक ऐसा समाज चरितार्थ कर जो ज्यादा सामंजस्यपूर्ण; ज्यादा ऐक्यपूर्ण और परिणामस्वरूप, जीवन में ज्यादा सार्थक हो।

जबतक मैं भौतिक रूप से तुम सबके साथ रहती थी, मेरी उपस्थिति ही तुम्हें अहंकार पर यह प्रभुता पाने में सहायता देती थी और इसलिये मुझे व्यक्तिगत रूप से इस विषय में प्राय: बोलने की जरूरत न होती थी।

परंतु अब यह प्रयास हर व्यक्ति के जीवन का आधार होना चाहिये, विशेष रूप से तुममें से उन लोगों के लिये जो जिम्मेदारी की स्थिति में हैं और जिन्हें औरों की देखभाल करनी होती है। नेताओं को हमेशा उदाहरण रखना चाहिये, जो लोग उनकी देख-रेख में हैं उनसे वे जिन गुणों की मांग करते हैं स्वयं उन्हें उन गुणों को आचरण में लाना चाहिये; उन्हें समझदार, धीर, सहनशील, सहानुभूतिपूर्ण होना चाहिये, उनमें ऊष्मा और मैत्रीपूर्ण सद्भावना होनी चाहिये, लेकिन अपने लिये मित्र जुटाने की अहंकारपूर्ण वृत्ति से नहीं, बल्कि उदारता के द्वारा, ताकि वे औरों को समझ सकें और उनकी सहायता कर सकें।

सच्चा नेता होने के लिये अपने-आपको, अपनी रुचियों और पसंदों को भूल जाना अनिवार्य है।

मैं अब तुमसे इसी की मांग कर रही हूं ताकि तुम अपनी जिम्मेदारियों को उस तरह निभा सको जैसे निभाना चाहिये। और तब तुम अनुभव करोगे कि जहां तुम अव्यवस्था और अनैक्य देखते थे, वे गायब हो गये हैं और उनकी जगह सामंजस्य, शांति और आनंद ने ले ली है।

तुम जानते हो कि मैं तुमसे प्रेम करती हूं और मैं तुम्हें सहारा देने, तुम्हारी सहायता करने और रास्ता दिखाने के लिये हमेशा तुम्हारे साथ हूं।

आशीर्वाद।

(२६-८-१९६९)

मधुर मां,

कुछ बच्चे मुझसे पूछते हैं कि यहां छुट्टियां बिताने का सबसे अच्छा तरीका क्या है।

यह कोई रोचक काम करने का, कुछ नया सीखने का या अपने स्वभाव या पढ़ाई में किसी कमी को सुधारने-संवारने का बहुत अच्छा अवसर है।

यह किसी काम का स्वतंत्र चुनाव करने का और इस तरह अपनी सत्ता की सच्ची क्षमताओं को खोजने का बहुत अच्छा मौका है।

आशीर्वाद। (१-११-१९६९)

मधुर मां,

क्या आपको यह पसंद है कि छुट्टियों में विद्यार्थी अपने माता-पिता के पास जायें या कहीं बाहर जाकर छुट्टियां बितायें ?

यह कहा जा सकता है कि छुट्टियों में बच्चे जो कुछ करते हैं वह इसका प्रमाण है कि वे क्या हैं और अपने यहां के निवास से कितना लाभ उठा पाते हैं। इस तरह, हर एक के लिये बात अलग-अलग होती है और उसकी प्रतिक्रिया का गुण उसके चरित्र का गुण सूचित करता है।

सच पूछो तो, जो विद्यार्थी कुछ और करने की अपेक्षा यहां रहना पसंद करते हैं, वे ही यहां की शिक्षा से पूरी तरह लाभ उठाने के योग्य हैं और उनमें जिस आदर्श की शिक्षा यहां दी जाती है उसे पूर्णतया समझने की क्षमता है।

आशीर्वाद।

(२-११-१९६९)

मधुर मां,

क्या इसका अर्थ यह है कि जो बाहर जाते हैं वे उस आदर्श को जिसकी उन्हें यहां शिक्षा दी जाती है पूरी तरह समझने में असमर्थ हैं, या हम उन्हें अपना आदर्श समझाने में असमर्थ हैं ?

मैं यह नहीं कहती कि यहां की शिक्षा पूर्ण और वैसी ही है जैसी होनी चाहिये। पर यह निश्चित है कि विद्यार्थियों की एक अच्छी संख्या बहुत रुचि रखती है और अच्छी तरह समझती है कि यहां कुछ ऐसा है जो और कहीं नहीं मिल सकता।

अतः, ऐसे विद्यार्थियों को ही यहां रहना चाहिये, और चूंकि मांग पूरी करने के लिये हमारे पास जगह की कमी है, इसलिये चुनाव करना आसान रहेगा।

आशीर्वाद।

(३-११-१९६९)

मधुर मां,

क्या यह आदर्श उन्हें सिखाया जा सकता है जो इसे नहीं समझ सकते, और इसे उन्हें कैसे सिखाया जाये ? क्या हम, शिक्षक और प्रशिक्षक, इस कठिन कार्य को करने के योग्य हैं ?

हम जो सिखाना चाहते हैं वह सिर्फ एक मानसिक आदर्श नहीं है, वह है एक नये जीवन की परिकल्पना और चेतना की एक उपलब्धि। सभी के लिये यह उपलब्धि

नयी है, और इसे दूसरों को सिखाने का एक ही सच्चा तरीका है : इस नयी चेतना के अनुसार खुद जीना और इसके द्वारा अपने-आपको रूपांतरित होने देना। उदाहरण से बड़ी कोई और सीख नहीं है। दूसरों से कहना : "अहंकारी मत बनो," कुछ अर्थ नहीं रखता, पर यदि कोई सब प्रकार के अहं से मुक्त हो तो वह औरों के लिये शानदार उदाहरण बन जाता है; और जो 'परम सत्य' के अनुसार कार्य करने की सच्ची अभीप्सा करता है, वह अपने आस-पास रहनेवालों पर एक छूत का-सा प्रभाव डालता है। अतएव उन सबका, जो प्रशिक्षक या अध्यापक हैं, पहला कर्तव्य है स्वयं उन गुणों का उदाहरण बनना जो वे दूसरों को सिखाना चाहते हैं।

और यदि, इन शिक्षकों और प्रशिक्षकों में कुछ ऐसे हैं जो इस पद के योग्य नहीं हैं, क्योंकि वे अपने चरित्र के द्वारा बुरे उदाहरण रखते हैं, तो उनका पहला कर्तव्य है अपने चरित्र और अपनी क्रिया को बदलकर योग्य बनना; और कोई उपाय नहीं है !

आशीर्वाद।

(४-११-१९६९)

मधुर मां,

आपके विचार में आश्रम के किसी शिक्षक या प्रशिक्षक में कौन-से गुण आवश्यक हैं ? यदि कोई शिक्षक अनुभव करे कि उसमें इस काम को ठीक तरह करने की योग्यता नहीं है तो क्या यह अच्छा न होगा कि वह इस काम को छोड़ दे ? क्योंकि हमारी वजह से बच्चों को हानि होती है, है न ?

यहां के शिक्षकों और प्रशिक्षकों में चाहे कितनी खामियां क्यों न हों, वे बाहर के शिक्षकों से सदा अच्छे होंगे। कारण जो यहां काम करते हैं वे पारिश्रमिक के लिये नहीं करते, वरन् एक उदात्त आदर्श की सेवा के लिये काम करते हैं। यह जानी हुई बात है कि हर एक, उसमें चाहे जो गुण और क्षमताएं क्यों न हों, उस आदर्श की सिद्धि की ओर निरंतर प्रगति कर सकता है और करते जाना चाहिये जो अब भी वर्तमान मानव उपलब्धियों से बहुत ऊंचा है।

पर यदि कोई सचमुच अच्छे-से-अच्छा करने को उत्सुक है तो वह काम करते-करते ही प्रगति करता जाता है और अधिक-से-अधिक अच्छा करना सीखता है।

आलोचना कभी-कदास ही उपयोगी होती है, वह सहायता करने के बदले निरुत्साहित ही अधिक करती है। हर शुभ संकल्प को बढ़ावा देना चाहिये, क्योंकि ऐसी कोई प्रगति नहीं जो धैर्य और सहनशीलता से साधित न हो सके।

मूल बात तो यह है कि व्यक्ति में यह विश्वास होना चाहिये कि चाहे जितना उपलब्ध हो चुका हो, फिर भी उसके अंदर इच्छा हो तो वह हमेशा ज्यादा अच्छा कर सकता है।

जिस आदर्श को प्राप्त करना है वह है आत्मा और चरित्र की अचूक समता, हर कसौटी पर अटल धीरता और, स्वभावतः, पसंद-नापसंद और कामना का अभाव।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जो सिखाता है उसके काम की उचित पूर्ति के लिये अनिवार्य शर्त है अहंकार का अभाव; और ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो इस प्रयास की आवश्यकता से बच सके।

लेकिन, मैं दोहराती हूं, और कहीं की अपेक्षा, यह प्रयास यहां कहीं ज्यादा आसानी से किया जा सकता है।

आशीर्वाद।

(५-११-१९६९)

मधुर मां,

जो साधारण जीवन के सुख-भोग से, जैसे, सिनेमा, होटल, सामाजिक जीवन आदि से आकर्षित होते हैं, क्या उन्हें हमारे स्कूल में पढ़ने के लिये आना चाहिये ? क्योंकि, ऐसा लगता है कि सामान्यतया, हमारे अधिकतर विद्यार्थी इसीलिये अपनी छुट्टियां बाहर बिताने जाते हैं, और जब वे वापिस आते हैं तो उन्हें हर बार अपने-आपको यहां के अनुकूल बनाने में काफी समय लग जाता है।

जो साधारण जीवन और उसकी उत्तेजना से बहुत ज्यादा आसक्त हों उन्हें यहां नहीं आना चाहिये, क्योंकि वे विस्थापित-से रहते हैं और अव्यवस्था पैदा करते हैं।

किंतु उनके यहां आने से पहले यह जानना कठिन है, क्योंकि इनमें से अधिकतर लोग बहुत छोटे होते हैं, और उनका चरित्र अभी कच्चा होता है।

लेकिन ज्यों ही दुनिया का पागलपन उन्हें अपनी पकड़ में लेने लगे, तो उनके अपने लिये और दूसरों के लिये, यही अच्छा होगा कि वे अपने माता-पिता के पास, और अपनी आदतों की ओर लौट जायें।

आशीर्वाद।

(१४-११-१९६९)

मधुर मां,

यहां बहुत-से बच्चे हैं जिन्हें उनके माता-पिता ने केवल शिक्षा के लिये यहां भेजा है। यह भावना उनके अंदर अच्छी तरह घर कर गयी है कि वे सिर्फ विद्यार्थी हैं और अध्ययन पूरा होने के बाद यहां से चले जायेंगे।

जब हम जानते हैं कि इन बच्चों के सामने यह विचार स्पष्ट है कि वे क्या करना चाहते हैं तो क्या उन्हें अधिकारियों की ओर से यहां से चले जाने एवं कहीं और जा कर अध्ययन करने की सलाह देना अच्छा नहीं होगा ? या, चूंकि एक बार वे स्वीकार कर लिये गये हैं, अतः उन्हें अपना अध्ययन यहीं जारी रखने और पूरा करने देना चाहिये ?

दुर्भाग्यवश, बहुत-से मां-बाप ऐसे हैं जो अपने बच्चों को यहां इसलिये नहीं भेजते कि उन्हें विशेष शिक्षा मिलेगी, बल्कि इसलिये कि आश्रम निःशुल्क शिक्षा देता है; फलस्वरूप उन्हें और कहीं की अपेक्षा यहां बहुत कम खर्च करना पड़ता है।

पर इस सौदेबाजी के लिये बेचारे बच्चों को जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता, और यदि वे इस योग्य हों तो हमें उन्हें अपने-आपको पूर्णतः विकसित करने का अवसर देना चाहिये। इसलिये हम यहां उन्हें स्वीकार कर लेते हैं जिनमें कुछ संभावना देखते हैं। और जब हमें इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जाता है कि वे यहां की शिक्षा से कोई लाभ नहीं उठा पा रहे, केवल तभी हम उन्हें यहां से चले जाने की छूट देने के लिये तैयार हो जाते हैं और वह भी तब जब वे स्वयं जाना चाहें।

आशीर्वाद।

(२५-११-१९६९)

मधुर मां,

जो विद्यार्थी यह जानते हैं कि उन्हें अपनी शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद यहां से चले जाना है, क्या उन्हें समय-समय पर बाहर नहीं जाते रहना चाहिये, ताकि बाद में वे स्वयं को साधारण जीवन के अनुरूप ढाल सकें ?

साधारण जीवन को अपनाने में कोई कठिनाई नहीं होती, इस गुलामी के सामने तो लोग जन्म से ही घुटने टेके हुए हैं, सभी इसे परंपरागत रोग की तरह ढोते रहते हैं। जिनका जन्म ही मुक्त होने के लिये हुआ है उन्हें भी इस विरासत से सच्ची मुक्ति पाने के लिये सतत और कठिन संघर्ष करना होगा।

आशीर्वाद।

(२६-११-१९६९)

मधुर मां,

जो छात्र अपनी शिक्षा पूरी करके यहां से बाहर चले जायेंगे उनसे आप क्या आशा करती हैं ? निश्चय ही उनमें और साधारण लोगों में काफी अंतर होना चाहिये। क्या होगा वह अंतर ?

प्राय:, इनमें से अधिकतर जब अपने-आपको सामान्य जीवन में पाते हैं तो इस अंतर को समझ लेते हैं और वे जो कुछ खो बैठे हैं उसके लिये पछताते हैं। उनमें से कम ही लोगों में इतना साहस होता है कि वे साधारण परिस्थितियों से प्राप्त सुविधाओं से मुंह मोड़ सकें, पर दूसरे भी जीवन का सामना उतनी अचेतना से उन लोगों की तरह नहीं करते जिनका आश्रम से कभी संपर्क नहीं रहा।

हम जो काम कर रहे हैं वह किसी बदले की आशा से नहीं, बल्कि मानवता की प्रगति में सहायता पहुंचाने के लिये है।

आशीर्वाद।

(१८-११-१९६९)

मधुर मां,

आपके विचार में किस हद तक छात्रों पर अनुशासन थोपना शिक्षक या प्रशिक्षक का कर्तव्य है?

स्पष्टत:, छात्रों को अनियमितता, अशिष्टता या लापरवाही से रोकना अनिवार्य है; दुर्भावनापूर्ण और अहितकर शरारतें भी सहन नहीं की जा सकतीं।

पर एक आम और सामान्य अपवादरहित नियम यह है कि शिक्षकों को, विशेषकर शारीरिक शिक्षा देनेवाले प्रशिक्षकों को सदा उन गुणों का जीवंत उदाहरण बनना चाहिये जिनकी वे छात्रों से मांग करते हैं; अनुशासन, नियमितता, शिष्ट व्यवहार, साहस, अध्यवसाय, प्रयास में धीरता शब्दों की अपेक्षा उदाहरण से अधिक अच्छी तरह सीखे जाते हैं। और यह तो पक्की बात है: बच्चों के सामने वह कभी मत करो जिसके लिये तुम उन्हें मना करते हो।

बाकी के लिये, हर स्थिति का अपना समाधान होता है, कौशल और विवेक से काम लेना चाहिये।

इसीलिये शिक्षक या प्रशिक्षक बनना अनुशासनों में सबसे अच्छा अनुशासन है, यदि कोई उसका पालन करना जाने।

आशीर्वाद।

(२०-११-१९६९)

बच्चों को यह समझकर शरारत छोड़नी चाहिये कि शरारती होना शर्म की बात है, न कि सजा के डर से।[१]

[१] बाद में माताजी ने यह जोड़ दिया: "यह पहला कदम है। जब वह इतनी दूर तक आ गया है तो वह और आगे प्रगति कर सकता है और अच्छा बनने का आनंद जान सकता है।"

पहली अवस्था में, वह सचमुच उन्नति करता है।

दूसरी में, वह मानव चेतना में एक पग और नीचे उतर जाता है, क्योंकि भय चेतना का अध:पतन है।

(२१-११-१९६९)

मधुर मां,

क्या शिक्षक या प्रशिक्षक का उत्तरदायित्व स्कूल या खेल के घंटों के साथ समाप्त हो जाता है ?

मैं यह इसलिये पूछ रही हूं क्योंकि साधारणतया हमारे बच्चे सड़कों पर बहुत भद्दा आचरण करते हैं। सड़क पर मनमाने ढंग से चलते हैं, बीच सड़क पर खड़े होकर गप्पें लगाते हैं, और सबसे जटिल समस्या तो तब खड़ी होती है जब वे बिना बत्ती या ब्रेक के साइकिल चलाते हैं, या फिर एक ही साइकिल पर दो-दो सवार हो जाते हैं। इससे हम में से किसी का कोई सरोकार नहीं होता, क्योंकि यह काम के घंटों के बाद होता है।

और चूंकि इसे बंद करने के लिये कोई कदम नहीं उठाता अत: नियम-पालन के प्रति उदासीनता इतनी बढ़ गयी है कि जिम्मेदार लोग भी इन नियमों की अवहेलना करते हैं।

ऐसी परेशान करनेवाली स्थिति का सबसे अच्छा इलाज है, जब सब बच्चे इकट्ठे हों (संभवत: खेल के मैदान में), तब उन्हें इस विषय पर छोटा-सा भाषण दिया जाये कि सड़कों पर कैसा आचरण करना चाहिये--क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। यदि उन्हें यह सब दिलचस्प बनाकर बताया जाये, और हो सके तो विनोदपूर्ण ढंग से, तो निश्चय ही इसका असर होगा।

आशीर्वाद।

(२१-११-१९६९)

मधुर मां,

क्या इसका अर्थ यह हुआ कि एक बार छात्रों को यह समझाने के बाद कि सड़क पर कैसा आचरण करना चाहिये, काम के घंटों के बाद किये गये उनके व्यवहार के प्रति हमारा कोई उत्तरदायित्व नहीं रह जाता ?

जिस घटना को तुमने देखा न हो उसमें हाथ डालना कठिन है। गप्पी की बात हमेशा अनिश्चित रहती है। पर यदि कोई प्रशिक्षक अपने किसी छात्र के अशिष्ट आचरण के समय स्वयं उपस्थित हो, तो उसका बीच में पड़ना समयोचित होगा, निश्चय ही लेकिन

इस शर्त पर कि छात्र के प्रति उसका व्यवहार स्नेह और सद्भावना से भरा हो।

आशीर्वाद।

(२२-११-१९६९)

मधुर मां,

क्या आप यह ठीक नहीं समझतीं कि बच्चों को आश्रम के लिये कोई निःस्वार्थ काम करना सिखाना हमारी शिक्षा के कार्यक्रम का अंग होना चाहिये, कम-से-कम सप्ताह में एक बार ?

निःस्वार्थ काम करना सदा ही अच्छा होता है। पर यह और भी अच्छा होगा यदि काम मनोरंजक भी हो, उबा देनेवाला नहीं।

आशीर्वाद।

(२६-११-१९६९)

मधुर मां,

हर साल हम ए-१ और ए-२ दलों के सर्वश्रेष्ठ छात्रों को विशेष पुरस्कार देते हैं। इस वर्ष एक लड़के ने साल-भर बहुत अच्छा काम किया, लेकिन इन छुट्टियों में वह अपने माता-पिता के पास चला गया और उसने २ दिसंबर के खेलों के प्रदर्शन में भाग नहीं लिया। क्या आपके विचार में उसे इस वर्ष का पुरस्कार देना उचित होगा ?

यह इस पर निर्भर है कि वह यहां से गया कैसे : उसने अपने माता-पिता की आज्ञा का पालन किया है या वह स्वयं ही जाना चाहता था। यदि वह स्वयं जाना चाहता था तो, उसके बाह्य गुण कुछ भी क्यों न हों, उसे यह पुरस्कार न देना ही उचित होगा, क्योंकि देने का अर्थ होगा हम आंतरिक वृत्ति और विद्यार्थी के द्वारा नयी सृष्टि के लिये कल के मानव तैयार करने के लक्ष्य—जिसका हम अनुसरण कर रहे हैं—के बोध को कोई महत्त्व नहीं देते।

आशीर्वाद।

(९-१२-१९६९)

मधुर मां,

क्या बच्चों को काम करने और उनमें रुचि जगाने के लिये कोई पुरस्कार या इनाम देना अभीष्ट है ?

यह तो स्पष्ट है कि बच्चों के लिये यह श्रेयस्कर होगा कि वे अपनी चेतना के विकास

के लिये अध्ययन करें और उन विषयों के बारे में सीखें जिन्हें वे नहीं जानते; लेकिन उन्हें पुरस्कार देने में कोई हर्ज नहीं जो विशेष रूप से अध्ययनशील, अनुशासन में रहनेवाले और काम में एकाग्र रहे हों।

आशीर्वाद।

(१७-१२-१९६९)

मधुर मां,

क्या आप यह ठीक समझती हैं कि यहां शिक्षक या प्रशिक्षक बनने के लिये, खासकर बच्चों का प्रशिक्षक बनने के लिये, अमुक अवधि तक आश्रम में रहना आवश्यक है ?

इसके लिये चेतना की एक खास वृत्ति का होना आवश्यक है—और दुर्भाग्यवश, आश्रम में कई वर्ष रह लेने पर भी वह यथार्थ वृत्ति हमेशा नहीं आती।

सच पूछो तो, शिक्षकों को जांच-परखकर नियुक्त करना चाहिये और देखना चाहिये कि वे इस यथार्थ वृत्ति को प्राप्त करके अपने-आपको अपने काम की आवश्यकता के अनुरूप ढाल सकते हैं या नहीं।

आशीर्वाद।

(१८-१२-१९६९)

मधुर मां,

"चेतना की एक खास वृत्ति" से आपका क्या मतलब है ?

चेतना की जो वृत्ति अपेक्षित है वह है अंतर की यह निश्चिति कि, जो कुछ जानना है उसकी तुलना में, मनुष्य कुछ नहीं जानता; और यह कि सिखाने में समर्थ हो सकने के लिये हर क्षण सीखने को तैयार रहना चाहिये। यह पहली अनिवार्य बात है।

एक दूसरी है। बाह्य जीवन, जैसा कि हम उसे जानते हैं, कम या अधिक रूप में मिथ्या आभास है और यह भी कि हमें 'सत्य' की अभीप्सा को सतत जलाये रखना चाहिये।

आशीर्वाद।

(१९-१२-१९६९)

मधुर मां,

यहां माता-पिता और अभिभावकों की क्या भूमिका है ? छात्रों की अधिक अच्छी शिक्षा में वे किस तरह मदद दे सकते हैं ?

यहां, माता-पिता या अभिभावकों का पहला कर्तव्य है अपने बच्चों की दी जानेवाली शिक्षा का उदाहरण या शब्दों के द्वारा विरोध न करें।

निश्चय ही, जो सबसे अच्छा काम वे कर सकते हैं वह यह है कि बच्चों को आज्ञापालन करने और अनुशासन में रहने के लिये प्रोत्साहित करें।

आशीर्वाद।

(२४-१२-१९६९)

मधुर मां,

वेश-भूषा, फैशन और गहने के बारे में आपकी क्या राय है ?

आपके विचार में आश्रम-जीवन में सुसंस्कृत अभिरुचि कैसी होनी चाहिये ?

सौभाग्यवश, मेरी कोई राय नहीं।

मेरे लिये सुसंस्कृत रुचि का अर्थ है सरल और सच्चा होना।

आशीर्वाद।

(४-१-१९७०)

मधुर मां,

आपने हमें जो स्वतंत्रता दे रखी है उसे व्यवस्थित करना बच्चों को कैसे सिखाया जाये ?

बच्चों को तो सभी कुछ सीखना है। यही उनका मुख्य काम होना चाहिये ताकि वे अपने-आपको उपयोगी और सृजनशील जीवन के लिये तैयार करें।

साथ-ही-साथ, जैसे-जैसे वे बड़े होते जायें, उन्हें अपने अंदर खोज करनी चाहिये कि वह चीज या चीजें कौन-सी हैं जिनमें वे सबसे ज्यादा रुचि लेते हैं और जिन्हें वे अच्छे ढंग से कर सकते हैं। सुप्त क्षमताएं होती हैं जिन्हें विकसित करना चाहिये। ऐसी क्षमताएं भी होती हैं जिन्हें खोजा जा सकता है।

बच्चे में कठिनाइयों पर विजय पाने की चाह जगानी चाहिये और यह भी कि यह (विजय) जीवन को विशेष मूल्य देती है; जब व्यक्ति ऐसा करना जान ले तो वह सदा के लिये अवसाद का नाश कर देता है और जीवन में नयी रुचि पैदा कर देता है।

हम प्रगति करने के लिये धरती पर हैं और हमें सब कुछ सीखना है।

(१४-१-१९७२)

मधुर मां,

कल आपने लिखा था : "सुप्त क्षमताएं होती हैं जिन्हें विकसित करना

चाहिये। ऐसी क्षमताएं भी होती हैं जन्हें खोजा जा सकता है।''

इन क्षमताओं की खोज में शिक्षक या प्रशिक्षक की क्या भूमिका है?

शिक्षकों को एक किताब नहीं बनना चाहिये जो स्वभाव और चरित्र का भेद किये बिना, सबके लिये एक समान, ऊंची आवाज से पढ़ी जाये। शिक्षक का पहला कर्तव्य है कि वह छात्र को अपने-आपको जानने में जिस चीज के योग्य है उसकी खोज करने में मदद दे।

इसके लिये उसके खेलों को, वह सहज और स्वाभाविक रूप से जिन क्रिया-कलापों की ओर आकर्षित होता है और यह भी कि वह क्या सीखना पसंद करता है, क्या उसकी बुद्धि सजग है या नहीं, उसे कैसी कहानियां अच्छी लगती हैं, कौन-से कामों में वह रस लेता है, कौन-सी मानवीय उपलब्धियां उसे आकर्षित करती हैं, ये सब उसे ध्यान में रखना होगा।

शिक्षक को यह पता लगाना होगा कि जिन बच्चों का उस पर उत्तरदायित्व है उनमें से हर बच्चा किस श्रेणी का है। और सतर्क निरीक्षण के पश्चात् यदि उसे दो या तीन असाधारण बच्चे मिल जायें जिनमें जानने की प्यास हो, प्रगति के लिये लगन हो, तो उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि जो शक्तियां उनका व्यक्तिगत विकास साधित करती हैं उनमें चुनाव की स्वतंत्रता देते हुए वह इस उद्देश्य के लिये उन शक्तियों का उपयोग करने में उनकी मदद करे।

एक साथ बैठे श्रेणी के बच्चों को एक ही पाठ पढ़ाने का पुराना तरीका, निश्चय ही मितव्ययी और आसान है, पर साथ ही वह नितांत प्रभावहीन भी है, और इस तरह सबका समय बरबाद होता है।

(१५-१-१९७२)

मधुर मां,

आपने लिखा है: "सतर्क निरीक्षण के पश्चात् यदि उसे (अध्यापक को) दो या तीन असाधारण बच्चे मिल जायें जिनमें जानने की प्यास हो, प्रगति के लिये लगन हो तो उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि जो शक्तियां उनका व्यक्तिगत विकास साधित करती हैं उनमें चुनाव की स्वतंत्रता देते हुए वह इस उद्देश्य के लिये उन शक्तियों का उपयोग करने में उनकी मदद करे।''

क्या आप यह कहना चाहती हैं कि चुनाव की स्वतंत्रता सिर्फ असाधारण बच्चों को ही दी जानी चाहिये? और दूसरों को?

मैंने चुनाव की स्वतंत्रता असाधारण छात्रों को देने की बात इसलिये कही है कि यदि सचमुच तुम पूर्णतः विकसित होने में उनकी मदद करना चाहो तो उनके लिये यह नितांत अपरिहार्य है।

निस्संदेह, तुम सभी बच्चों को चुनाव की स्वतंत्रता दे सकते हो और यह उनके यथार्थ स्वभाव को जानने का एक अच्छा साधन है; पर उनमें से अधिकतर आलसी और पढ़ाई में कम रुचि रखनेवाले होंगे। लेकिन, दूसरी ओर, हो सकता है कि वे हाथ के काम में दक्ष हों और स्वेच्छा से उन वस्तुओं को बनाना सीखें। इसे भी प्रोत्साहन मिलना चाहिये। इस तरह बच्चे समाज में अपना ठीक-ठीक स्थान खोज पायेंगे और जब बड़े होंगे तो उस स्थान को भरने के लिये तैयार होंगे।

सभी को यह सिखाना चाहिये कि वे जो कुछ करें अच्छी तरह करने के आनंद से करें, चाहे वह बौद्धिक काम हो या कलात्मक या शारीरिक, और विशेषकर यह सिखाना चाहिये कि काम कैसा भी क्यों न हो, यदि उसे यत्न और कुशलता से किया जाये तो उसकी अपनी गरिमा है।

(१६-१-१९७२)

मधुर मां,

क्या आपके विचार में असाधारण बच्चों की शक्तियों को उनकी विशेष प्रतिभा के काम में लगाना चाहिये या उन्हें पूर्ण विकास की ओर मोड़ना अधिक अच्छा होगा ?

यह पूरी तरह बच्चे और उसकी क्षमताओं पर निर्भर है।

(१८-१-१९७२)

मधुर मां,

एक बार मैंने आपसे पूछा था कि बच्चों को आश्रम के लिये कोई निःस्वार्थ काम करना सिखाना भी हमारी शिक्षा के कार्यक्रम का अंग होना चाहिये या नहीं, कम-से-कम सप्ताह में एक बार, और आपने कहा था :

"निःस्वार्थ काम करना सदा ही अच्छा होता है। पर यह और भी अच्छा होगा यदि काम मनोरंजक भी हो, ऊबा देनेवाला नहीं।"

क्या आप कोई सुझाव देंगी कि इसे हमारे कार्यक्रम में कैसे रखा जाये ?

यदि बच्चे यह देख सकें कि कौन-कौन से काम हैं जिन्हें वे कर सकते हैं, तो उनमें कोई-न-कोई काम करने की रुचि जगेगी और यदि वे सचमुच समझदार हों तो यह उनके लिये खेल की तरह मनोरंजक बन जायेगा।

(१८-१-१९७२)

मधुर मां,

जब आपने कहा था कि बच्चों के खेलों को ध्यान से देखना चाहिये[1], तब आपका आशय कितनी उम्र के बच्चों से था ?

यह पूरी तरह बच्चों पर निर्भर है। कुछ तो सात साल की उम्र में ही सजग होते हैं, कुछ काफी समय लेते हैं।

महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि बच्चों को खुद को देखने और परखने का अवसर दिया जाये।

मां, सात साल से लेकर कितने साल तक ?[2]

कह सकते हो करीब-करीब अठारह साल की उम्र तक। यह तो बच्चे-बच्चे पर निर्भर है। ऐसे बच्चे होते हैं जो चौदह या पंद्रह साल की उम्र में पूर्णतः विकसित हो जाते हैं। हर एक के लिये बात अलग होगी। यह व्यक्ति-व्यक्ति पर निर्भर है...।

(१८-१-१९७२)

मधुर मां,

आपने लिखा है: "शिक्षक को यह पता लगाना होगा कि उस पर जिन बच्चों का उत्तरदायित्व है उनमें से हर बच्चा किस श्रेणी का है।"

बच्चों की श्रेणी को कैसे पहचाना जाये ?

उनका रहन-सहन देखकर।

बच्चों को श्रेणीबद्ध करने के लिये उनके चरित्र को, उनकी आदतों और प्रतिक्रियाओं के निरीक्षण द्वारा जानना होगा।

शिक्षक को पाठ सुनाने का यंत्र नहीं बनना चाहिये, उसे मनोवैज्ञानिक और निरीक्षक बनना होगा।

(१९-१-१९७२)

मधुर मां, क्या समान स्तर के बच्चों को एक ही दल में इकट्ठा रखना चाहिये ?

इसके अपने लाभ और असुविधाएं, दोनों हैं। छात्रों के दल इस आधार पर बनाने

[1] १५ जनवरी, १९७२ की चिट्ठी।
[2] मौखिक प्रश्न और उत्तर।

चाहिये कि तुम उन्हें क्या दे सकते हो और तुम्हारे पास क्या सुविधाएं हैं। व्यवस्था नमनीय होनी चाहिये ताकि आवश्यकता के अनुसार उसे सुधारा जा सके।

एक अच्छा शिक्षक बनने के लिये गुरु की सूक्ष्म दृष्टि और उनका ज्ञान होना चाहिये और साथ ही सब कसौटियों के लिये धैर्य।

(१९-१-१९७२)

मधुर मां,

आपने कहा है: "शिक्षकों का पहला कर्तव्य है कि वह छात्रों को अपने-आपको जानने में मदद दे।"

हम किस तरह अपने-आपको जानने में छात्र की मदद कर सकते हैं? उसके लिये क्या यह जरूरी नहीं है कि हम खुद उच्चतर चेतना के अमुक स्तर तक पहुंच चुके हों?

हां, जरूर।[१]

शिक्षक की मनोवृत्ति होनी चाहिये प्रगति के लिये सतत संकल्प, वह बच्चों को जो सिखाना चाहता है केवल उसी को ज्यादा अच्छी तरह जानने के लिये ही नहीं, बल्कि उससे भी बढ़कर वे क्या बन सकते हैं यह दिखाने के लिये उसका जीवंत उदाहरण बनना।

(पांच मिनट के ध्यान के बाद) शिक्षक बच्चों से जो बनने की अपेक्षा रखता है उसे उसका जीता-जागता उदाहरण बनना चाहिये।

(१९-१-१९७२)

मधुर मां,

क्या छात्रों को अपने-आपको जानना सिखाने के लिये यही एक तरीका है?[२]

ठीक तरीका बस यही है। यदि शिक्षक उनसे कहें: "झूठ नहीं बोलना चाहिये" और वह खुद झूठ बोले; "गुस्सा नहीं करना चाहिये" और वह स्वयं गुस्सा करे—तो इसका फल क्या होगा? बच्चे न केवल अध्यापक पर विश्वास करना छोड़ देंगे, बल्कि उस पर भी जो वह सिखाता है...

[१] मौखिक उत्तर (यही वाक्य)।
[२] मौखिक प्रश्न और उत्तर।

मां, जो कुछ आप लिखती हैं मैं उसे हर रोज टंकित कर लेती हूं और 'प' उसे और अध्यापकों को दिखाने के लिये स्कूल ले जाता है, और वे (उसे पढ़कर) बड़े प्रसन्न होते हैं। अब कई शिक्षक आपसे पूछने के लिये मुझे प्रश्न देने लगे हैं।[1]

(हंसते हुए) अच्छी बात है! बड़ी अच्छी बात है!

(१९-१-१९७२)

मधुर मां,

जब बच्चों की पहल करने की क्षमताओं के आधार पर वर्गों को व्यवस्थित करने का प्रयास करते हैं तो हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न विषयों की पढ़ाई के स्तर में समानता नहीं होती। यह उन अध्यापकों के काम को कठिन बना देता है जिन्हें पुरानी प्रचलित पद्धति से पढ़ाने की आदत है।

हम यहां हैं ही कठिन काम करने के लिये। यदि हम वही दोहराते रहें जो दूसरे करते हैं तो इसकी सार्थकता ही क्या है; पहले ही दुनिया में बहुतेरे विद्यालय हैं।

जनता के अज्ञान को दूर करने की कोशिश की गयी है और इसके लिये सबसे सरल पद्धतियां अपनायी गयी हैं। पर अब वह समय बीत गया है और मानवजाति ज्यादा और पूर्ण रूप से सीखने के लिये तैयार है। यह उनकी जिम्मेदारी है जो पथ-प्रदर्शनों की पंक्ति में अग्रणी हैं ताकि दूसरे उनका अनुसरण कर सकें।

(२१-१-१९७२)

मधुर मां,

बच्चों को अपनी क्षमताओं को खोजने का अवसर देने और व्यक्तिगत विकास के पथ का अनुसरण करने के लिये हमारी शिक्षण-संस्था की व्यवस्था के बारे में आपकी क्या कल्पना है?

हम यहां यही करने की कोशिश कर रहे हैं। यह अध्यापक पर निर्भर है। मेरे पास कोई ऐसा सिद्धांत नहीं जिसे काम पर उतारा जा सके...[2]

हम यहां यही करने में लगे हैं। पर इसे ठीक ढंग से कर पाना शिक्षकों पर निर्भर है, वे कितना कष्ट उठा सकते हैं और उनमें मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ की कितनी क्षमताएं हैं। उसे विद्यार्थी के स्वभाव और उसकी क्षमता को जानने में समर्थ होना

[1] मौखिक प्रश्न और उत्तर।

[2] मौखिक उत्तर (सिर्फ यही अनुच्छेद)।

चाहिये ताकि वह हर एक की आवश्यकता के अनुसार अपनी शिक्षा की रीति बदल सके।

(२२-१-१९७२)

मधुर मां,

क्या शिक्षकों का विषयानुसार वर्गीकरण होना चाहिये? क्या यही सबसे अच्छा तरीका है?

जब सभी को ज्ञान की एक समान साधारण उपयोगी नींव दे दी गयी हो, जैसे कि पढ़ना-लिखना, कम-से-कम एक भाषा अच्छी तरह बोल पाना, थोड़ी-सी सामान्य भूगोल की जानकारी, आज के विज्ञान का सामान्य ज्ञान और सामूहिक या सामाजिक जीवन के आचार-व्यवहार के कुछ अनिवार्य नियम जान लेने के बाद जब कोई एक या एक से अधिक विषय का गहराई से अध्ययन करना चाहे तो विषयवार वर्गीकरण महत्त्वपूर्ण होता है।

किसी विषय के विस्तृत और गहरे अध्ययन की उचित उम्र बच्चे पर और उसकी सीखने की क्षमता पर निर्भर है।

जल्दी ही बड़े हो जानेवाले बारह वर्ष की उम्र में आरंभ कर सकते हैं। अधिकतर बच्चे शायद पन्द्रह वर्ष की उम्र में आरंभ करें, सत्रह या अठारह में भी हो सकता है।

और जब कोई एक विषय पर प्रभुत्व पाना चाहता है, विशेषकर वैज्ञानिक या दार्शनिक विषय में, तो उसे जीवन-भर सीखने के लिये तैयार रहना चाहिये; अध्ययन कभी बंद नहीं होना चाहिये।

(२२-१-१९७२)

मधुर मां,

मैं फिर से उसी प्रश्न पर लौट रही हूं। "बच्चों के वर्ग" से आपका ठीक-ठीक क्या मतलब है?

क्या इन वर्गों में केवल इनके चरित्र को ही ध्यान में रखना चाहिये या इनकी रुचियों को भी?

चरित्र के वर्ग।

बच्चों की संभावनाओं का मूल्यांकन करने के लिये साधारण नैतिक विचार कम ही उपयोगी होते हैं। विद्रोही, अनुशासनहीन, जिद्दी स्वभाववाले प्राय: अपने अंदर वे गुण छिपाये रहते हैं जिनका उपयोग करना सीखा नहीं गया है। हो सकता है कि निठल्ले भी शांति और धैर्य की बड़ी संभावनाओं को छिपाये हों।

खोजने के लिये पूरी दुनिया पड़ी है और सरल सामाधान शायद ही किसी काम के होते हों। विभिन्न चरित्र को पहचानने और उन्हें अच्छी तरह उपयोगी बनाना जानने के लिये अध्यापकों को छात्रों से कहीं ज्यादा मेहनत करनी होगी।

(२३-१-१९७२)

मधुर मां,

कल आपने आचार-व्यवहार के नियमों के बारे में बताया था। हमारे सामूहिक जीवन में आप आचरण के कौन-से नियमों को अनिवार्य मानती हैं।

धैर्य, अध्यवसाय, उदारता, उदात्त या विशाल मन, सूक्ष्म दृष्टि, शांत और व्यापक दृढ़ता और अहं पर तबतक प्रभुत्व जबतक कि वह पूरी तरह वश में न आ जाये या उसका अंत ही न हो जाये।

मां, यह ठीक वही बात नहीं है जो मैं आपसे पूछना चाहती थी। मैंने "आचार-व्यवहार के नियम" का मलतब "शिष्टाचार" समझा था।

शिष्टाचार सामान्य जीवन के नैतिक नियम हैं और इनका हमारे दृष्टिकोण से कोई महत्त्व नहीं।

(२३-१-१९७२)

मधुर मां,

आपने कहा था कि चरित्र के अनुसार छात्रों का वर्गीकरण करना चाहिये। अपनी अज्ञान की वर्तमान अवस्था में यदि हम एक वर्गीकरण लादने का प्रयास करें तो क्या वह बहुत मनमाना और साथ ही बढ़ते हुए बच्चों के लिये एक खतरनाक खेल न होगा?

स्वभावतः, यह अच्छा होगा कि मनमाने और अज्ञानपूर्ण निर्णय न लिये जायें। यह बच्चों के लिये घातक होगा।

मैंने जो कहा था वह उनके लिये है जो चरित्र को पहचानने और उसका ठीक मूल्यांकन करने में समर्थ हैं, नहीं तो उसका फल घृणित और प्रचलित यांत्रिक शिक्षा से भी अधिक अनिष्टकारी होगा।

(२४-१-१९७२)

मधुर मां,

आपने हमसे जो कुछ करने के लिये कहा है उसे कर सकने के लिये क्या शिक्षक का पहला कर्तव्य यह न होगा कि वह उतावले और मनमाने ढंग से कुछ कर बैठने के पहले सच्चाई से कठोर योग-साधना करे ?

जरूर ![१]

जो कुछ मैंने लिखा है वह आदर्श है जिसे चरितार्थ करना है; इसे कर सकने के लिये अपने-आपको तैयार करना होगा।

इस प्रणाली को अपना सकने के लिये शिक्षक को सूक्ष्मदर्शी मनोवैज्ञानिक होना चाहिये और इसके लिये समय और अनुभव की आवश्यकता है।

(२४-१-१९७२)

मधुर मां,

आपने कहा है कि शिक्षक को सूक्ष्मदर्शी मनोवैज्ञानिक, एक गुरु होना चाहिये। आपको तो मालूम ही है कि हम उससे कोसों दूर हैं। शिक्षक जैसे हैं उसे देखते हुए शिक्षा की प्रणाली को कैसे व्यवस्थित किया जाये ताकि सिखाने की पद्धति को सुधारा जा सके ?

यह जानते हुए कि उन्हें सब कुछ सीखना है, वे जो कुछ कर सकें, करें। इस तरह उन्हें अनुभव होगा और वे अधिकाधिक अच्छा करेंगे। यह सीखने की उत्तम रीति है और यदि उन्होंने इसे पूरी सच्चाई से अपनाया तो वे दो-तीन साल में प्रवीण हो जायेंगे और सचमुच उपयोगी होंगे।

स्वभावतया, इस तरह से किया गया काम सचमुच रोचक होगा और छात्रों की ही नहीं, शिक्षकों की भी प्रगति करायेगा।

(२५-१-१९७२)

मधुर मां,

बच्चों के वर्गों की तरह क्या अध्यापकों के भी—उनके पढ़ाने के तरीके, उनके दृष्टिकोण और कुछ खास विषयों में सहज पैठ के अनुसार—वर्ग होने चाहिये ?

इसके लिये आवश्यक है कि जो पढ़ाई की व्यवस्था करते हैं उन्हें सूक्ष्मदर्शी

[१] मौखिक उत्तर (यही वाक्य)।

मनोवैज्ञानिक, सचेत होना चाहिये और उनमें बहुत सद्भावना होनी चाहिये, उन्हें यह पता हो कि उन्हें भी सीखना है और प्रगति करनी है।

सच्ची मनोवृत्ति तो यह होनी चाहिये कि जीवन सतत अध्ययन का क्षेत्र है जहां सीखना यह सोचकर कभी बंद नहीं करना चाहिये कि हमें जो कुछ जानना चाहिये वह सब हम जानते हैं। हम सदा अधिक सीख सकते हैं और ज्यादा समझ सकते हैं।

(२५-१-१९७२)

मधुर मां,

यदि बच्चे नौ साल की उम्र से ही इलैक्ट्रोनिक विभाग में क्रियात्मक काम करना चाहें तो क्या उन्हें प्रोत्साहन देना चाहिये ?

हां, जरूर।

(२५-१-१९७२)

मधुर मां,

काम की इस पद्धति में अध्यापक को हर छात्र के लिये अलग-अलग काफी समय देना होगा। पर अध्यापकों की संख्या इतनी नहीं है। सभी सहायता मांगनेवालों को यथासंभव संतुष्ट करते हुए उनकी मांग पर कैसे ध्यान दिया जाये ?

इसके लिये कोई सिद्धांत नहीं बनाया जा सकता। यह व्यक्ति-विशेष पर, संभावनाओं और परिस्थितियों पर निर्भर है। यह एक मनोवृत्ति है जिसे शिक्षक को अपनाना चाहिये और अपनी शक्ति-भर अच्छी-से-अच्छी तरह काम में लाना चाहिये और संभव हो तो अधिकाधिक काम में लाना चाहिये।

(२६-१-१९७२)

मधुर मां,

आपने उस दिन कहा था कि ऐसे शिक्षक हैं जो योग्य नहीं हैं, उन्हें पढ़ाना छोड़ देना चाहिये। शिक्षक की क्षमता का मूल्यांकन करने का क्या मापदंड है ?

पहले तो उसे यह समझना, यह जानना चाहिये कि हम क्या करना चाहते हैं और ठीक-ठीक यह समझे कि उसे कैसे किया जाये।

दूसरे, उसमें छात्रों को समझने के लिये मनोवैज्ञानिक विवेक होना चाहिये, उसे यह पता होना चाहिये कि उसके छात्र कैसे हैं और क्या कर सकते हैं।

स्वभावत:, जो विषय पढ़ाता है उसमें वह पारंगत हो। यदि वह फ्रेंच पढ़ाता है, तो उसे फ्रेंच आनी चाहिये। यदि वह अंग्रेजी, भूगोल, विज्ञान पढ़ाता है, वह जो कुछ पढ़ाता है उसे उसका ज्ञान होना चाहिये।

लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसमें मनोवैज्ञानिक विवेक हो।[१]

(३१-१-१९७२)

मधुर मां,

आजकल बाहर के विद्यालयों में, विशेषकर पाश्चात्य देशों में, "यौन शिक्षा" पर बहुत जोर दिया जा रहा है।

"यौन शिक्षा" क्या है ? वह क्या सिखाती है ?

मुझे तो पसंद नहीं कि इन चीजों में व्यस्त रहा जाये। हमारे समय में हम कभी इन विषयों में नहीं उलझा करते थे। अब बच्चे हर घड़ी इसी की चर्चा करते हैं—यह उनके दिमाग में, उनकी भावना में घर कर गया है। यह बात घिनौनी है। यह कठिन है, बहुत कठिन है।

लेकिन यदि बाहर इसकी चर्चा करते हैं तो यहां भी उसके बारे में बताना चाहिये। उन्हें यह बता देना चाहिये कि इन चीजों का क्या परिणाम होता है। खासकर लड़कियों को बता देना चाहिये कि परिणाम घातक हो सकते हैं। मैं जब छोटी थी, उस जमाने में, कभी इन सब चीजों की चर्चा नहीं होती थी, इन विषयों में सिर नहीं खपाया जाता था। उस जमाने में, इन सबके बारे में कोई बात ही नहीं करता था। मैं नहीं चाहती कि यहां इस विषय पर बहस की जाये। इसीलिये तो तुम शारीरिक व्यायाम में लगे रहते हो। इस तरह सारी शक्तियां बल, सुन्दरता, क्षमता आदि विकसित करने में काम आती हैं, और तुम्हें अधिकाधिक संयम करने का बल मिलता है। तुम देखोगे कि जो बहुत शारीरिक व्यायाम करते हैं वे आवेगों को दमन करने में अधिक सबल होते हैं।[२]

(ध्यान के बाद) जिस शक्ति का उपयोग मनुष्य प्रजनन में करते हैं और जिसने उनके जीवन में एक गुरुतर स्थान बना लिया है, उस शक्ति का उपयोग उन्हें इसके विपरीत प्रगति और उच्चतर विकास के लिये करना चाहिये, नयी जाति के आगमन की तैयारी में लगाना चाहिये। पर पहले शरीर और प्राण को कामनाओं से मुक्त करना होगा; नहीं तो भयंकर अनर्थ होने का डर रहता है।

(१-२-१९७२)

[१] मौखिक उत्तर।

[२] मौखिक उत्तर (यहांतक ही)।

मधुर मां,

छोटे बच्चों और बड़े छात्रों (उदाहरण के लिये चौदह या पन्द्रह साल के बच्चों) के साथ शिक्षकों के आचरण और उत्तरदायित्व में क्या मुख्य अंतर है ?

स्वभावतया, जिस अनुपात में बच्चों की चेतना और बुद्धि विकसित होगी, उतना ही उनकी मध्यस्थता से हमारा वास्ता पड़ेगा।

(३-२-१९७२)

मधुर मां,

क्या बच्चे को सजा देनी चाहिये ?

सजा ? सजा से तुम्हारा क्या मतलब है ? यदि एक लड़का कक्षा में शोर मचाता है और दूसरों को काम करने से रोकता है तो उससे ठीक तरह व्यवहार करने के लिये कहना चाहिये; और यदि वह फिर भी करता रहे तो उसे कक्षा से निकाल देना चाहिये। यह, यह तो कोई सजा नहीं, यह तो उसके किये का सहज परिणाम है। लेकिन सजा देना ! सजा देना ! तुम्हें सजा देने का कोई अधिकार नहीं। क्या तुम भगवान् हो ? तुम्हें सजा देने का अधिकार दिया किसने ? बच्चे भी तुम्हारी हरकतों पर तुम्हें सजा दे सकते हैं। क्या तुम स्वयं निर्दोष हो ? क्या तुम जानते हो कि क्या अच्छा है और क्या खराब ? केवल भगवान् जानते हैं। भगवान् को ही सजा देने का अधिकार है।[१]

तुम जैसे स्पंदन छोड़ते हो वैसे ही स्पंदनों से तुम्हारा संपर्क हो जाता है। यदि तुम बुरा और नाशक स्पंदन छोड़ो तो यह बिलकुल स्वाभाविक होगा कि तुम वैसे ही स्पंदन को अपनी ओर आकर्षित करो और यही है सच्ची सजा, यदि तुम इसी शब्द का प्रयोग करना चाहो; पर यह दुनिया की भागवत व्यवस्था से कतई मेल नहीं खाता।

प्रत्येक कार्य का अपना भला या बुरा परिणाम होता है, पर पुरस्कार या दंड का विचार निरा मानवीय विचार है जो 'सत्य-चेतना' की कार्य-पद्धति से बिलकुल मेल नहीं खाता। यदि वह 'चेतना' जो दुनिया को चलाती है, मानवीय पुरस्कार और दंड की नीति से काम करती तो धरती कब की मनुष्यों से खाली हो चुकी होती।

जब मनुष्य इतने पवित्र हो जायेंगे कि दिव्य स्पंदनों को विकृत किये बिना प्रसारित कर सकेंगे तब, दुनिया से दुःख-कष्ट मिट जायेगा। यही है एकमात्र उपाय।

(३-२-१९७२)

[१] मौखिक उत्तर (यही अनुच्छेद)।

कुछ अध्यापकों ने मुझे लिखा है कि मैंने तुम्हें जो कुछ लिखा है वह उन्होंने पढ़ा है और उससे उन्हें बहुत लाभ हुआ है। अतः तुम उन्हें दिखाना जारी रख सकती हो।[१]

यह प्रार्थना, मां ?

हां, यदि तुम इसे अलग कागज पर टंकित कर लो, यह :

"हम भगवान् के सच्चे सेवक बनना चाहते हैं।"

और इसके बाद प्रार्थना :

"परम प्रभु, 'पूर्ण चैतन्य', केवल तू ही ठीक-ठीक जानता है कि हम क्या हैं, हम क्या कर सकते हैं, हमें क्या प्रगति करनी है जिससे हम तेरी सेवा के योग्य और समर्थ हो सकें ? जैसा कि हम चाहते हैं। हमें अपनी संभावनाओं के प्रति सजग-सचेतन बना, अपनी कठिनाइयों के प्रति भी ताकि हम निष्ठा के साथ तेरी सेवा करने के लिये उस पर विजय पा सकें।"

उसके बाद यह—शेष अंश :

"भगवान् के सच्चे सेवक बनने में ही परम आनंद है।"

ऐसे भी लोग हैं जिन्हें इससे लाभ पहुंचा है। क्या तुमने उन्हें अपनी कापी दिखायी है ?

यह कापी (ध्यान की कापी) मैं सबको नहीं दिखाती। दूसरी कापी से शिक्षा-संबंधी प्रश्नों को टंकित करके स्कूल भेज देती हूं। पर यह कापी मैं सबको नहीं दिखाती।

नहीं, यह तो तुम्हारे लिये है। लेकिन तुम इस तरह की चीजों की नकल कर सकती हो जो सबके लिये हो। तुम उन्हें सद्भावनावालों को दिखा सकती हो। बहुतों ने मुझे लिखा है कि इससे उन्हें बहुत लाभ हुआ है। इसलिये तुम उन्हें दिखाना जारी रख सकती हो।

हां, मां, मैं यह कापी सभी को नहीं दिखाती क्योंकि मेरा ख्याल था कि आप जल्दी ही इसका उपयोग 'बुलेटिन' में करना चाहेंगी।

सबका नहीं। उदाहरण के लिये, इसे मैं 'बुलेटिन' में छापना नहीं चाहूंगी।

(१४-२-१९७२)

[१] इस तारीख (१४ फरवरी) का सारा वार्तालाप मौखिक है।

मधुर मां,

आपने जैसा वर्गीकरण विद्यालय में करने के लिये कहा था, क्या उसी तरह का वर्गीकरण शारीरिक शिक्षा में भी होना चाहिये ?

शारीरिक व्यायाम के लिये, सब कुछ शरीर और उसकी क्षमताओं पर निर्भर है। सरल और न थकानेवाले व्यायाम सभी को दिये जा सकते हैं।

इसके बाद, सब कुछ उनके शरीर, उनकी शक्ति, उनके स्वास्थ्य, थकान के प्रति उनकी सहनशक्ति आदि, आदि पर निर्भर है।

क्षमताओं के अनुकूल व्यायाम देना चाहिये और क्षमताओं के अनुरूप ही बच्चों का वर्गीकरण होना चाहिये। यह अनुभव और निरीक्षण का प्रश्न है।

शारीरिक शिक्षा का अच्छा शिक्षक बनने के लिये शरीर-विज्ञान, शरीर-अवयवों के अलग-अलग काम, उनका विकास और उनकी क्रियाओं के बारे में जानना चाहिये।

(१६-२-१९७२)

मधुर मां,

क्या आप अनुशासन के बारे में कुछ लिखने की कृपा करेंगी ?

भौतिक जीवन के लिये अनुशासन अनवार्य है। अंगों के सुचारु कार्य का आधार है अनुशासन। जब शरीर का कोई अंग या भाग सामान्य शारीरिक अनुशासन की अवज्ञा करता है ठीक तभी तुम बीमार पड़ते हो।

प्रगति के लिये अनुशासन अनिवार्य है। तुम दूसरों के लगाये अनुशासन से केवल तभी बच सकते हो जब तुम अपने ऊपर कठोर और ज्ञानयुक्त अनुशासन लगा सको।

सर्वोत्कृष्ट अनुशासन है भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पण और भावना में या क्रिया-कलाप में कहीं किसी की कोई सुनवाई न हो। इस समर्पण के कुछ भी न बच पाये—यही चरम और कठोर अनुशासन है।

(१७-२-१९७२)

मधुर मां,

कल आपने अनुशासन के बारे में लिखा था। लेकिन आरोपित किये गये उस अनुशासन के बारे में हमारी क्या मनोवृत्ति होनी चाहिये जिसका सामान्य जीवन में हमें अनुसरण करना पड़ता है ?

सामुदायिक जीवन में अनुशासन आवश्यक है ताकि कमजोर बलवान् द्वारा सताये न जायें; और जो लोग समाज में रहना चाहते हैं उन सभी को इस अनुशासन का मान करना चाहिये।

किंतु यह अनुशासन उनके द्वारा लागू होना चाहिये जिनके मन सबसे विशाल हैं, यदि संभव हो तो ऐसों के द्वारा जो 'भागवत उपस्थिति' के प्रति सचेतन और समर्पित हों, ताकि समाज सुखी रह सके।

यह शक्ति उन्हीं के हाथों में होनी चाहिये जो 'भागवत इच्छा' के प्रति सचेतन हैं, ताकि धरती प्रसन्न रहे। पर अभी तो यह असंभव है क्योंकि जो 'भागवत इच्छा' के प्रति सचमुच सचेतन हैं उनकी संख्या नगण्य है, और चूंकि उनमें ऐसी कोई आकांक्षा भी नहीं है।

वास्तव में, जब इस उपलब्धि का समय आयेगा तो वह स्वभावतः अपनी जगह ले लेगा।

प्रत्येक का कर्तव्य है कि अपनी शक्ति-भर पूरी तरह अपने-आपको इसके लिये तैयार करे।

(१८-२-१९७२)

मां, कुछ लोग इस बात की आलोचना करते हैं कि शारीरिक शिक्षा में हमने बहुत सारे नियम बना रखे हैं और बच्चों पर कड़ा अनुशासन लादते हैं।

बिना अनुशासन के शारीरिक शिक्षा संभव नहीं है। कठोर अनुशासन के बिना स्वयं शरीर भी काम न कर सकेगा। असल में, इस तथ्य को न स्वीकारना ही व्याधियों का मुख्य कारण है।

पाचन, वृद्धि, रक्त-संचरण, सब, सब कुछ ही तो एक अनुशासन है; चिंतन, गतियां, चेष्टाएं सभी तो एक अनुशासन है। यदि अनुशासन न हो तो लोग तुरत बीमार पड़ जाते हैं।[१]

(१८-२-१९७२)

मधुर मां,

विद्यार्थी, खासकर किशोर, यह शिकायत करते हैं कि प्रायः वे उन शारीरिक व्यायामों को भी करने के लिये बाधित किये जाते हैं जिन्हें करना वे पसंद नहीं करते और जो उन्हें रुचिकर नहीं लगते। मां, क्या आप इसके बारे में कुछ कहेंगी ?

हम धरती पर अपना मनचाहा करने के लिये नहीं हैं, बल्कि प्रगति करने के लिये हैं।

शारीरिक व्यायाम तुम्हारे मनोरंजन या तुम्हारी सनकों को तृप्त करने के लिये

[१] मौखिक उत्तर (यही अनुच्छेद)।

नहीं, बल्कि शरीर को विकसित करने और मजबूत बनाने के लिये विधिवत् अनुशासन के रूप में बनाये गये हैं।

सच्ची बुद्धिमानी तो यह है कि जो कुछ करो खुशी से करो, और यह संभव है यदि तुम जो कुछ करो उसे प्रगति का साधन बना लो। पूर्णता पाना बहुत कठिन है और इसे उपलब्ध करने के लिये हमेशा बहुत प्रगति की आवश्यकता होती है।

सुख की खोज में जाना निश्चय ही अपने-आपको दुःखी करने का सबसे अच्छा उपाय है।

यदि तुम सचमुच शांति और आनंद चाहते हो तुम्हारी सतत लगन होनी चाहिये :

"मुझे ऐसी कौन-सी प्रगति करनी चाहिये ताकि मैं भगवान् को जान सकूं, उनकी सेवा कर सकूं ?"[१]

तुम इसे 'च' को दिखा देना। जो कुछ बच्चे कहते हैं उस पर उसे कान नहीं देना चाहिये था। वह बहुत दिनों से यहां है। उसे यह बात मालूम होनी चाहिये।

यह ("सुख की खोज में जाना निश्चय ही अपने-आपको दुःखी करने का सबसे अच्छा उपाय है") पूर्ण सत्य है। यह इस बात की पुष्टि करता है कि यदि तुम अपने क्षुद्र अहं को संतुष्ट करना चाहते हो तो तुम जरूर दुःखी होओगे। निश्चय ही। अपने-आपको दुःखी करने का यह सबसे अच्छा तरीका है। यह कहना : "ओह, यह मुझे उबा देता है; ओह, मुझे जो पसंद हो वह करना चाहिये; ओह फलाना मेरे साथ अच्छा व्यवहार नहीं करता; ओह, जिंदगी मुझे वह नहीं देती जो मैं चाहता हूं !" ओह !!!

"क्या मैं वह हूं जो मुझे होना चाहिये ?

"क्या मैं वह करता हूं जो मुझे करना चाहिये ?

"क्या मैं उतनी प्रगति कर रहा हूं जितनी मुझे करनी चाहिये ?"

तब वह रोचक बन जाता है। समझे !

"अपनी अगली प्रगति के लिये मुझे क्या सीखना चाहिये ? मेरी कौन-सी कमजोरियां हैं जिन्हें मुझे सुधारना चाहिये ? कौन-सी कठिनाई है जिसे मुझे पार करना है ? मेरी कौन-सी कमजोरी है जिसे मुझे मिटाना है ?" बस यही।

और तब, स्वभावतया, अगले क्षण : "भगवान् की सेवा करने और उन्हें समझने के लिये मैं कैसे समर्थ बनूं ?" बस यही !

मैंने खास तौर से इसे लिख दिया है ताकि तुम 'च' को दिखा सको।

हां, मां, वह यह बात जानती है, परंतु वह जानना चाहती थी कि बच्चों को यह बात कैसे समझायी जाये ?

हां, इतना ही कहना है।

(१९-२-१९७२)

[१] लिखित प्रश्न और उत्तर। निम्नलिखित टिप्पणी मौखिक है।

शारीरिक शिक्षा के प्रशिक्षकों के लिये कुछ उपयोगी सुझाव

(ये वाक्य प्रणव ने अंग्रेजी में लिखकर माताजी को दिये थे, और लगता है कि फ्रेंच में इसका अनुवाद माताजी और पवित्र ने किया था)।

१. कक्षा में आने से पहले पाठ की तैयारी करके आओ। सोचो और हर ब्योरे को पहले से निर्धारित कर लो।
२. ठीक समय से जरा पहले आओ; कक्षा के लिये जो कुछ जरूरी है उस सबकी जांच कर लो और उसे तैयार रखो। काम में आनेवाले सभी उपकरणों को तैयार रखो।
३. तुम खुद समय के पाबंद बनो और छात्रों से समय की पाबंदी का आग्रह करो।
४. ठीक ढंग से कपड़े पहनो और सीटी ले जाना मत भूलो।
५. लड़कों से आग्रह करो कि ठीक ढंग की वरदी पहनें।
६. काम आरंभ करने से पहले कम-से-कम समय लो।
७. अच्छी तरह बोलना और उत्तम आदेश देना सीखो।
८. जब जरूरी समझो तभी बोलो। तुम्हारी सभी व्याख्याएं संक्षिप्त होनी चाहिये। काम को प्रधानता दो।
९. प्रारंभिक कार्य में यथार्थता पर बल दो। दैहिक फल पाने के लिये व्यायाम को बार-बार दोहराओ।
१०. खेल के समय खूब छूट दो और उसमें खुलकर खुशी से भाग लेने के लिये प्रोत्साहन दो। लेकिन उदासीनता और अनुशासनहीनता को प्रश्रय मत दो।
११. लड़कों में से ही मुखिया को चुनो और कक्षा के कार्यों में अच्छे फल के लिये उनका उपयोग करो।
१२. ऐसा प्रयास करो कि लड़के अपने-आपको अनुशासित करने में रस लें।
१३. कक्षा की समझदारी को जगाओ ताकि छात्र कार्यक्रम में अपनायी गयी क्रियाओं के तर्कसंगत और शिक्षात्मक मूल्य को समझें।
१४. व्यायाम की गतिविधि को कक्षा के पाठ के लिये पोषक द्रव्य का काम करना चाहिये और अंत तक उसे ठीक रीति से चलते रहना चाहिये : थकावट और परेशानी से बचने के लिये छात्रों की उम्र और उनकी क्षमता को ध्यान में रखकर सावधानी से व्यायाम का चुनाव करो।
१५. थकावट और ऊब को दूर भगाने का मूल मंत्र है मनोरंजन।
१६. और अधिक प्रयास के लिये प्रोत्साहित करने का सबसे अच्छा तरीका है अच्छे काम की सराहना।

१७. रुचि को बनाये रखने के लिये हेर-फेर और विविधता जरूरी है। और पाठ में मनोयोग को बनाये रखने के लिये जरूरी है व्यायाम और सातत्य।

१८. हर श्रमसाध्य व्यायाम से पहले शरीर को गरमा लेना नहीं भूलना चाहिये।

१९. एक स्वर्णिम नियम जिसे सदा याद रखना चाहिये: वे व्यायाम और क्रियाएं जिन्हें प्रशिक्षक अच्छी तरह जानता है एक लंबे अभ्यास के बाद ही आसान बनी हैं, पर वे नौसिखिये के लिये नयी और कभी-कभी कठिन भी होती हैं। अतः प्रशिक्षक को एक ही दिन में पूर्णता की आशा नहीं करनी चाहिये।

२०. जबतक छात्र धीरे-धीरे, सावधानी से कठिन व्यायाम और कसरत के लिये तैयार नहीं हो जाते तबतक उन्हें ये चीजें करने की अनुमति कभी नहीं देनी चाहिये। बार-बार की असफलताएं आसानी से आत्म-विश्वास को नष्ट कर देती हैं।

२१. जब प्रशिक्षक कुछ समझाये या दिखाये तब लड़कों को अर्धवृत्त में खड़े हो जाना चाहिये और छोटे कद के लड़कों को आगे। प्रशिक्षक को इस तरह खड़ा होना चाहिये कि वह सब को देख सके और छात्र भी अपनी-अपनी जगह से प्रशिक्षक को देख सकें।

२२. सूरज की ओर मुंह करके छात्रों को कभी खड़ा नहीं करना चाहिये; जहांतक संभव हो उन्हें छाया में ले आना चाहिये।

२३. नियमित कार्यक्रम आरंभ करने से ठीक पहले पूरे दल को सावधान की मुद्रा में खड़ा करना अच्छा है। यदि जरा भी बाधा आ जाये तो पूरे दल को आराम की मुद्रा में कर देना चाहिये। व्यर्थ में छात्रों को सावधान की मुद्रा में रखना उचित नहीं, और जब छात्र सावधान की मुद्रा में खड़े हों तो उन्हें जैसे-तैसे खड़े होने देने की अनुमति नहीं देनी चाहिये।

२४. प्रत्येक पाठ का आरंभ सिलसिलेवार और आकर्षक ढंग से होना चाहिये और समाप्ति भी उसी आकर्षक ढंग से हो। पाठ के आरंभ के कुछ पहले पूरे दल को कुछ क्षणों के लिये सावधान की मुद्रा में खड़ा होना होगा और छुट्टी देने के ठीक पहले भी इसी क्रम को दोहराना चाहिये। यह क्रिया में एकाग्रता और सचेतन प्रयास को सरल बनाता और उसके सामने एक लक्ष्य रखता है।

२५. सारी शारीरिक क्रियाओं के पहले "सुरक्षा" का मूलमंत्र होना चाहिये।

६

कक्षा के मुखिया को उत्तर

यहां हमारे इतने विविध प्रकार के क्रिया-कलाप हैं कि किसी एक वस्तु के साथ लगकर उसमें पूर्णता प्राप्त करना कठिन हो जाता है। शायद इसीलिये हम साधारण औसत अवस्था से आगे नहीं बढ़ सकते। या फिर इसका कारण क्या हमारे अंदर दृढ़ एकाग्रता का अभाव है?

साधारण औसत दर्जे के कार्य का कारण न तो विविधता है, न ही कार्यों की अधिकता, कारण है एकाग्रता की शक्ति का अभाव।

व्यक्ति को एकाग्र होना सीखना चाहिये और उसे सभी कार्य पूर्ण एकाग्रता के साथ करने चाहिये।

(४-७-१९६१)

यह जानना सचमुच में एक समस्या है कि विद्यार्थियों में रुचि कैसे जगायी जाये, चाहे वह खेलों में हो या व्यायामों में। जब हम किसी चीज में उनकी रुचि का अभाव देखते हैं तो हमारा उत्साह भी ठंडा पड़ जाता है।

विद्यार्थियों का उत्साह अध्यापक की **सच्ची योग्यता** के अनुपात में ही होता है।

(१२-७-१९६१)

(दल-नायकों के लिये एक संदेश के विषय में) आप हमसे जो चाहती हैं उससे हम बहुत दूर हैं, कम-से-कम मैं तो हूं। यह कार्य बड़ा कठिन है और इसमें समय लगेगा, बहुत लंबा समय, किंतु अभी, इस समय क्या किया जाये? चेतना को बदलने और श्रेष्ठ व्यक्ति बनने में काफी समय लगेगा। अभी तो हम विद्यार्थियों के स्तर के ही हैं, अतएव इस समय की समस्या का समाधान नहीं हुआ। प्रत्येक दिन प्रत्येक वस्तु के लिये रुचि कैसे जगा सकते हैं?

यह कार्य चेतना को बदलने और श्रेष्ठ बनने से भी अधिक दुःसाध्य है। अतएव, तत्काल ही कार्य शुरू कर देना सर्वश्रेष्ठ उपाय है। बाकी तो सब बहाने हैं जिन्हें हमारा आलस्य अपने आगे रख लेता है।

(१५-७-१९६१)

हम अंतरात्मा और आत्मा की प्रायः चर्चा करते हैं, किंतु मैं इनके विषय में कुछ भी नहीं समझता। ये दोनों वस्तुएं क्या हैं और इनकी अनुभूति कैसे प्राप्त की जा सकती है?

श्रीअरविन्द ने इस विषय पर (अपने पत्रों में) काफी कुछ लिखा है और मैंने भी अपनी पुस्तक 'शिक्षा' में इसकी पूरी व्याख्या की है। तुम्हें इस विषय को पढ़ना, अध्ययन करना चाहिये और सबसे बढ़कर इसे व्यवहार में लाना चाहिये।

(४-१०-१९६१)

मैं चाहती हूं कि तुम अपने अंदर ध्यानपूर्वक देखो और मुझे यह बताने का यत्न करो कि जासूसी कहानियों में कौन-सी बात है जिसमें तुम्हें रस आता है।

(१६-१०-१९६१)

मैं इन्हें मन-बहलाव के लिये पढ़ता हूं। जासूसी कहानियों में (विशेषतया पेरी मेसन की कहानियों में), सदा एक अदालत का दृश्य होता है जिसमें वकील पेरी मेसन निश्चित रूप से मुकदमा हारता प्रतीत होता है, उसके मुवक्किल को हत्या का अपराधी घोषित कर दिया जाता है, सभी सबूत उसके विरुद्ध पड़ते हैं, किंतु वकील पेरी मेसन की कमाल की चाल स्थिति को बदल देती है। पूरी कहानी में ही रहस्य-पर-रहस्य खुलते रहते हैं और सारा मुकदमा किसी उच्च कोटि के बड़े पहलवान की मानसिक कसरत के समान प्रतीत होता है। किंतु हर बार, पुस्तक को समाप्त करने के बाद, मुझे ऐसा लगता है कि मुझे प्राप्ति कुछ भी नहीं हुई, मैंने कुछ भी नया नहीं सीखा, केवल समय ही नष्ट किया।

यह बिलकुल ही निरर्थक तो नहीं है। तुम्हारे मन में निःसंदेह तमस् बहुत अधिक है और लेखक की ये मानसिक कलाबाजी इस तमस् को थोड़ा-सा झकझोर कर तुम्हारे मन को जगा देती है। किंतु ऐसा देर तक नहीं टिक सकता और तुम्हें उच्चतर वस्तुओं की ओर मुड़ना होगा।

(१६-१०-१९६१)

मधुर मां,

मैंने एक बात देखी है जो हम सब पर लागू होती है; वह यह कि, हम दो दिसंबर के कार्यक्रम में अधिक-से-अधिक खेलों में भाग लेते हैं।[१] क्या अधिक अच्छा नहीं रहेगा कि हम बहुत-से खेलों में मामूली स्तर का प्रदर्शन करने की जगह, एक या दो खेल चुनकर उनमें अच्छे-से-अच्छा प्रदर्शन करें?

प्रत्येक लड़का या लड़की अपनी प्रकृति के अनुसार ही कार्य करता है और यदि वह

[१] शारीरिक शिक्षा का वार्षिक प्रदर्शन।

उस प्रकृति के नियम का साहस और सच्चाई के साथ पालन करता है, तो वह सत्य के अनुसार चलता है। अतएव दूसरों के विषय में कोई मत बनाना या निर्णय लेना संभव नहीं है। व्यक्ति केवल अपने विषय में ही जान सकता है, और तब भी उसे अपने-आपको धोखा न देने के लिये बहुत अधिक **सच्चाई** के साथ कार्य करना होगा।

(४-११-१९६१)

मधुर मां,

आपने हमें बार-बार बताया है कि हमारे सारे क्रिया-कलाप भगवान् के प्रति निवेदित होने चाहिये। इसका ठीक अर्थ क्या है, और इसे कैसे किया जाये? उदाहरणार्थ, जब आदमी टेनिस या बास्केट-बॉल खेले तो उसे कैसे निवेदित करे? इसके लिये, स्वभावतया, मानसिक रचनाएं काफी नहीं होतीं!

इसका यह अर्थ है कि तुम जो कुछ करो उसे किसी वैयक्तिक अहंभावयुक्त उद्देश्य, सफलता के लिये, यश-प्राप्ति के लिये, भौतिक लाभ के लिये अथवा झूठे घमंड के लिये न करो, बल्कि सेवा और निवेदन के भाव से करो ताकि तुम भागवत इच्छा के प्रति अधिक सचेतन हो सको तथा अपने-आपको अधिक संपूर्ण रूप से उन्हें सौंप सको, यह तबतक करते रहना चाहिये जबतक कि तुम इतनी उन्नति न कर लो कि तुम यह जान जाओ और यह **अनुभव** करने लगो कि स्वयं भगवान् ही तुम्हारे अंदर कार्य कर रहे हैं, उन्हींकी शक्ति तुम्हें अनुप्राणित कर रही है, उन्हींका संकल्प तुम्हें सहारा दे रहा है—यह अनुभूति तुम्हें केवल एक मानसिक ज्ञान के रूप ही नहीं होनी चाहिये, बल्कि यह तुम्हारी चेतना की सच्ची अवस्था, एक सशक्त, सजीव अनुभूति होनी चाहिये।

इसे संभव बनाने के लिये, सभी अहंभाव-युक्त हेतु तथा अहंभाव की सभी प्रतिक्रियाओं को लुप्त हो जाना चाहिये।

(२०-११-१९६१)

मधुर मां,

हमने शारीरिक-शिक्षण की समस्याओं और संभव प्रणालियों पर मित्रों के साथ बातचीत की है। मूल समस्या यह है: ऐसा कार्यक्रम कैसे बनाया जाये जिसे सब पसंद करते हों और जो सामान्यतया सभी सदस्यों के लिये अधिक-से-अधिक प्रभावकारी हो? क्या साम्मुख्य आवश्यक है? क्या हमें किसी प्रकार की जोर-जबरदस्ती नहीं करनी चाहिये? और यदि पूर्ण स्वतंत्रता दे दी जाये तो क्या वह व्यावहारिक रूप में ठीक रहेगा? आदि...। यह ऐसा विषय

है जिसका ऐसा समाधान खोजना सरल नहीं है जो प्रत्येक को काफी मात्रा में खुश रख सके, हां, यदि मां स्वयं हस्तक्षेप करें तो बात दूसरी है।

यह असंभव है। प्रत्येक की अपनी रुचि होती है और अपना स्वभाव। बिना **अनुशासन** के कोई कार्य नहीं किया जा सकता—सारा जीवन ही अनुशासन है।

(२०-९-१९६२)

अपने शारीरिक शिक्षा के कार्यक्रम तथा यहां के कई अन्य क्रिया-कलापों के विषय में जब मैं एक मित्र से बात कर रहा था, तो उसने पूछा : "क्या तुम एक भी ऐसे व्यक्ति का सच्चा उदाहरण दे सकते हो जो इतने सारे खेलों में भाग लेता हो और उन सबमें अपना मानदंड काफी ऊंचा रखता हो—सारे संसार में सिर्फ एक व्यक्ति ?"

यह न भूलो—तुम सब जो यहां हो—कि हम ऐसी वस्तु को उपलब्ध करना चाहते हैं जो अभीतक पृथ्वी पर कहीं चरितार्थ नहीं हुई है; अतएव जो हम करना चाहते हैं उसका उदाहरण कहीं अन्यत्र ढूंढ़ना मूर्खता की बात है।

उसने मुझे यह भी कहा था : "माताजी कहती हैं कि जिन लोगों के पास किसी विशेष विषय की प्रतिभा है और जो उसका पूरी तरह से अनुसरण करना चाहते हैं उन्हें यहां पूरी स्वतंत्रता तथा सब सुविधाएं प्राप्त हैं। किंतु, उदाहरणार्थ, एक महान् संगीतकार आदि बनने के लिये स्वतंत्रता कहां है " मधुर मां, क्या आप इस स्वतंत्रता के विषय पर कुछ कहेंगी ?

मैं जिस स्वतंत्रता की बात करती हूं वह है आत्मा के संकल्प का अनुसरण करने की स्वतंत्रता, मानसिक और प्राणिक सनकों और कल्पनाओं पर चलने की स्वतंत्रता नहीं।

मैं जिस स्वंत्रता की बात करती हूं वह है आडंबरहीन सत्य जो निम्नतर, अज्ञानमय सत्ता की सभी दुर्बलताओं और इच्छाओं पर विजय प्राप्त करने की प्रवृत्ति रखता है।

मैं जिस स्वतंत्रता की बात करती हूं वह है व्यक्ति की अपनी उच्चतम, श्रेष्ठतम और दिव्यतम अभीप्सा के प्रति पूर्ण और निःशेष भाव में निवेदित करने की स्वतंत्रता।

तुम में से कौन इस मार्ग का सच्चे दिल से अनुसरण करता है ? मत बना लेना तो सरल है, किंतु बात को समझना अधिक कठिन है और चरितार्थ करना तो इससे भी कहीं अधिक कठिन है।

(१८-११-१९६२)

लड़कियां सदा ही नुकसान में रहती हैं : वे लड़कों की तरह, जो चाहे नहीं कर सकतीं।

क्यों नहीं ?

तुम्हारे कथन के विरोध में सैकड़ों प्रमाण हैं।

(३१-५-१९६३)

मेरे मस्तिष्क में काफी "कूड़ा-कर्कट" भरा है जो मुझे स्पष्टतया सोचने और नये विचारों को शीघ्रतापूर्वक ग्रहण करने से रोकता है। मैं इससे कैसे मुक्त हो सकता हूं ?

अधिक अध्ययन करने से, अधिक सोचने-विचारने से, बौद्धिक व्यायाम से। उदाहरणार्थ, किसी भी सामान्य विचार का निरूपण करो और फिर उसके विरोधी विचार का और तब इन दोनों विचारों में समन्वय खोजो, दूसरे शब्दों में, एक ऐसा तीसरा विचार ढूंढो जो इन दोनों में समन्वय स्थापित कर दे।

(२५-६-१९६३)

तुम उपन्यास क्यों पढ़ते हो ? यह एक मूर्खतापूर्ण कार्य है और इसमें समय नष्ट होता है। यह भी एक कारण है जिससे तुम्हारे मस्तिष्क में स्पष्टता नहीं है और वह अब भी अस्तव्यस्त है।

(२७-६-१९६३)

मधुर मां,

कुछ दिन पहले मैंने ए-२ दल के बच्चों में एक बड़ी अनोखी बात देखी; लड़के लड़कियों के साथ काम करना नहीं चाहते; यहां तक कि वे उनके पास या उनके साथ खड़ा होना भी पसंद नहीं करते। यह भेद-भाव इन छोटे बच्चों में, जो अभी मुश्किल से ११ वर्ष के ही हुए हैं, कैसे आ गया ! बड़ी विचित्र बात है यह।

यह पूर्वजों से आयी हुई चीज है और अवचेतना से उठी है।

यह सहज-प्रवृत्ति पुरुष जाति के दंभ, अपनी श्रेष्ठता के मूर्खतापूर्ण विचार, और इससे भी अधिक इस मूर्खतापूर्ण भय पर आधारित है कि स्त्री एक भयंकर प्राणी है जो तुम्हें पाप के मार्ग पर खींच लाती है। बच्चों में, अभीतक यह अवचेतन रूप में है, पर उनके कार्यों पर अपना प्रभाव अवश्य डालती है।

(३-७-१९६३)

मधुर मां,

आपने हमें यह बताया है कि लड़के और लड़कियों का यह अलगाव पूर्वजों से आयी हुई चीज है, किंतु तो भी आपसे यह पूछना आवश्यक हो गया है कि हमें, कप्तानों को, क्या करना चाहिये। मेरा अपना विचार तो यह है कि इस ओर से आंखें मूंद लेना ही अधिक अच्छा है, किंतु कुछ लोग इस विषय पर उन्हें सलाह देना या कभी डांटना भी अधिक पसंद करते हैं। मैं सोचता हूं कि इस ओर से आंखें मूंद लेने से उस समस्या का महत्त्व कम हो जाता है और इस तरह लड़कियों और लड़कों के बीच का भेद भी धूमिल पड़ जाता है। आपका क्या विचार है ?

इसके लिये कोई सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता, सब कुछ विशेष व्यक्ति और परिस्थितियों पर निर्भर है। दोनों ढंगों से अच्छे-बुरे तत्त्व, लाभ और हानियां हैं। कप्तानों के लिये, मुख्य बात यह है कि उनमें व्यवहार-कौशल और पर्याप्त आंतरिक बोध हो ताकि जब जरूरत हो तो वे हस्तक्षेप कर सकें और जब न देखना ज्यादा अच्छा हो तो आंखें मूंद सकें।

(१५-७-१९६३)

क्या यहां, इस स्थान पर जहां हमें इतनी अधिक स्वतंत्रता प्राप्त है और जिससे हम लाभ उठाने में असमर्थ हैं, एक आधारभूत अनुशासन का होना अधिक अच्छा नहीं होगा ?

तुम यह कह रहे हो, किंतु तुम स्वयं उन लोगों में से हो जिनसे अति आवश्यकता पड़ने पर, उदाहरणार्थ, शारीरिक शिक्षा में, जरा-से भी अनुशासन की मांग की जाये तो (कम-से-कम विचार में) विद्रोह कर बैठते हैं।

(२१-७-१९६३)

हमारे अध्यापक 'क' ने बड़े गंभीर और अर्थपूर्ण ढंग से हमें भाषण दिया है : "कठिन परीक्षाओं को पास करने के लिये तैयार रहो, हम एक बड़ी कठिन और भयानक स्थिति के कगार पर खड़े हैं।" किंतु उन्होंने इसकी व्याख्या नहीं की।

वे अपने विचार को समझा देते तो अच्छा रहता, क्योंकि मुझे पता नहीं कि वे किस बात की चर्चा कर रहे थे—शायद वे तुम्हें छिछोरेपन, अविचारशीलता, लापरवाही और असावधानी के प्रति चौकस करना चाहते थे।

तुम सब युवा लोगों का जीवन यहां बड़े आराम का रहा है, और तुम इससे लाभ

उठाकर आध्यात्मिक विकास पर पूरा ध्यान देने के स्थान पर, बहुत ज्यादा बदनामी मोल लिये बिना, जितना हो सका अपना मनबहलाव करते रहे, अतएव तुम्हारी सजगता दबी रही।

निःसंदेह 'क' ने तुम्हें फिर से जगाने के लिये ही ऐसा कहा होगा।

(२७-८-१९६३)

पहली दिसंबर के प्रदर्शन के लिये मेरी पूरी तैयारी नहीं हुई है, और साथ ही, उसके लिये मुझमें जरा भी उत्साह नहीं है।

जब व्यक्ति कोई कार्य करने का निर्णय कर ले और उसे स्वीकार कर ले तो उसे अधिक-से-अधिक अच्छे ढंग से करना चाहिये।

प्रत्येक वस्तु चेतना और आत्म-संयम के विकास करने का अवसर हो सकती है। और विकास कर सकने का यह प्रयत्न तत्काल कार्य को, वह चाहे जो भी हो, रोचक बना देता है।

(२६-९-१९६३)

श्रीअरविन्द अपने एक सूत्र[१] (नं० १६४) में लिखते हैं: "जो लोग अपने ऊपर स्वेच्छापूर्वक आरोपित कानून को स्वतंत्रतापूर्वक, पूर्ण रूप से और बुद्धिमानी से मानने में असमर्थ हैं, उन्हें दूसरों की इच्छा के अधीन रहना चाहिये।" मां, मैं ऐसा ही प्राणी हूं। क्या आप मुझ पर अपना अनुशासन प्रयुक्त करेंगी ?

मेरे बच्चे, ठीक यही मैं काफी अरसे से करने की कोशिश कर रही हूं, विशेषतया जब से मैं तुम्हारी कापी अपने पास मंगा रही हूं और उसे शुद्ध कर रही हूं।

अनुशासन के इसी उद्देश्य से मैंने तुम्हें रोज एक ही वाक्य लिखने को कहा है—उसका लंबा होना भी आवश्यक नहीं, किंतु उसे **शुद्ध** होना चाहिये—पर अफसोस !

अभीतक, मुझे इसमें सफलता नहीं मिली है—तुम्हारे वाक्य प्रायः ही लंबे और अस्पष्ट होते हैं, कुछ अन्य छोटे भी होते हैं—पर सभी में गलतियां होती हैं और प्रायः, प्रायः ही, **वही-की-वही गलतियां**, लिंग की, वाक्यों के अंदर शब्दों के परस्पर-संबंध की तथा क्रिया के रूपों की गलतियां होती हैं जिन्हें मैं कितनी ही बार ठीक कर चुकी हूं।

ऐसा लगता है कि मुझसे वापिस पाने पर तुम अपनी कापी को चाहे देखते तो हो, पर उसका बारीकी से अध्ययन नहीं करते अपनी उन्नति के लिये उससे लाभ उठाने की कोशिश भी नहीं करते।

[१] 'सेंटिनरी वोल्यूम', खण्ड १७, पृ० ९९।

जीवन को अनुशासन में रखना आसान नहीं है, उन लोगों के लिये भी जो बलवान् हैं, अपने साथ कड़ाई का प्रयोग करते हैं, जो साहसी एवं सहनशील हैं।

किंतु अपने सारे जीवन को अनुशासित करने के लिये प्रयत्न करने से पहले, व्यक्ति को अपनी कम-से-कम **एक** क्रिया को ही अनुशासन में रखने की कोशिश करनी चाहिये, और तबतक करते रहना चाहिये जबतक उसमें सफलता न प्राप्त हो जाये।

(१३-१०-१९६३)

सुना है कि आपकी स्वीकृति के लिये आपके पास (अंग्रेजी साहित्य की) कुछ पुस्तकों की सूची भेजी गयी थी, किंतु आप केवल माताजी और श्रीअरविन्द की पुस्तकों का ही पढ़ा जाना पसंद करती हैं। आपने बल्कि यह भी कहा है कि इन पुरानी पुस्तकों के पढ़ने से चेतना का स्तर नीचे गिर जाता है।

मां, क्या यह बात उन पर ही प्रयुक्त होती है जो योग कर रहे हैं या यह सलाह आप सबको देती हैं?

पहली बात यह है कि जो कुछ तुमसे कहा गया है वह ठीक नहीं है। दूसरी, सलाह जिसे दी जाती है उसीके लिये होती है, इसे सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता।

(१२-११-१९६३)

मैं अपनी पढ़ाई में बहुत अनियमित हूं, मेरी समझ में नहीं आता कि इसके लिये क्या करूं?

अपने "तमस्" को थोड़ा हटा दो, अन्यथा तुम मूर्ख-के-मूर्ख रह जाओगे!

(२७-१२-१९६३)

हम प्रायः नयी चीज करने से डरते हैं; शरीर नये तरीके से काम करने से इनकार करता है, उदाहरण के लिये, जिम्नास्टिक्स की कोई नयी कसरत या डुबकी लगाने के किसी नये तरीके से डरता है। यह डर कहां से आता है? इससे मुक्त कैसे हुआ जा सकता है? और फिर, दूसरों को इसके लिये कैसे प्रोत्साहित किया जा सकता है?

शरीर किसी भी नयी चीज से डरता है क्योंकि उसका आधार ही है तमस्; प्राण ही उसमें रजस् की प्रमुखता लाता है। इसीलिये, सामान्यतः, महत्त्वाकांक्षा, स्पर्धा और

अहंकार के रूप में प्राण का हस्तक्षेप ही शरीर के तमस् को झाड़ फेंकने और प्रगति के लिये आवश्यक प्रयास करने के लिये बाधित करता है।

स्वभावतः, जिनमें मन प्रधान है वे अपने शरीर को भाषण देकर भय पर विजय पाने के लिये सब प्रकार की युक्तियां दे सकते हैं।

सबके लिये सबसे अच्छा उपाय है भगवान् के प्रति आत्म-निवेदन और उनकी अनंत 'कृपा' पर विश्वास।

(१३-५-१९६४)

आध्यात्मिक अनुशासन के लिये तैयार हो जाने की प्रतीक्षा करते हुए, मुझे माताजी से इस निद्रा में से बाहर निकालने और अपनी चैत्य चेतना को जगाने की प्रार्थना करने के अतिरिक्त, और क्या करना चाहिये ?

अपनी बुद्धि को विकसित करने के लिये नियमित रूप से और बड़े ध्यान के साथ श्रीअरविन्द की कृतियां पढ़ो। अपने प्राण को विकसित करने और उस पर प्रभुत्व पाने के लिये, कामनाओं को जीतने के संकल्प के साथ ध्यान से अपनी गतियों और प्रतिक्रियाओं का अवलोकन करो, अपने चैत्य पुरुष को पाने और उसके साथ एक होने के लिये अभीप्सा करो। भौतिक रूप से, तुम जो कर रहे हो उसे करना जारी रखो, अपने शरीर को विधि पुरःसर विकसित करो और उस पर अधिकार प्राप्त करो, क्रीड़ांगण में और अपने काम के स्थान पर काम द्वारा अपने-आपको उपयोगी बनाओ, और यह सब जितना बने निःस्वार्थ रूप से करो।

अगर तुम सच्चे, ईमानदार और निष्कपट हो तो मेरी सहायता जरूर तुम्हारे साथ रहेगी और एक दिन तुम उसके प्रति सचेतन हो जाओगे।

(२२-७-१९६४)

कई बार मेरी इच्छा होती है कि मैं अपनी सारी क्रिया-प्रवृत्तियां छोड़ दूं—खेल, बैंड, अध्ययन आदि और सारा समय काम में लगा दूं। किंतु मेरा तर्क इसे स्वीकार नहीं करता। यह विचार मुझमें कहां से और क्यों आता है ?

इस संबंध में तुम्हारा तर्क ठीक है। मनुष्य की बाह्य प्रकृति में प्रायः ही एक तामसिक प्रवृत्ति विद्यमान रहती है और उसका कार्य होता है जीवन-संबंधी अवस्थाओं को सरल बना देना ताकि जटिल परिस्थितियों को व्यवस्थित करने का प्रयत्न न करना पड़े। किंतु यदि व्यक्ति अपनी समग्र सत्ता को विकसित करना चाहता है तो यह सरलीकरण बिलकुल ठीक नहीं।

(१९-८-१९६४)

प्रायः, मैं श्रीअरविन्द की कृतियां पढ़कर या उनके शब्द सुनकर आश्चर्यचकित रह जाता हूं : यह शाश्वत सत्य, यह अभिव्यक्ति का सौंदर्य लोगों की आंखों से कैसे बच निकलता है ? यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि अभीतक उन्हें कम-से-कम एक परम स्रष्टा, शुद्ध कलाकार, उत्कृष्ट कवि के रूप में मान्यता नहीं मिली ! तो मैं अपने-आप से कहता हूं कि मेरे निर्णय, मेरे मूल्यांकन श्रीअरविन्द के प्रति भक्ति में रंगे हुए हैं—और हर एक भक्त नहीं है। लेकिन मुझे नहीं लगता कि यह ठीक है। तो फिर औरों के हृदय उनके शब्दों से मंत्रमुग्ध क्यों नहीं होते ?

श्रीअरविन्द को कौन समझ सकता है ? वे समस्त विश्व के जैसे विशाल हैं और उनकी शिक्षा अनंत है...

उनके जरा नजदीक आने का एकमात्र उपाय है उन्हें पूरी सच्चाई के साथ प्यार करना और अपने-आपको बिना संकोच के उनके कार्यों के प्रति समर्पित कर देना। इस तरह, हर एक अपना अच्छे-से-अच्छा प्रयास करता है और श्रीअरविन्द ने संसार के जिस रूपांतर की भविष्यवाणी की है उसके लिये अपनी ओर से भरसक सहयोग देता है।

(२-१२-१९६४)

श्रीअरविन्द ने कहीं पर कहा है कि अगर हम भागवत कृपा के आगे समर्पण कर दें तो वह हमारे लिये सब कुछ कर देगी। तब फिर, तपस्या का क्या मूल्य है ?

अगर तुम यह जानना चाहो कि श्रीअरविन्द ने अमुक विषय पर क्या कहा है तो तुम्हें कम-से-कम वह सब तो पढ़ना ही चाहिये जो उन्होंने उस विषय पर लिखा है। तब तुम देखोगे कि उन्होंने ऊपरी तौर पर बहुत अधिक परस्पर-विरोधी बातें कही हैं। लेकिन जब तुम सब कुछ पढ़ लो और थोड़ा-बहुत समझ लो तो देखोगे कि सभी विरोध एक-दूसरे के पूरक हैं और उन्हें संपूर्ण समन्वय में व्यवस्थित और एकीकृत किया गया है।

यह रहा श्रीअरविन्द का एक और उद्धरण जो तुम्हें बतायेगा कि तुम्हारा प्रश्न अज्ञान पर आधारित है। और भी बहुत-से हैं जिन्हें तुम रुचि के साथ पढ़ सकते हो, जो तुम्हारी समझ को ज्यादा नमनीय बनायेंगे :

"अगर पूर्ण समर्पण न हो तो बिल्ली के बच्चे की वृत्ति नहीं अपनायी जा सकती; वह तामसिक निष्क्रियता बन जाती है और अपने-आपको समर्पण का नाम दे लेती

है। अगर शुरू में पूर्ण समर्पण संभव न हो तो इसका मतलब यह है कि व्यक्तिगत प्रयास आवश्यक है।"

(१६-१२-१९६४)

एकाग्रता और संकल्प-शक्ति को कैसे बढ़ाया जाये ? कोई भी काम करने के लिये इनकी बहुत आवश्यकता होती है।

एक नियमित, अध्यवसायी, कठोर, अविचल अभ्यास के द्वारा—मेरा अभिप्राय है एकाग्रता और संकल्प-शक्ति के अभ्यास द्वारा।

(७-४-१९६५)

क्या मानसिक उदासीनता और उत्सुकता का अभाव एक तरह की मानसिक जड़ता है ?

साधारणतः ये चीजें मानसिक जड़ता के कारण होती हैं, लेकिन कोई बहुत तीव्र साधना के द्वारा शांत-स्थिरता और तटस्थता तथा परिणामतः पूर्ण समता प्राप्त कर सकता है जिसके आगे अच्छा-बुरा, प्रिय और अप्रिय बाकी नहीं रहते। लेकिन उस हालत में, मानसिक क्रिया की जगह बहुत ऊंचे प्रकार की अंतर्भासिक क्रिया ले लेती है।

(२५-५-१९६६)

इस मानसिक आलस्य और जड़ता से कैसे निकला जाये ?

चाह कर, अध्यवसाय और आग्रह से। हर रोज पढ़ने, व्यवस्था करने और विकास के मानसिक व्यायाम द्वारा।

दिन के दौरान कभी यह किया जाये और कभी एकाग्रता में मानसिक नीरवता का अभ्यास, बारी-बारी से बदलते रहें।

(१-६-१९६६)

७

बातचीत

५ अप्रैल, १९६७

(माताजी एक टिप्पणी लिखती हैं) यह एक प्रश्न का उत्तर है। क्या तुम्हें मालूम है कि मैंने विद्यालय के अध्यापकों से क्या कहा है? मुझसे एक और प्रश्न किया गया है। यह है मेरे उत्तर का आरंभ :

" 'सामान्य जीवन' और 'आध्यात्मिक जीवन' के बीच विभाजन एक पुरानी रूढ़ि है।"

तुमने यह प्रश्न पढ़ा है? मुझे फिर से पढ़कर सुनाओ।

> *"हमने भविष्य के बारे में बातचीत की। मुझे ऐसा लगा कि सभी अध्यापक कुछ-न-कुछ करने के लिये उत्सुक हैं ताकि बच्चों को इस बात का भान हो सके कि वे यहां क्यों हैं। उस समय मैंने कहा कि मेरी समझ में बच्चों के साथ प्रायः आध्यात्मिक चीजों की बात करने से उल्टा ही परिणाम आता है, और ये शब्द अपना मूल्य खो बैठते हैं। . . .*

"आध्यात्मिक चीजें" . . . आध्यात्मिक चीजों से उसका क्या मतलब है?

> *स्पष्ट है कि अगर अध्यापक उसे एक कहानी के तौर पर सुनाएं . . .*

आध्यात्मिक चीजें . . . उन्हें इतिहास पढ़ाया जाता है या आध्यात्मिक चीजें, उन्हें विज्ञान पढ़ाया जाता है या आध्यात्मिक चीजें। यही तो मूर्खता है। इतिहास में 'आत्मा' मौजूद है विज्ञान में 'आत्मा' मौजूद है—'सत्य' हर जगह है। और जरूरत इस बात की है कि उसे गलत तरीके से नहीं, बल्कि सत्य-विधि से पढ़ाया जाये। यह बात उनके दिमाग में नहीं घुसती।

> *वह आगे लिखता है : "मैंने सुझाव दिया है कि ज्यादा अच्छा यह होगा कि मिलकर माताजी की आवाज[1] को सुना जाये, क्योंकि हम भले सब कुछ न समझ पायें, परंतु आपकी आवाज अपना आंतरिक कार्य पूरा कर लेगी, जिसका मूल्यांकन हम नहीं कर सकते। इस बारे में, मैं यह जानना चाहूंगा कि बच्चे को आपके संपर्क में लाने का सबसे अच्छा तरीका क्या है। मुझे ऐसा लगा कि सभी सुझाव, जिनमें मेरे सुझाव की भी गिनती है, मनमाने हैं जिनका वास्तविक मूल्य कुछ नहीं।*

[1] माताजी की कक्षाओं के ध्वन्यांकित फीते।

"माताजी, क्या यह ज्यादा अच्छा न होगा कि अध्यापक केवल उन्हीं विषयों पर ध्यान दें जो वे पढ़ा रहे हैं, क्योंकि आध्यात्मिक जीवन की देख-रेख करने के लिये तो आप हैं ही ?"

मैं उसे यह उत्तर दूंगी : कोई "आध्यात्मिक जीवन" है ही नहीं ! यह वही पुराना विचार है, वही पुराना विचार—एक संत है, संन्यासी है, . . . जो आध्यात्मिक जीवन का प्रतिनिधित्व करता है और बाकी सब सामान्य जीवन का—और यह सत्य नहीं है, यह सत्य नहीं है, यह बिलकुल सत्य नहीं है।

अगर उन्हें अब भी दो चीजों के बीच विरोध की जरूरत है—क्योंकि बेचारा मन के विरोध के बिना काम नहीं कर सकता—अगर उन्हें विरोध की जरूरत है, तो वे 'सत्य' और 'मिथ्यात्व' के बीच के विरोध को ले सकते हैं, यह जरा ज्यादा अच्छा है; मैं यह नहीं कहती कि यह पूर्ण है, लेकिन यह जरा ज्यादा अच्छा है। तो, सभी चीजों में, सब जगह 'सत्य' और 'मिथ्यात्व' का मिश्रण है : तथाकथित "आध्यात्मिक जीवन" में, संन्यासियों में, स्वामियों में, उन लोगों में जो समझते हैं कि धरती पर दिव्य जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं, उन सबमें—वहां भी 'सत्य' और 'मिथ्यात्व' का मिश्रण है।

किसी प्रकार का विभाजन न करना ज्यादा अच्छा होगा।

(मौन)

बच्चों के दिल में, ठीक इसी कारण कि वे बच्चे हैं, भविष्य को जीतने का संकल्प बैठाना, हमेशा आगे देखने और जितनी तेजी से हो सके उतनी तेजी से . . . भावी की ओर आगे बढ़ने का संकल्प बैठाना बहुत अच्छा है। लेकिन वे अपने साथ भूतकाल के बोझ का, भूत के कष्टकर बड़े पत्थर का पूरा, असह्य भार न घसीटें। जब हम चेतना और ज्ञान में बहुत ऊंचे हों, तभी पीछे देखना यह जानने के लिये हितकर हो सकता है कि वे कौन-से बिंदु हैं जहां से यह भविष्य अपने-आपको प्रकट करना शुरू करता है। जब हम सारे चित्र को देखें, जब हमारे अंदर सार्वभौम दृष्टि हो, तब यह जानना रुचिकर होता है कि भविष्य में जो उपलब्धि होगी वह पहले से ही उद्घोषित की जा चुकी है, जैसे, श्रीअरविन्द ने कहा कि दिव्य जीवन धरती पर अभिव्यक्त होगा, क्योंकि वह पहले ही 'जड़तत्त्व' की गहराइयों में अंतर्निहित है; इस दृष्टि से पीछे देखना या नीचे देखना मजेदार हो सकता है—यह जानने के लिये नहीं कि क्या हुआ था, या यह जानने के लिये कि मनुष्य क्या जानते थे : यह बिलकुल बेकार है।

बच्चों से कहना चाहिये : अद्भुत चीजें अभिव्यक्त होने को हैं, उन्हें ग्रहण करने के लिये अपने-आपको तैयार करो। तब अगर वे कुछ ज्यादा ठोस, कुछ ज्यादा सुगम बात जानना चाहें तो तुम कह सकते हो : श्रीअरविन्द इन चीजों की घोषणा करने

आये थे; तुम जब उनकी कृतियां पढ़ सकोगे तो इस बात को समझोगे। तो इससे रस जागता है, जानने की इच्छा जागती है।

मैं बहुत स्पष्ट रूप से देख सकता हूं कि वह किस कठिनाई की ओर इशारा कर रहा है: अधिकतर लोग—अपने सारे लेखों या भाषणों में—अपने निजी अनुभव के सत्य के बिना, आडम्बरपूर्ण भाषा का उपयोग करते हैं जिसका कोई असर नहीं होता, बल्कि नकारात्मक असर होता है। वह इसी ओर संकेत कर रहा है।

हां, इसीलिये उन्हें वह करना चाहिये जो मैंने बताया है।

आह! लेकिन अभी बहुत समय नहीं बीता जब कि अधिकतर अध्यापक कहा करते थे: "ओह! लेकिन हमें ऐसा करना चाहिये क्योंकि सब जगह ऐसा ही किया जाता है।" (मुस्कुराते हुए) वे कुछ दूर तो आ ही गये हैं। लेकिन अभी बहुत दूर जाना है।

लेकिन सबसे बढ़कर, सबसे जरूरी यह है कि इन विभाजनों को हटाया जाये। और उन में से हर एक के मन में, सभी के मन में यह है: आध्यात्मिक जीवन और साधारण जीवन बिताने, आध्यात्मिक चेतना और सामान्य चेतना में विभाजन—लेकिन चेतना एक ही है।

अधिकतर लोगों में तीन चौथाई चेतना सोयी हुई और विकृत होती है, बहुतों में वह और भी अधिक, पूर्णतः विकृत होती है। लेकिन जिस बात की जरूरत है वह बस, यह नहीं है कि एक चेतना में से दूसरी में छलांग लगायी जाये, जरूरत इस बात की है कि अपनी चेतना को खोला जाये (ऊपर की ओर संकेत) और उसे 'सत्य' के स्पंदनों से भरा जाये, उसका उस चीज के साथ सामंजस्य किया जाये जिसे यहां होना चाहिये—वहां तो वे समस्त शाश्वत काल से है ही—लेकिन यहां, जिसे यहां होना चाहिये: जो धरती का "भावी कल" है। अगर तुम अपने ऊपर वह सारा बोझ लाद लो जिसे तुम्हें अपने पीछे खींचना है, अगर तुम उन सब चीजों को घसीटते चलो जिन्हें छोड़ देना चाहिये, तो तुम बहुत तेजी से आगे न बढ़ सकोगे।

ध्यान रहे, धरती के भूतकाल की बातों को जानना बहुत मजेदार और बहुत उपयोगी हो सकता है, लेकिन वह ऐसी चीज न हो जो तुम्हें भूत के साथ बांध दे या कस दे। अगर उसका उपयोग कूदने के तख्ते की तरह से किया जाये तो ठीक है, परंतु वास्तव में, यह है बहुत गौण।

(मौन)

बच्चों को पढ़ाने के नये तरीके को रूप देना या विस्तार देना बहुत मजेदार होगा।

उन्हें बहुत छोटी उम्र में ले लो। जब वे बहुत छोटे हों तो ज्यादा आसानी रहती है। हमें लोगों की जरूरत है—ओह ! हमें विलक्षण अध्यापकों की जरूरत होगी—जिन्हें, पहले जो कुछ ज्ञात है उसका काफी अच्छा प्रलेखन प्राप्त हो ताकि उनसे जो कुछ पूछा जाये उसका वे उत्तर दे सकें, और साथ-ही-साथ, अगर अनुभव नहीं, तो कम-से-कम सच्ची अंतर्भासात्मक बौद्धिक वृत्ति का ज्ञान हो—अनुभव ज्यादा अच्छा है, और—स्वभावतः उसकी क्षमता हो तो और भी अच्छा—कम-से-कम यह ज्ञान तो हो ही कि जानने का सच्चा तरीका है मानसिक नीरवता, एकाग्र नीरवता जो सत्यतर 'चेतना' की ओर मुड़ी हो, और उससे आनेवाली चीज को ग्रहण करने की क्षमता हो। इससे अच्छा तो यह होगा कि इसे ग्रहण करने की क्षमता हो; कम-से-कम, यह समझा दिया जाये कि यही सच्ची चीज है—यह एक प्रकार का प्रदर्शन हो—और यह बताया जाये कि यह केवल इस दृष्टि से काम नहीं करता कि क्या सीखा जाये, ज्ञान के समस्त क्षेत्र की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि जो कुछ करना है उस सबके क्षेत्र से भी : यह निर्देश पाने की क्षमता हो कि उसे कैसे किया जाये; और जैसे-जैसे तुम बढ़ते जाओगे यह इस स्पष्ट बोध में बदल जायेगा कि क्या करना चाहिये, और इस बात का यथार्थ निर्देश होगा कि कब करना चाहिये। कम-से-कम बच्चों में, जैसे ही सोचने की क्षमता आये—यह सात वर्ष की अवस्था में आरंभ होती है, पर चौदह-पंद्रह तक बहुत स्पष्ट हो जाती है—उन्हें यह बतला देना चाहिये कि वस्तुओं के गहरे सत्य के साथ संबंध रखने का यही एक तरीका है, और यह कि बाकी सब कम या अधिक तौर पर चीज का एक भद्दा मानसिक अनुमान है जिसे प्रत्यक्ष जाना जा सकता है, बच्चों को सात वर्ष की अवस्था में जरा-सा निर्देशन दे देना चाहिये और चौदह वर्ष की अवस्था में यह करने का पूरा तरीका समझा देना चाहिये।

निष्कर्ष यह है कि स्वयं अध्यापकों में अनुभूति और साधना का कम-से-कम सच्चा आरंभ होना चाहिये और यह कि यह किताबें इकट्ठी करने और उन्हींको दोहरा देने का प्रश्न नहीं है। इस तरह तुम अध्यापक नहीं हो सकते; अगर बाहरी दुनिया ऐसा होना चाहती है तो उसे होने दो। हम "प्रोपैगंडा" करनेवाले नहीं हैं, हम केवल यह दिखा देना चाहते हैं कि क्या किया जा सकता है और यह प्रमाणित करने की कोशिश करना चाहते हैं कि यह करना ही पड़ेगा।

जब तुम बच्चों को बहुत छोटी अवस्था में लेते हो तो यह अद्‌भुत बात होती है। करने के लिये बहुत कम होता है : केवल होना काफी होता है।

कभी भूल न करो।

कभी आपे से बाहर न होओ।

हमेशा समझो।

और करने लायक चीज बस, यही है—स्पष्ट रूप से यह जानो और देखो कि यह गति क्यों हुई है, यह आवेग क्यों आया है, बच्चे का आंतरिक गठन क्या है, कौन-सी

चीज है जिसे मजबूत बनाना और आगे लाना चाहिये; उन्हें छोड़ दो, खिलने के लिये स्वतंत्र छोड़ दो; उन्हें बहुत-सी चीजें देखने का, बहुत-सी चीजें छूने का, यथासंभव अधिक-से-अधिक चीजें करने का अवसर दो। यह बहुत मजेदार है। और सबसे बढ़कर यह कि जिस चीज के बारे में तुम समझते हो कि तुम जानते हो, उसे उन पर लादने की कोशिश न करो।

उन्हें कभी न डांटो। हमेशा समझो और अगर बालक तैयार है तो समझाओ; अगर वह समझने के लिये तैयार न हो—अगर स्वयं तुम तैयार हो—तो मिथ्या स्पंदनों के स्थान पर सत्य स्पंदन रखो। लेकिन यह ...अध्यापकों से ऐसी पूर्णता की मांग करना है जो किसी विरले में ही होती है।

लेकिन अध्यापकों के लिये एक कार्यक्रम बनाना बहुत मजेदार होगा, एकदम तली से अध्ययन का सच्चा कार्यक्रम,—जो बहुत लचीला हो और जो बहुत गहरे संस्कार देनेवाला हो। बहुत छोटी अवस्था में यदि उन्हें सत्य की कुछ बूंदें दी जायें तो सत्ता के विकास के साथ-ही-साथ वे बिलकुल स्वाभाविक रूप से खिलेंगे। यह सुन्दर कार्य होगा।

११ नवंबर, १९६७[1]

तो ?

'क' : अभी हाल में आपने 'ख' की चिट्ठी[2] का जो उत्तर दिया था उसका अर्थ दो प्रकार से लगाया गया है।

कुछ लोग पहले वाक्य पर जोर दे रहे हैं जो है : "विभाजन तुरंत गायब हो जाये तो बहुत अधिक अच्छा होगा।" उनका ख्याल है कि पूरे स्कूल के लिये एक ही संगठन अपनाकर, यानी, वर्तमान मुक्त-प्रगति की कक्षाओं को सामान्य करके या समझौता करके भौतिक स्तर पर हमें इस विभाजन को हटाने का प्रयास करना चाहिये।

दूसरों का कहना है कि विशेष रूप से मनोवैज्ञानिक भेदों को हटाने का सवाल है और सबसे पहले मुक्त-प्रगति की भावना को व्यापक करना चाहिये। आपके उत्तर के अगले हिस्से को आधार बनाकर वे समझते हैं कि जो कक्षाएं अबतक रूढ़िगत मार्गों का अनुसरण करती आयी हैं उनके परिवर्तन के लिये कुछ समय की आवश्यकता है, और हम बाद में कुछ निश्चय करेंगे।

उत्तर देने से पहले, सबसे पहले, मैं ठीक-ठीक यह जानना चाहूंगी, ठीक-ठीक, व्यावहारिक और भौतिक रूप से जानना चाहूंगी कि भेद क्या है।

मेरा विचार है कि "मुक्त-प्रगति-पद्धति" में ऐसा नहीं है कि विद्यार्थी बैठे हों और अध्यापक मंच से सारे समय भाषण देता रहे; विद्यार्थी तटस्थ भाव से अपनी-अपनी मेज पर बैठे हों। वे अपना मनपसंद काम कर रहे हों और अध्यापक कहीं भी, किसी कमरे में या किसी विशेष जगह पर हो। विद्यार्थी को कोई प्रश्न पूछना हो तो वह उसके पास जाये। मैं तो यही समझती हूं, बिलकुल . . .

'ख' : ठीक ऐसा ही है, माताजी।

तो अब, पुरानी पद्धति को जारी रखने के लिये यह जरूरी है कि सभी विद्यार्थी कतार बांधे बैठे रहें और अध्यापक अपने मंच पर बैठा हो, यानी, ऐसी स्थिति हो जो बिलकुल हास्यास्पद है। मुझे अच्छी तरह याद है, जब मैं 'क्रीड़ांगण' में जाया करती थी, मुझे बड़ा अच्छा लगता था जब मैं बैठती थी और सब लोग मेरे इर्द-गिर्द होते थे, हम स्वंतंत्र होते थे . . .। लेकिन मेज, मंच, ऐसे विद्यार्थी जो जड़े हुए हों . . .। मैं

[1] 'शिक्षा-केंद्र' के पांच अध्यापकों के साथ बातचीत।

[2] देखिये पृ० १६०।

बिलकुल भौतिक रूप में कह रही हूं, मनोवैज्ञानिक रूप से नहीं; फलस्वरूप, अगर यह बदल जाये तो भी बहुत बड़ा सुधार होगा।

ऐसा न हो कि सभी विद्यार्थी, इस तरह लगभग पंक्ति बनाकर आयें, और फिर हर एक अपनी-अपनी जगह बैठ जाये, फिर अध्यापक आकर बैठे...। तब, अगर वे सभ्य शिष्ट हों तो सभी विद्यार्थी उठ खड़े हों (हंसी), अध्यापक बैठ जाये और अपना भाषण आरंभ कर दे। विद्यार्थी जिस किसी चीज के बारे में सोचते रहें, उनका ध्यान चारों तरफ घूमता रहे और फिर अगर उनकी मर्जी हो तो अध्यापक की बात पर कान दें। हां तो, यह समय बरबाद करना है, बस यही।

यह चीज बहुत, बहुत, बहुत भौतिक और व्यावहारिक है; इसे तुरंत बदला जा सकता है। अध्यापक कोई कोना या कोई जगह या छोटा कमरा चुनता है—मैं इसके बारे में कुछ नहीं जानती, लेकिन मेरे लिये यह सब बराबर है—ऐसा कोई स्थान जहां विद्यार्थी आकर उससे सलाह कर सकें, वह चाहे उसी कमरे में हो या साथ के कमरे में। स्वयं अध्यापक इधर-उधर की बातें सोचने में नहीं, विद्यार्थियों के प्रश्नों के उत्तर तैयार करने में अपना समय मजेदार ढंग से लगा सकता है।

यह तो तुरंत किया जा सकता है, है न ? लो, बस।

अब, यह जरूरी नहीं है कि सभी दल एक ही नाम अपनायें। यहीं... मनुष्य में एक प्रकार की वृत्ति होती है... आह ! उसे हम शिष्टता के साथ... भेड़-धसान कह सकते हैं, है न...। हमेशा उन्हें... पथ-प्रदर्शन करने के लिये किसी-न-किसी की जरूरत होती है।

विद्यार्थी को स्कूल में इस तरह न आना चाहिये मानों वह किसी बहुत ही उबाऊ चीज के लिये आ रहा हो जिससे बचा नहीं जा सकता, बल्कि इस दृष्टि से आना चाहिये कि वहां कोई मजेदार चीज करने की संभावना हो सकती है। अध्यापक को इस विचार के साथ स्कूल में रहना या आना नहीं चाहिये कि वह केवल आध घंटे या पैंतालीस मिनट तक वह चीज सुनाने जा रहा है जिसके लिये उसने थोड़ी-बहुत तैयारी की है, जो खुद उसे भी उबाऊ लगती है, और फलस्वरूप वह विद्यार्थियों का मन नहीं बहला पाता, बल्कि उसे बहुत-से रूप लेने की प्रक्रिया में छोटे-छोटे व्यक्तित्वों के साथ मानसिक—और अगर संभव हो तो ज्यादा गहरे—संपर्क में पैठने की कोशिश करनी चाहिये, ऐसे व्यक्तित्वों के साथ जिनमें, हम आशा करते हैं, कुछ जिज्ञासा हो। तो उसे इनकी जिज्ञासा को संतुष्ट कर सकना चाहिये। बहुत विनम्र भाव से, इस बात के प्रति सचेतन होना चाहिये कि वह काफी नहीं जानता और उसे अभी बहुत कुछ सीखना है; पर किताबों से नहीं सीखना है—उसे जीवन को समझने की कोशिश करके सीखना है।

तब तुम्हारे काम का एक और ही ढांचा होगा। मैं नहीं जानती... तुम विद्यार्थियों को चीजें बांटते हो...

'क': मधुर मां, मैं आपको अभी बतलाता हूं कि हम किस तरह काम करनेवाले हैं, यह एक सर्वांगीण स्वतंत्रता है...

ठीक है, ठीक है। अब कहते चलो। अपना प्रश्न।

'क': बहरहाल, हमारी नयी दृष्टि में और कुछ व्यावहारिक कारणों से भी, सैकड़ों विद्यार्थियों के लिये एक ही संगठन की कल्पना मुश्किल से की जा सकती है, विशेष विशेष रूप से इसलिये क्योंकि हम बच्चे के विकास के लिये आवश्यक घनिष्ठता स्थापित करना चाहते हैं। जब हमने 'ग' के साथ इस समस्या पर विचार किया था तो हमने परिवार की रचना के बारे में सोचा था यानी, ज्यादा-से-ज्यादा १८० से २०० बच्चों के दल हों, जिनके संगठन का लक्ष्य एक ही हो और जिसमें तथाकथित माध्यमिक शिक्षा के स्तर तक के बच्चों के विकास के लिये सारी सुविधाएं हों, लेकिन साथ-ही-साथ कुछ हद तक हर एक की मौलिकता बनी रहे।

इन दलों में निश्चय ही लेन-देन तथा बहुविध संपर्कों की, शायद कुछ सामूहिक क्रिया-कलापों की भी सारी संभावनाएं रहेंगी जो उच्चतर विद्यालय तक बढ़ती रहेंगी। उसके बाद एक और संगठन आयेगा जो विश्वविद्यालय के जीवन के विशिष्टीकरणों के अनुसार होगा।

सामान्य स्तर पर एकता रखते हुए भी, हम इस तरह एक जीवित-जाग्रत् विभिन्नता को बनाये रखेंगे। इसके बारे में आपका क्या विचार है?

ठीक है। इतना काफी है। यह अच्छा है। यह सिद्धांत है न?

'क': जी हां, माताजी।

यह सिद्धांत है और अब, व्यावहारिक स्तर पर उतरें तो तुम्हारे पास कुछ कमरे हैं, और वह सब...। तुम किस तरह...

'क': माताजी, उसे जारी रखने के बारे में मैं अपनी कक्षाओं की बात कर रहा हूं, यानी, जो अबतक था।

बहुत अच्छा।

('क' "मुक्त-प्रगति" की कक्षाओं का लंबा विवरण देता है।)

यह अच्छा है, अच्छा है। तो तुम क्या चाहते हो ?... यह अच्छा है। लेकिन इसे निश्चय ही व्यापक बना सकते हैं!

'क' : मधुर मां, हमें थोड़ा-सा संकोच हो रहा है, क्योंकि रूढ़िगत कक्षाओं में, ऐसे बच्चे हैं—स्वभावतः थोड़े बड़े—जिन्होंने इस तरीके से काम करना नहीं सीखा है। इसलिये हम सोच रहे थे कि पिछली चिट्ठी में आपने जो लिखा था उसके मुताबिक, परिवर्तन के लिये कुछ समय दें और अगर, जैसा कि आपने सुझाव दिया था, उदाहरण के लिये, तीन महीने के अंत में स्थिति ज्यादा तेज विकास के लिये अनुकूल न हो तो हम बदल लेंगे।

('ख' से) लेकिन तुम, उदाहरण के लिये, तुम जो कर रहे थे उसकी जगह क्या करना चाहते हो ?

'ख' : सिद्धात-रूप में, वही जिसका 'क' ने प्रस्ताव रखा है।

हां।

'ख' : बस, फर्क इतना है कि दोपहर को अध्यापक पहले की तरह ही निश्चित समय पर विद्यार्थियों से मिलना चाहते हैं।

निश्चित समय पर ? विद्यार्थी निश्चित समय पर स्कूल आते हैं, आते हैं न ?

'ख' : दोपहर को तीन अंतर होंगे, रोज।

तीन अंतर ?

'ख' : चालीस या पचास मिनट के तीन अंतर। यानी, दोपहर को हम वही रखना चाहते हैं जो पहले था, वही सिद्धांत।

तीन अंतर ? देखें...

'ख' : लगातार तीन कक्षाएं माताजी।

स्कूल निश्चित समय पर खुलता है, है न ? विद्यार्थियों को उस समय वहां उपस्थित रहना चाहिये। वे जिस किसी समय नहीं आ सकते।

'क' : जी हां, माताजी।

. . . क्योंकि "मुक्त-प्रगति" का अर्थ अनुशासन का अभाव नहीं है . . .

'क' : नहीं, नहीं, यह तो सुनिश्चित है।

ऐसा न हो कि विद्यार्थी स्वतंत्रता के बहाने आध घंटा देर से आये, क्योंकि इस प्रकार की स्वतंत्रता स्वतंत्रता नहीं है, वह बस, अनुशासनहीनता है। यह जरूरी है कि हर एक के लिये सख्त अनुशासन हो। लेकिन बच्चा अपने-आपको अनुशासित करने में समर्थ नहीं है, उसे अनुशासन का अभ्यास देना पड़ेगा। फलस्वरूप यह जरूरी है कि वह एक ही समय पर उठे, एक ही समय पर तैयार हो, और एक ही समय पर स्कूल आये। यह तो अनिवार्य है, वरना एक असंभव अस्तव्यस्तता हो जायेगी।

'क' : पौने आठ बजे, माताजी।

ठीक है, तब स्कूल सचमुच आठ बजे खुलता है।

'क' : पौने आठ बजे।

नहीं। स्कूल, फाटक पौने आठ बजे खुलते हैं।

'क' : जी नहीं, जी नहीं . . . कक्षाएं पौने आठ बजे शुरू होती हैं।

ओह ! वे पौने आठ बजे शुरू होती हैं। और खत्म होती हैं ?

'क' : साढ़े ग्यारह बजे।

साढ़े ग्यारह। ('ख' से) तो तुम कहते हो कि दोपहर को तुम . . .

'ख' : वे स्कूल आयेंगे एक बजकर पचास मिनट पर।

और स्कूल से कितने बजे जायेंगे ?

'ख' : चार बजे।

चार बजे। 'क्रीड़ांगण में' उन्हें कितने बजे रहना पड़ता है ?

'क': साढ़े चार बजे, लगभग ऐसा है, माताजी।

'ख': साढ़े चार या पांच।

'क': कभी-कभी पांच बजे।

जब वे जाते हैं तो खाते हैं, उन्हें कुछ खाना दिया जाता है। साढ़े चार बजे। हां, यह संभव है...

'ख': खाना साढ़े तीन से साढ़े चार तक दिया जाता है, माताजी।

यह संभव है, अगर वे बहुत नियमित हों तो। लेकिन मैं समझना चाहती हूं। "तीन अंतर" का मतलब है... एक ही अध्यापक बच्चों के तीन अलग-अलग दल लेता है, या वही विद्यार्थी तीन अलग-अलग अध्यापकों के पास जाते हैं और अध्यापक हर एक को अलग से पढ़ाता है।

'ख': नहीं, मधुर मां, यह कुछ अलग है।

अपनी बात स्पष्ट करो। तुम्हारी कक्षा में कितने विद्यार्थी हैं ?

'ख': लगभग डेढ़ सौ।

डेढ़ सौ ! ठीक है। तो डेढ़ सौ विद्यार्थी आते हैं। फिर क्या होता है ?

'ख': हर एक विद्यार्थी के लिये एक निश्चित कक्षा होगी जहां उसे जाना होगा।

डेढ़ सौ ? एक कक्षा में डेढ़ सौ ! यह तो असंभव है !

'ख': एक कक्षा में नहीं। हम उन्हें कक्षाओं में बांट देते हैं, फ्रेंच के लिये अंग्रेजी के लिये, अलग-अलग स्तरों पर।

ओह ! तो सब एक ही स्तर के नहीं हैं।

'ख': पांचवीं से दसवीं तक।

ओह, ओह, ओह! और तब डेढ़ सौ विद्यार्थियों के लिये कितने अध्यापक होंगे?

'ख': तीस अध्यापक, लगभग तीस।

तीस अध्यापक। अच्छा। तो फिर क्या होता है? तुम्हारे पास कितनी कक्षाएं हैं? कितने कमरे?

'ख': लगभग पन्द्रह या सोलह कमरे हैं।

तो दोपहर को तुम क्या पढ़ाते हो? देखो, क्या निश्चित विषय पढ़ाये जाते हैं या उसी प्रकार का काम होता है?

'क': माताजी, अगर आप अनुमति दें तो...। हमारे लिये फर्क यह होगा कि हम पूरी स्वतंत्रता चाहते हैं, जब कि वे पहले की तरह कुछ हद तक निश्चित कक्षाएं ही चलाना चाहते हैं।

निश्चित कक्षाएं?

'क': यानी, एक निर्धारित स्तर, बच्चों की निर्धारित संख्या, निर्धारित अध्यापक...

ओह! तो अध्यापक का सिखाने का तरीका बदलेगा, लेकिन विशेष बच्चों को वह विशेष विषय पढ़ायेगा...

'क': ...उन बच्चों को उस समय वहां आना ही होगा।

हां, हां। यह ठीक है। यह चल सकता है। केवल इसका मतलब है कि तुमको...। लेकिन उस वक्त तुम लोग सिखाते क्या हो? भाषाएं?

'क': जी हां, विशेष रूप से भाषाएं, माताजी।

ओह! तो यह केवल भाषाओं के लिये है।

'क' : यह केवल भाषाओं के लिये है।

अब मैं समझी। तो इन डेढ़ सौ विद्यार्थियों के लिये कितनी भाषाएं होंगी?

'ख' : सिद्धांततः, तीन : अंग्रेजी, फ्रेंच, और उनकी अपनी मातृभाषा।

ओ! तब तो बहुत-सी भाषाएं हैं! बंगला, गुजराती, हिन्दी हैं और फिर तमिल, तेलुगु। इतने में ही पांच हो गयीं।

'ख' : संस्कृत!

वह तो...। यह भाषा सबको सीखनी चाहिये। विशेष रूप से उन सबको सीखनी चाहिये जो यहां काम करते हैं... पंडितों की संस्कृत नहीं... सबको, सबको संस्कृत सीखनी चाहिये, चाहे उनका जन्मस्थान कोई भी क्यों न हो।

'क' : माताजी, सिद्धांततः, यह वही चीज है जिसके बारे में हम विचार कर रहे हैं—अगले साल सभी बच्चों को उनकी मातृभाषा के अतिरिक्त, संस्कृत पढ़ायेंगे।

हां। लेकिन पाण्डित्य के स्तर की संस्कृत नहीं, बल्कि वह संस्कृत, वह संस्कृत—कैसे कहूं?—जो भारत की सभी भाषाओं के लिये द्वार खोलती है। मेरे ख्याल से यह अनिवार्य है। आदर्श तो यह होगा कि, कुछ सालों में, एक नवविकसित कायाकल्प-प्राप्त संस्कृत, यानी, बोलचाल की संस्कृत भारत की प्रतिनिधि भाषा हो—भारत की सभी भाषाओं के पीछे संस्कृत दिखायी देती है और ऐसा ही होना चाहिये। जब हमने इसके बारे में बातचीत की थी तो श्रीअरविन्द का यही विचार था। क्योंकि अब तो अंग्रेजी सारे देश की भाषा है, लेकिन यह अस्वाभाविक है। बाकी जगत् के साथ संबंध को ज्यादा सरल बनाने के लिये यह बहुत अच्छी है, लेकिन जिस प्रकार हर एक देश की अपनी भाषा होती है, उसी प्रकार यह जरूरी है कि...। और यहां, जैसे ही हम एक राष्ट्रभाषा की चाह करते हैं कि सब लोग झगड़ने लगते हैं। हर एक चाहता है कि उसी की भाषा राष्ट्रभाषा बने, और यह बिलकुल वाहियात है। लेकिन संस्कृत के विरोध में कोई कुछ नहीं कह सकता। यह दूसरी भाषाओं से बहुत पुरानी है और इसमें बहुत-से शब्दों की धातुएं हैं।

यह चीज मैंने श्रीअरविन्द के साथ पढ़ी थी और स्पष्टतः यह बहुत मजेदार है। कुछ धातुएं हैं जो जगत् की सभी भाषाओं में मिलती हैं—ऐसी ध्वनियां, धातुएं हैं जो उन

सभी भाषाओं में पायी जाती हैं। तो हां, यह, यह चीज, यही चीज सीखनी चाहिये और इसी को राष्ट्रभाषा होना चाहिये। जिस तरह फ्रांस में हर बच्चे को फ्रेंच आनी चाहिये, चाहे वह ठीक तरह न बोल पाये, या उसे अच्छी तरह नहीं जाने, लेकिन यह जरूरी है कि उसे थोड़ी-बहुत फ्रेंच आती हो—उसी तरह भारत में जन्मे हर बच्चे को संस्कृत आनी चाहिये; और जगत् के सभी देशों के साथ यही बात है। यह जरूरी है कि उसे राष्ट्रभाषा आती हो। और फिर, जब वह इसे सीख जाये तो वह जितनी भाषाएं सीखना चाहे सीख ले। अबतक, लोग झगड़ों में ही खोये हुए हैं, और यह वातावरण किसी चीज का निर्माण करने के लिये बहुत खराब है। लेकिन मुझे आशा है कि एक दिन आयेगा जब यह संभव होगा।

इसलिये मैं चाहती हूं कि यहां सरल संस्कृत पढ़ायी जाये, जितनी सरल हो सके उतनी, लेकिन ऐसा नहीं जिसे ठोक-पीटकर सरल बना दिया गया हो—बल्कि ऐसी सरल जो अपने मूल के अनुरूप हो . . . ये ध्वनियां, मूल ध्वनियां जिनसे बाद में शब्द बने हैं। मुझे पता नहीं कि यहां कोई है भी जो यह काम कर सके। वस्तुतः, मुझे पता नहीं कि ऐसा कर सकनेवाला भारत में भी कोई है या नहीं। श्रीअरविन्द जानते थे। लेकिन कोई ऐसा व्यक्ति जिसे संस्कृत आती हो कर सकता है . . .। मुझे पता नहीं। तुम्हारे यहां संस्कृत के अध्यापक कौन हैं? "च"?

'ख': 'च', 'छ' . . .

'छ' . . .? लेकिन वह तो यहां कभी नहीं होता।

'ख': वे फरवरी में आ रहे हैं।

हां, बहुत पहले "ज" भी था।

'ख': 'ज', फिर कुछ युवा अध्यापक हैं, 'झ', और 'ट'।

नहीं, ऐसा कोई व्यक्ति होना चाहिये जो काफी जानता हो। मैंने एक बार 'च' से बात की थी। उसने मुझसे कहा कि वह एक सरल व्याकरण तैयार कर रहा है—मुझे मालूम नहीं उसने इस भाषा के लिये क्या किया जो सारे देश में व्यापक हो सकती है। मुझे नहीं मालूम। शायद, आखिर, 'च' ही सबसे अच्छा है।

तो, दोपहर को, कौन-कौन से अध्यापक हैं? तुम्हारा कहना है कि लगभग तीस हैं।

'ख': सभी कक्षाओं के लिये, पांचवीं कक्षा से . . .

पूरे स्कूल के लिये ?

'क': माध्यमिक कक्षाओं के लिये, माताजी।

इससे नीचे की कक्षाओं से तुम्हारा संपर्क नहीं है ?

'क': उसकी देखभाल अध्यापकों के दूसरे दल करते हैं।

हां, ठीक है। और माध्यमिक कक्षा के लिये लगभग डेढ़ सौ विद्यार्थियों के लिये तुम्हारे पास तीस अध्यापक हैं। तो जब वे आते हैं तो क्या जानते हैं ? कुछ नहीं ? किंडर गार्टन में फ्रेंच सिखाने की बात है, है न ? उनके साथ फ्रेंच बोलते हैं। लेकिन मुझे पता नहीं इस बारे में सख्ती है या नहीं।

'क': बहुत सख्ती नहीं है, माताजी।

बहुत नहीं, है न ?

'घ': पहले सख्ती थी। अब तो अधिकतर हिंदी में बोलते हैं।

बिलकुल छुटपन से, छुटपन से ही बच्चों में अपना मन बहलाने की प्रवृत्ति होती है, उनमें . . . उनमें कठोरता नहीं होती और उनको यह जानने में बड़ा मजा आता है कि कैसे एक ही चीज को विभिन्न भाषाएं विभिन्न नाम देती हैं। उनमें अब भी है . . . या उनमें अभीतक मानसिक कठोरता नहीं होती। उनमें अब भी वह नमनीयता होती है जिससे वे सचेतन हो जाते हैं कि चीज का अपने-आपमें अस्तित्व है, कि उसे जो नाम दिया जाता है वह केवल एक रिवाज है। तो मेरा ख्याल है कि उनके लिये यही बात है, कि दिया गया नाम बस, एक रिवाज है। और इसलिये, कई बच्चों को फलाना कहने में, उदाहरण के लिये, "हां" या "ना" कहने में, ये ही शब्द लो, "हां" या "ना" कहने में मजा आता है। फ्रेंच में इस तरह कहते हैं, जर्मन में इस तरह कहते हैं, अंग्रेजी में इस तरह कहते हैं, इटैलियन में इस तरह कहते हैं, हिंदी में इस तरह कहते हैं, संस्कृत में इस तरह . . .। तो अगर तुम खिलाना जानो तो यह बहुत मजेदार खेल है। कोई चीज ले लो और फिर कहो: "देखो यह है . . .।" इस तरह। या कोई जीवंत कुत्ता लो, या एक जीवंत पक्षी, या एक छोटा जीवंत पेड़, और फिर उनसे कहो, "देखो, ये सब भाषाएं हैं और . . .।" उनके अंदर बिलकुल कोरा होता है, वे बहुत अच्छी तरह, बहुत आसानी से सीख सकते हैं। यह बहुत मजेदार खेल है। ('ख' से)

लेकिन इसके साथ तो तुम्हारा कोई संबंध नहीं, तुम तो पहले ही . . .

ठीक है। तो, स्वभावतः, तुम्हारे तीस अध्यापक और डेढ़ सौ विद्यार्थी, उनके साथ तुम्हें . . .। वे जो भाषा सीखना चाहते हैं, उसके मुताबिक अलग-अलग कक्षाओं में जाते हैं। यह काफी स्वाभाविक है, यहांतक कि मुझे अनिवार्य भी लगता है, क्योंकि सभी अध्यापकों के एक साथ रहने की जरूरत नहीं—वे बातें करने लग जायेंगे . . . और फिर विद्यार्थी आयेंगे और यह सब पूरा एक . . . नहीं ! यह ठीक है।

जब तुम फ्रेंच सीखना चाहो तो इस कक्षा में जाते हो, जब तुम अंग्रेजी सीखना चाहो तो उस कक्षा में, जब . . .

'ग': माताजी, ऐसी बात नहीं है।

तब फिर ?

'ख': सुबह ऐसा होता है।

तो तुम क्या पढ़ाते हो ?

'ख': मैं गणित सिखाता हूं।

भाषाओं के साथ तो इसका कोई संबंध नहीं है !

'ख': और इतिहास।

तुम गणित फ्रेंच में पढ़ाते हो ? हां, पर तब तो समस्या और जटिल हो जाती है . . .। क्या (हंसी), क्या बात है ? ('ख' से) तुम्हें क्या कहना है ?

('क' 'ख' से कहता है): क्या बतलाया जाये ?

'ख': हम जो करना चाहते हैं ठीक-ठीक वही।

'ग': क्या मौखिक कक्षाएं भी होती हैं ?

'ख': केवल भाषाओं के लिये ही नहीं, बल्कि गणित और विज्ञान के लिये भी मौखिक कक्षाएं होती हैं।

'क': माताजी, जिन निश्चित कक्षाओं में बच्चों को भाषाओं, गणित और विज्ञान के लिये जाना पड़ता है उन्हें जारी रखा जा रहा है। सुबह का समय स्वतंत्र काम के लिये रखा गया है। तीन विषयों के लिये उन्होंने दोपहर को निश्चित कक्षाएं रखी हैं, जब कि हमें...

भाषाएं ?

'क': भाषाएं, गणित और विज्ञान... और इतिहास भी।

विज्ञान ?

'ख': जी हां, विज्ञान—वनस्पति विज्ञान, भौतिक विज्ञान।

हां, यह पूरा एक जगत् है। तो फिर क्यों ?... तो बाकी क्या रह गया ? साहित्य ? क्या ? हर चीज को समा लेनेवाले विज्ञान के अतिरिक्त, साहित्य है, और फिर ? कला ? स्वभावतः, यह तो...

'क': ('ख' से) क्या तुम सभी विषयों के लिये निश्चित कक्षाएं रख रहे हो ? (माताजी से) मधुर मां, हम संक्षेप में कह सकते हैं कि दोपहर को, कुछ हदतक, एक ऐसे संगठन को जारी रखा जा रहा है जो पहले के संगठन से मिलता-जुलता है, यानी, निश्चित कक्षाएं रहेंगी। लेकिन सुबह का काम अपेक्षाकृत स्वतंत्र है।

यहां मैं कुछ जानना चाहूंगी। भाषा किस तरह सिखायी जाती है ? क्योंकि जो अध्यापक सभी को एक ही चीज कहना शुरू कर देता है...। विद्यार्थी वहां से निकलते हैं और उनके पल्ले कुछ नहीं पड़ता ! भाषा, उसे तो यथार्थतः सबसे अधिक जीती-जागती चीज होनी चाहिये, सबसे अधिक जीवंत ! और उसके जीवंत होने के लिये यह जरूरी है कि विद्यार्थी उसमें भाग लें। उन्हें केवल ऐसे कान नहीं होने चाहिये जो कुर्सी पर बैठे सुनते रहें ! अन्यथा, वहां से निकलने पर उन्होंने कुछ भी न सीखा होगा।

'क': माताजी, जहांतक हमारा संबंध है, कक्षाएं इस प्रकार व्यवस्थित की जाती हैं: हर प्रकार के लिखित काम के लिये, अध्यापक और विद्यार्थी के बीच व्यक्तिगत संबंध होता है। हर प्रकार के मौखिक काम, बैठक इत्यादि के

लिये हम बच्चों के सामने रोज कई संभावनाएं रखते हैं और वे उनमें से किसी में भाग लेने के लिये स्वतंत्र होते हैं।

संभावनाएं ?

'क' : उदाहरण के लिये, विभिन्न विषयों पर वाद-विवाद, वार्तालाप होते हैं—कुछ बच्चे हैं जो, उदाहरण के लिये, सामयिक विषय आदि की अपेक्षा वैज्ञानिक विषय ज्यादा पसंद करते हैं। या नाटक के बारे में तात्कालिक प्रयास होता है, इत्यादि। यह सब बच्चों को एक दिन पहले या उसी दिन बताया जाता है; उनको एक कक्षा में जाना पड़ता है, लेकिन वह चुन सकते हैं कि किसमें जायें... और फिर लेखन, व्याकरण यह सब होता है।

हां, क्योंकि इन बच्चों को भाषा आती है। ('ख' से) और तुम ?

'क' : उसके लिये भी वही चीज है।

('क' से) हां, इस तरह, यह ठीक है।

('ख' से) लेकिन तुम्हारी दोपहरवाली कक्षा... तुम उन्हें किस तरह चलाने की सोच रहे हो ? इस तरह ? बच्चे कुर्सियों पर बैठे रहेंगे और अध्यापक भाषण देगा ? हे भगवान् ! कितना उबाऊ है ! अध्यापक ऊब जाता है, सबसे पहले वही ऊब जाता है, तो स्वभावतः वह अपनी ऊब विद्यार्थियों को बांट देता है।

इस तरह की व्यवस्था हो सकती है : एक विषय ले लो और अध्यापक इस या उस व्यक्ति से प्रश्न पूछे : "इसके बारे में तुम्हारी क्या राय है ? इसके बारे में तुम क्या जानते हो ?" और यों ही, इस तरह, और फिर, स्वभावतः, अगर दूसरे लोग कान दे रहे हैं तो उनको लाभ होगा। इस तरह एक प्रकार की जीवित-जाग्रत व्यवस्था—ऐसा उबाऊ भाषण नहीं—जिससे पांच मिनट में आंख लग जाये। तुम प्रश्न पूछो, या फिर, अगर बोर्ड हो तो... बोर्ड पर मोटे-मोटे अक्षरों में बड़ा प्रश्न लिखो ताकि सब लोग पढ़ सकें, फिर पूछो : "इसका जवाब कौन दे सकता है ?" इस तरह करो, यहां-वहां प्रश्न पूछो, उनसे पूछो जिन्होंने प्रश्न किया है...। और जब एक व्यक्ति उत्तर दे तब कहो : "क्या कोई है जो इसकी बात को पूरा कर सके ?" यह जरूरी है कि अध्यापक में कुछ जान हो।

मैं समझती हूं—हर एक भाषा के लिये एक कक्षा, अलग-अलग दल—दोपहर को, ठीक है। लेकिन भगवान् के लिये, यह नहीं कि ... और कुर्सी पर बैठकर : "यह कब खत्म होगा ?" वे अपनी घड़ी देखते हैं...। और सौ में से एक भी अध्यापक ऐसा

नहीं जो सबका मनोरंजन करने के लिये खुद काफी मनोरंजक हो। और पहली बात यह है कि वही सबसे पहले ऊबने लगता है। उसके लिये, यह . . . यहां नहीं, लेकिन बाहर यही आजीविका है, इसलिये . . .

एक साथ बीस, तीस, चालीस विद्यार्थी होने चाहिये . . . एक साथ कितने, बीस ? लगभग बीस ?

'ख': जी हां, माताजी।

केवल : "ओह ! अब हम एक रोचक कार्य करेंगे। चलो देखें, हम मन बहलाने के लिये क्या कर सकते हैं ? कौन-सा खेल खेल सकते हैं ?" तो, स्वभावतः, इस तरह तुम कुछ ढूंढते हो, खोज करते हो। और तब वह (अध्यापक) सजीव रहता है, क्योंकि उसे कुछ खोजना पड़ता है, और विद्यार्थी सामने बैठे होते हैं, इस प्रकार . . .। जब उनमें थोड़ा आत्म-सम्मान हो तो वे भी कुछ कह सकना चाहते हैं, और इस तरह वातावरण जीवंत बन जाता है। क्या यह घर पर बैठकर करने . . . सीखने की अपेक्षा ज्यादा मजेदार न होगा ? अगर तुम सच्चे हो, तो अगले दिन तुम जो कक्षा लेनेवाले हो उसके लिये शाम को काम करते हो, बहुत सावधानी के साथ सीखते हो, नोट्स लेते हो, और लिखते हो, और . . .। तुम विषय तैयार कर सकते हो, है न, तैयार करते हो ताकि सभी प्रश्नों का उत्तर दे सको। यह हमेशा आसान नहीं होता। लेकिन अच्छी तरह अपना विषय तैयार करना यह अच्छा है; रात के समय थोड़ा प्रकाश और थोड़ी अभीप्सा पाने की कोशिश करना, और फिर, अगले दिन, तुम जो जानते हो उसे जीने के लिये एक जीवंत तरीका ढूंढना। और वहां अध्यापक और विद्यार्थी न हों . . . नहीं, नहीं ! जीती-जागती सत्ताओं का एक दल हो, जिसमें कुछ व्यक्ति औरों से कुछ अधिक जानते हैं, बस।

'क': माताजी, अब एक प्रश्न है, एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न। आपने हमसे बहुत बार कहा है कि हम जो प्रश्न करते हैं उसका सच्चा उत्तर केवल शांति में ही मिल सकता है। बच्चों से यह खोज कराने का कि यह शांति कैसे स्थापित होती है सबसे अच्छा तरीका क्या है ? क्या इसी तरह ज्ञान का स्थान चेतना लेती है ?

(लंबा मौन)

देखो, कक्षाओं की इस पद्धति में जहां सब बैठे हैं, अध्यापक भी बैठा है और काम करने का समय भी सीमित है, यह संभव नहीं है। अगर तुम्हारे अंदर निरपेक्ष स्वतंत्रता

है तभी तुम जब कभी तुम्हारे अंदर नीरव होने की आवश्यकता हो, तुम नीरवता स्थापित कर सकते हो। लेकिन जब सभी विद्यार्थी कक्षा में हों और अध्यापक भी . . . जब अध्यापक अपने अंदर शांति स्थापित कर रहा हो, सभी विद्यार्थी . . . तब यह संभव नहीं है।

'वह घर पर, रात को नीरवता स्थापित कर सकता है, एक दिन पहले कर सकता है, ताकि वह अगले दिन के लिये तैयारी कर सके, लेकिन वह . . .। यह तुरंत लागू होनेवाला नियम नहीं बन सकता। स्वभावतः, जब तुम नसैनी के सबसे ऊपर के डण्डे पर हो और तुम्हें अपने मन को बिलकुल नीरव रखने की आदत हो तो तुम कुछ और नहीं कर सकते; लेकिन तुममें से कोई भी वहां नहीं पहुंचा है। इसलिये उसकी बात न करना ज्यादा अच्छा है। इसलिये मेरा ख्याल है कि . . .। विशेष रूप से इस पद्धति में—सीमित समय की कक्षाएं, विद्यार्थियों की सीमित संख्या, निश्चित अध्यापक और निश्चित विषय . . . उस समय तुम्हें क्रियाशील रहना चाहिये।

यह जरूरी है कि . . .। अगर विद्यार्थी ध्यान या एकाग्रता का अभ्यास करना चाहें, अंदर पैठने की कोशिश करना चाहें . . . तो यह अंतर्भासिक जगत् के साथ संपर्क में आना है, केवल मानसिक उत्तर पाने की जगह जो ऐसा है—ऊपर से उत्तर पाना है, वह उत्तर जो कुछ ज्योतिर्मय और सजीव होता है। लेकिन इसके लिये घर में रहते हुए अभ्यास करना चाहिये।

स्वभावतः, जिसको आदत है उसे कक्षा में—जब अध्यापक प्रश्न पूछे, बोर्ड पर प्रश्न लिखे या कहे : "इसका जवाब कौन दे सकता है ?"—तब यह व्यक्ति इस तरह कर सकता है (माताजी अपने दोनों हाथ अपने ललाट पर रखती हैं), कुछ पा सकता है, ओह ! और उसके बाद कह सकेगा . . .। लेकिन . . . जब हम उस बिंदुतक पहुंच जायेंगे तो यह एक बड़ी प्रगति होगी।

वरना, तुम जो कुछ सीखते हो उसी को मस्तिष्क के भंडार से बाहर निकाल लाते हो। यह बहुत मजेदार नहीं होता, लेकिन कम-से-कम इससे कुछ मानसिक कसरत मिल जाती है। और कक्षा की पद्धति लोकतंत्रीय पद्धति है, क्यों ! यह इसलिये क्योंकि . . . सीमित समय में, सीमित स्थान पर . . . अधिक लोगों को सिखा सकना चाहिये, ताकि हर एक लाभ उठा सके। यही पूरी-पूरी लोकतंत्र की भावना है। तब एक प्रकार का . . . समीकरण अनिवार्य हो जाता है। हां तो . . . तुम सबको एक ही स्तर पर रख देते हो और यह बात शोचनीय है। लेकिन जगत् की वर्तमान स्थिति में, हम कह सकते हैं : "अभी इसकी आवश्यकता है।" केवल धनवान् लोगों के बच्चे ही जो खर्चा दे सकेंगे . . . स्पष्टतः, इसके बारे में सोचना बहुत सुखद नहीं है। नहीं, पूरी आबादी के लिये . . . ओरोवील के लिये, प्रारंभिक कक्षाओं की समस्या होगी और यह मजेदार समस्या होगी : उन बच्चों को कैसे तैयार किया जाये जो इधर-उधर से इकट्ठे किये गये हैं, जिनके घर में सीखने के लिये कोई साधन नहीं है, जिनके मां-बाप

अज्ञानी हैं, सीखने के साधन की कोई संभावना नहीं है, कुछ नहीं, कुछ नहीं, कुछ भी नहीं, केवल कच्चा महल है, इस तरह—उनको जीना कैसे सिखाया जाये ? यह एक मजेदार समस्या होगी।

'क': माताजी, अगले साल के लिये हमने जो कुछ तैयार किया है उसके अनुसार हम बच्चे के व्यक्तित्व के लिये पूरा सम्मान पा लेंगे। सर्वांगीण रूप से, हर क्षण—केवल बच्चे का महत्त्व होगा, उस दल का नहीं जिसका वह अंग है। पूरी तरह। और फिर, अभी मैं आपसे जो प्रश्न पूछ रहा था उसके संबंध में—सुबह के काम की परिस्थितियां कुछ भिन्न हैं, क्योंकि काम स्वतंत्र रूप में होगा। तो, शायद ऐसी परिस्थितियों में बच्चे स्वतंत्र...

हां, वहां, सुबह का काम, वहां जो काम होता है इस तरह, "पूर्णता की ओर"[१] ...। वे भली-भांति ऐसा कर सकते हैं: क्षण-भर के लिये नीरव, एकाग्र रह सकते हैं, अंदर जो कुछ शोर मचाता है उसे इस तरह चुप कराके प्रतीक्षा कर सकते हैं। सवेरे वे यह कर सकते हैं। नहीं, मेरे कहने का मतलब यह है कि जब घंटे-भर की या पौन घंटे की कक्षा हो... जिसमें एक दल और एक अध्यापक हो... तो तुम कार्यव्यस्त रहने के लिये बाधित होते हो। यह मजेदार होगा अगर पौन घंटे तक सब लोग... (हंसी)।

एक चीज एक बार की जा सकती है, कम-से-कम एक बार: तुम एक विषय रखो, अन्य पाठ्य विषयों से, यह विषय उनके सामने रखो और कहो: "हम पंद्रह मिनट तक चुपचाप रहेंगे, चुपचाप; बिना आवाज किये, किसी को भी आवाज नहीं करनी चाहिये। हम पंद्रह मिनट तक चुपचाप रहेंगे। पंद्रह मिनट तक बिलकुल, बिलकुल नीरव, निश्चल और सतर्क रहने की कोशिश करेंगे, और फिर हम देखेंगे कि पंद्रह मिनट के बाद क्या होता है।" शुरू में हम पांच मिनट ही कर सकते हैं, तीन मिनट, दो मिनट, कोई हर्ज नहीं। पंद्रह मिनट बहुत ज्यादा हैं, लेकिन यह करना चाहिये... यह प्रयास करो... यह देखो। कुछ बच्चे छटपटाने लगेंगे। शायद बहुत कम बच्चे हैं जो चुपचाप रहना जानते हैं; या फिर वे सो जाते हैं—लेकिन अगर वे सो जायें तो कोई हर्ज नहीं। हम यह कम-से-कम एक बार करके देख सकते हैं, यह देख सकते हैं कि क्या परिणाम आता है: "देखें! दस मिनट की नीरवता के बाद मेरे प्रश्न का उत्तर कौन देता है ? लेकिन ऐसा न हो कि उन दस मिनटों में तुम मानसिक रूप से उस विषय के बारे में जितना जान सको उतना इकट्ठा करने की कोशिश करो, नहीं, नहीं—ये दस मिनट ऐसे हों जब तुम बिलकुल ऐसे, कोरे, निश्चल, नीरव, सतर्क रहो... सतर्क और नीरव।"

[१] "मुक्त-प्रमति-पद्धति" पर आधारित एक दल का नाम।

अब, अगर अध्यापक सच्चा अध्यापक है तो इन दस मिनटों में वह अंतर्भास के क्षेत्र से उस ज्ञान को उतारता है और उसे कक्षा में फैलाता है। और इस तरह तुम मजेदार काम करते हो, और उसका परिणाम भी देखोगे। तब स्वयं अध्यापक भी थोड़ी प्रगति करने लगेगा। तुम कोशिश कर सकते हो। कोशिश करो, फिर देखोगे!

'क': माताजी, हमने यह कोशिश की है।

देखो, जो लोग सच्चे हैं, सच्चे और बहुत—कैसे कहा जाये?—जो अपनी अभीप्सा में बिलकुल निष्कपट हैं, उन्हें इसमें अद्भुत सहायता मिलती है, एक चेतना है जो बिलकुल जीवंत, बिलकुल क्रियाशील होती है जो . . . हर प्रकार की एकाग्र नीरवता को प्रत्युत्तर देने के लिये तैयार रहती है। इससे छः साल का काम छः महीनों में किया जा सकता है, लेकिन . . . यह जरूरी है कि इसमें कहीं ढोंग न हो, ऐसी चीज नहीं होनी चाहिये जो नकल करने की कोशिश करती हो, दिखावा करती हो। वहां . . . सचमुच, तुम्हें पूरी तरह, निष्कपट, पवित्र, सच्चा, होना चाहिये, इस बात के प्रति सचेतन होना चाहिये कि . . . हम केवल उसी के सहारे जीते हैं जो ऊपर से आता है। तब . . . तब . . . तब तुम लंबे डगों से आगे बढ़ सकोगे।

लेकिन इसे रोज, नियमित रूप से, निश्चित समय पर मत करो, क्योंकि तब वह एक आदत और उबानेवाली चीज बन जाती है। यह . . . अप्रत्याशित होना चाहिये! तुम अचानक कह उठते हो : "चलो, हम ऐसा करें" . . . जब तुम्हें लगे कि तुम खुद कुछ ऐसे हो, कुछ-कुछ तैयार। यह बहुत मजेदार होगा।

एक प्रश्न पूछो, भरसक बुद्धिमानी का प्रश्न, केवल सैद्धांतिक या पंडिताऊ प्रश्न नहीं—थोड़ा जीवंत प्रश्न। वह मजेदार होगा।

(मौन)

तुम देखोगे जैसे-जैसे तुम इसे सिद्ध करने के लिये प्रयास करोगे वैसे-वैसे तुम प्रकृति में,—निम्नतर प्रकृति में, यानी, निम्नतर मन, निम्नतर प्राण, निम्नतर शरीर में—कितना ढोंग भरा है, कितनी झूठी महत्त्वाकांक्षा भरी है . . .। तुम कोई भी . . .। दिखावा करने की इच्छा पाओगे : यह जरूरी है कि इन सबको पूरी तरह, जड़ से निकाल दिया जाये, उनका स्थान अभीप्सा की सच्ची लौ ले ले, उस पवित्रता के प्रति अभीप्सा जो हमें 'परम चेतना' हमसे जो चाहती है उसी के लिये जीता रखती हो, जो हमसे वही करवाती हो जो 'परम चेतना' चाहती है और तभी करवाती है जब वह चाहती है। तब तुम एकदम अलग व्यक्ति हो संकते हो . . .। यह मार्ग पर काफी दूर है, लेकिन तुम इसे, सारी सत्ता की शुद्धि . . . हमेशा, करने की कोशिश करते रहो।

तब न स्कूल होता है, न अध्यापक, न विद्यार्थी, न ऊब; तब . . . केवल जीवन

होता है जो रूपांतरित होने की अभीप्सा करता है। यह लो : यही है आदर्श, हमें वहां तक जाना है।

तुम्हें और भी प्रश्न पूछने हैं ?

'क': माताजी, क्या आप स्कूल के लिये नये सत्र के लिये कोई संदेश दे सकेंगी ? वह १६ दिसंबर से शुरू होता है।

अगर कुछ आ गया तो दे दूंगी।

'स' मुझे फूल दो। वहां एक गुलदान है जिसमें लाल फूल हैं। वहां। वे इन दोनों के लिये हैं। वहां।

('क' से) यह लो, तुम्हारे लिये।

('ख' से) और यह रहा तुम्हारा। तुम्हारे लिये तो पूरा भविष्य सामने है। तुम्हें तोड़ना पड़ेगा . . .। जानते हो, विचार में तुम अभी तक पुरानी आदतों से बंधे हो। तुम हमेशा से यहीं रहते आये हो, लेकिन इसका तुमने पर्याप्त लाभ नहीं उठाया, तुम अभीतक बहुत ज्यादा वैसे हो . . .।

तो अब, तुम्हें यह लेना होगा, सब कुछ तोड़ना होगा, सब कुछ तोड़ना होगा, सब कुछ तोड़ना होगा। ऊपर से जो प्रकाश आता है उसी के सहारे जीना होगा। अपनी चेतना को मुक्त करो, मुक्त करो। यह जरूरी है। अच्छा हुआ कि तुम आये। तुम अभीतक बहुत बंद हो, इस तरह, पुरानी आदतों से बंधे हो और . . . और अभीतक, एक और चीज है, अभी पूर्वजता आदि का बोझ है . . .। यह सभी के लिये है, लेकिन फिलहाल केवल . . .। मैं अभीतक तुम्हें मुक्त कर रही हूं। तुम अभीतक ऐसे हो . . . ऐसे . . . ऐसे . . . ऐसे . . . सोचने की तुम्हारी पुरानी आदतें, सीखने की तुम्हारी पुरानी आदतें, तुम्हारी पुरानी आदतें—बहुत पुरानी नहीं—सिखाने की पुरानी आदतें। तो यह सब : उन्हें तोड़ दो ! इस तरह . . . यह जरूरी है कि जब तुम कक्षा में जाओ, तो रोज कक्षा में जाने से पहले एक प्रकार की प्रार्थना करो, 'परम चेतना' का आह्वान करो, और उनसे इस दल का निर्देशन करने के लिये सहायता मांगो, इस जीवंत पदार्थ की राशि को उनके प्रभाव में लाने के लिये सहायता मांगो। तब यह कितना मजेदार और जीवंत हो जायेगा . . .। तो यह बात है।

पुनर्दर्शनाय।

और अब, 'घ' के लिये, एक गुलाब।

('घ' से) यह लो। यह देखो, यह ज्यादा क्रियाशील है। तुम इसे न देख पाओगी, पर यह अधिक क्रियाशील है।

लेकिन नारियां, नारियां सिद्धांततः कार्यकारिणी शक्ति हैं। यह कभी नहीं भूलना चाहिये। और प्रेरणा ग्रहण करने के लिये, अगर तुम्हें जरूरत मालूम हो तो पुरुष की

चेतना से सहारा ले सकती हो। 'परम चेतना' ज्यादा निश्चित होती है, लेकिन फिर भी, अगर तुम्हें माध्यम की जरूरत हो . . .। लेकिन कार्य करने के लिये, तुम्हारे अंदर ही वह शक्ति है जो समस्त संगठन की शक्ति के साथ, सभी ब्योरों में जा सकती है। मैं संसद् की नारी-सदस्यों में यह चीज भरने में लगी हूं—तुम्हें मालूम है संसद् में नारियां हैं और मैं उनको यह सिखा रही हूं: वे पुरुष के आगे दब्बू न बनें। तुम्हारे अंदर कार्यान्वयन की शक्ति है। इसका प्रभाव पड़ेगा।

('क' और 'ख' से) ओह! यह तुम्हें नीचा दिखाने के लिये नहीं है (हंसी) . . .। प्रेरणा आती है . . . कार्यान्वयन . . .। लो बस।

तो मैं तुम्हें दे चुकी, तुम्हें दे चुकी . . .। ('स' से) तुम्हें—तुम्हें मैंने नहीं दिया। वहां!

लो। और यह 'ग' के लिये है।

तो, मेरे बच्चो, पुनर्दर्शनाय।

('क' से) और अगर तुम्हें जरूरत पड़े तो हमेशा लिख सकते हो। मैं नहीं कहती कि मैं तुरंत जवाब दूंगी, लेकिन इस तरह (माताजी माथे पर हाथ रखती हैं), मैं तुरंत जवाब देती हूं। यह तुम्हें सीखना होगा, क्यों! इस तरह (लिखने का संकेत) समय लगता है। फिर भी, मुझे सूचना देते रहना अच्छा है।

'क': जी हां, माताजी।

पुनर्दर्शनाय।

८ फरवरी, १९७२

'क' : जबतक हम किसी नयी पद्धति को निश्चित कर लें, तबतक अपने-आपको तैयार करने का सबसे अच्छा उपाय क्या है ?

स्वभावतः, वह है अपनी चेतना को विस्तृत और प्रबुद्ध करना—लेकिन यह कैसे किया जाये ? तुम्हारी अपनी चेतना... उसे विस्तृत और प्रबुद्ध करना। और, अगर तुम, तुममें से हर एक, अपने चैत्य पुरुष को पा सके और उसके साथ एक हो सके तो सभी समस्याएं हल हो जायेंगी।

चैत्य पुरुष मनुष्य में भगवान् का प्रतिनिधि है। तो यह बात है, समझे—भगवान् कोई दूर की चीज या पहुंच के बाहर नहीं हैं। भगवान् तुम्हारे अंदर हैं परंतु तुम उनके बारे में सचेतन नहीं हो। बल्कि तुम... अभी वे एक प्रभाव की जगह 'उपस्थिति' के रूप में काम कर रहे हैं। लेकिन होनी चाहिये एक सचेतन 'उपस्थिति', तुम्हें हर क्षण अपने-आपसे यह पूछ सकना चाहिये, क्या है... कैसे... भगवान् इसे किस तरह देखते हैं। यह ऐसा है : पहले भगवान् कैसे देखते हैं, और फिर भगवान् कैसे चाहते हैं, और फिर भगवान् कैसे कार्य करते हैं। और यह अगम्य देशों में जाकर नहीं, ठीक यहीं। केवल, अभी के लिये, समस्त पुरानी आदतें और व्यापक निश्चेतना एक प्रकार का ढक्कन रख देती हैं जो हमें देखने और अनुभव करने से रोकता है। तुम्हें... तुम्हें उसे उठाना, तुम्हें उसे ऊपर उठाना पड़ेगा।

वस्तुतः, तुम्हें सचेतन यंत्र बनना पड़ेगा ... सचेतन ... भगवान् के बारे में सचेतन।

साधारणतः इसमें पूरा जीवन लग जाता है, या कभी-कभी, कुछ लोगों को कई जीवन लगते हैं। यहां, वर्तमान अवस्था में, तुम इसे कुछ ही महीनों में कर सकते हो। क्योंकि जो... जिनमें तीव्र अभीप्सा है वे कुछ महीनों में कर सकते हैं।

(लंबा मौन)

क्या तुमने कुछ अनुभव किया है ?

बिलकुल सच कहो। क्या तुमने कुछ अनुभव किया, या तुम्हारे लिये कोई फर्क नहीं पड़ा ? पूरी सच्चाई के साथ कहो। हां तो ? कोई उत्तर नहीं देता। (माताजी हर एक से बारी-बारी से पूछती हैं और सब अपनी प्रतिक्रिया बताते हैं।)

'ख' : मधुर मां, मैं जानना चाहता हूं कि कोई विशेष अवतरण हुआ था ?

कोई अवतरण नहीं होता। यह एक गलत विचार है : कोई अवतरण नहीं होता। यह

एक ऐसी चीज है जो हमेशा यहां है लेकिन तुम उसे अनुभव नहीं करते। कोई अवतरण नहीं होता : यह बिलकुल गलत विचार है।

क्या तुम जानते हो कि चौथा आयाम क्या होता है ? जानते हो वह क्या है ?

'ख': हमने उसके बारे में सुना है . . .

तुम्हें अनुभव है ?

'ख': नहीं, मधुर मां।

आह ! लेकिन वास्तव में आधुनिक विज्ञान का यह सबसे अच्छा प्रस्ताव है : चतुर्थ आयाम। हमारे लिये, भगवान् ही चतुर्थ आयाम है . . . चतुर्थ आयाम के भीतर है। वह हर जगह है, है न, हर जगह हमेशा। वह आता-जाता नहीं है, वह है, हमेशा, हर जगह। यह तो हम, अपनी मूर्खता के कारण उसे अनुभव नहीं कर पाते। चले जाने की कोई जरूरत नहीं है, बिलकुल नहीं, बिलकुल नहीं, बिलकुल नहीं।

अपने चैत्य पुरुष के बारे में सचेतन होने के लिये, तुम्हें चतुर्थ आयाम को अनुभव कर सकने के योग्य होना चाहिये, वरना तुम यह नहीं जान सकते कि वह क्या है ?

हे भगवान् ! सत्तर वर्ष से मैं जानती हूं कि चतुर्थ आयाम क्या है . . . सत्तर वर्ष से भी ज्यादा से !

(मौन)

अनिवार्य, अनिवार्य ! जीवन वहीं से शुरू होता है। अन्यथा तुम मिथ्यात्व में, गड़बड़-झाले में और भ्रांति में और अंधकार में रहते हो। मन, मन, मन, मन ! अन्यथा, अपनी चेतना के बारे में सचेतन होने के लिये, तुम्हें उसे मानसिक रूप देना होगा। यह भयंकर है, भयंकर ! लो बस।

'क': माताजी, नया जीवन पुराने का ही प्रवाह नहीं है, है न ? वह अंदर से उमड़ता है।

हां, हां . . .

'क': दोनों में कोई चीज समान नहीं है . . .

है, है, लेकिन तुम उसके बारे में सचेतन नहीं हो। लेकिन तुम्हें होना चाहिये, होना चाहिये . . .। मन तुम्हें उसे अनुभव करने से रोकता है। तुम्हें होना चाहिये . . .। तुम हर चीज को मानसिक रूप दे लेते हो, हर चीज को . . .। तुम जिसे चेतना कहते हो वह चीजों के बारे में सोच-विचार है, तुम उसी को चेतना कहते हो : चीजों के बारे में

सोच-विचार। लेकिन यह वह चीज बिलकुल नहीं है, यह चेतना नहीं है। चेतना को बिलकुल स्वच्छ और **शब्दहीन** होना चाहिये।

(मौन)

वहां, हर चीज ज्योतिर्मय और ऊष्मा-भरी होती है... **बलवान्!** और शांति, सच्ची शांति, जो जड़ता नहीं है, जो **निश्चेष्टता** नहीं है।

'क': और, माताजी, क्या सब बच्चों को यह लक्ष्य के रूप में बताया जा सकता है?

सबको... नहीं। वे सब एक ही उम्र के नहीं हैं, चाहे भौतिक रूप से उनकी उम्र एक ही क्यों न हो। ऐसे बच्चे हैं जो... जो अभी प्राथमिक अवस्था में हैं। तुम्हें...। अगर तुम अपने चैत्य पुरुष के बारे में पूरी तरह सचेतन हो तो तुम्हें यह जान सकना चाहिये कि कौन-से बच्चों की अंतरात्मा ज्यादा विकसित है। ऐसे बच्चे हैं जिनमें चैत्य पुरुष अभी बिलकुल प्रारंभिक अवस्था में है। चैत्य पुरुष की उम्र समान नहीं है, नहीं, बिलकुल नहीं। साधारणत: चैत्य पुरुष को अपना पूरा गठन करने में कई जीवन लग जाते हैं, और वही एक शरीर से दूसरे शरीर में जाया करता है और इसीलिये हमें अपने पूर्वजन्मों का भान नहीं होता: क्योंकि हमें अपने चैत्य का भान नहीं होता। लेकिन कभी-कभी, ऐसे क्षण होते हैं जब चैत्य पुरुष किसी घटना में भाग लेता है; वह सचेतन हो जाता है, और उसकी स्मृति रह जाती है। कभी-कभी व्यक्ति को... व्यक्ति को आंशिक स्मृति होती है, किसी घटना या परिस्थिति की स्मृति, या किसी विचार या किसी क्रिया की स्मृति, इस तरह: यह चैत्य के सचेतन होने के कारण होता है।

देखो यह कैसे होता है, अब मैं सौ के पास पहुंच रही हूं, बस, अब पांच वर्ष की देरी है। वत्स, मैंने पांच वर्ष की अवस्था से सचेतन होने का प्रयास शुरू कर दिया था। यह तुम्हें यह बताने के लिये है...। और अभी मैं चलती चली जा रही हूं, और यह प्रयास भी जारी है। केवल...। निश्चय ही, मैं अब एक ऐसे बिंदु पर आ गयी हूं जहां मैं शरीर के कोषाणुओं के लिये काम कर रही हूं, लेकिन फिर भी, काम बहुत पहले शुरू हो गया था।

यह तुम्हें हतोत्साह करने के लिये नहीं, बल्कि... तुम्हें यह बताने के लिये है कि यह काम बस, यूं ही नहीं हो जाता!

शरीर... शरीर एक ऐसे पदार्थ का बना हुआ है जो अभीतक बहुत भारी है, और 'अतिमन' के अभिव्यक्त होने के लिये स्वयं पदार्थ को बदलना होगा।

तो, यह बात है।

१४ फरवरी, १९७२

छोटे बच्चों के साथ काम की व्यवस्था की निरंतरता बनाये रखने के बारे माताजी ने कहा :

लेकिन एक बात है, एक बात है जो मुख्य कठिनाई है : वे हैं मां-बाप। जब बच्चे मां-बाप के साथ रहते हैं तो मैं उसे बिलकुल आशाविहीन मानती हूं, क्योंकि मां-बाप चाहते हैं कि उनके बच्चे को वैसी ही शिक्षा मिले जैसी स्वयं उन्हें मिली थी, और वे चाहते हैं कि उन्हें अच्छी नौकरी मिल जाये, और वे पैसा कमायें—वे सभी चीजें हों जो हमारी अभीप्सा से उल्टी हैं।

जो बच्चे अपने मां-बाप के साथ रहते हैं . . . वास्तव में, मुझे पता नहीं क्या किया जाये। मां-बाप का उनपर बहुत प्रभाव होता है और अंत में वे उन्हें कहीं और, किसी अन्य विद्यालय में जाने के लिये कहते हैं।

और यह, सब कठिनाइयों से—सबसे—यह सबसे बड़ी कठिनाई है : मां-बाप का प्रभाव। और अगर हम उस प्रभाव के विरुद्ध क्रिया करें तो मां-बाप हमसे घृणा करने लगेंगे और तब स्थिति पहले से भी खराब होगी, क्योंकि वे हमारे विरुद्ध अप्रिय बातें कहेंगे। लो बस।

यह मेरा अनुभव है। सौ में से निन्यानवे बच्चों ने मां-बाप के कारण कुमार्ग लिया है।

मुझे यह अनिवार्य लगता है। हमें एक परिपत्र भेजना चाहिये : "जो मां-बाप यह चाहते हैं कि उनके बच्चों को साधारण रीति से शिक्षा मिले और वे अच्छी नौकरी पाने के लिये, अपनी आजीविका के लिये और शानदार जीवन के लिये पढ़ें, उन्हें अपने बच्चों को यहां न भेजना चाहिये।" लो बस।

हमें करना चाहिये . . .। और यह बहुत जरूरी है।

देखो, ऐसे बहुत-से, हां, बहुत-से मां-बाप हैं जो अपने बच्चों को यहां इसलिये भेजते हैं कि यहां और जगहों से कम खर्च पड़ता है। और यह सबसे खराब है, सबसे खराब। हमें . . . हमें . . . हमें उनसे कहना होगा : "अगर तुम अपने बच्चों को शानदार जीवन के लिये शिक्षा देना चाहते हो, चाहते हो कि वे धन कमाएं तो उन्हें यहां मत भेजो।" लो बस।

'क' : माताजी, हम एक परिपत्र तैयार करेंगे, मैं आपको दिखा लूंगा। मैं 'ख' आदि के साथ मिलकर तैयार करूंगा।

ऐसे बच्चे थे जो बहुत अच्छी तरह चल रहे थे और यहां बहुत खुश थे। वे छुट्टियों में

मां-बाप के पास गये और बिलकुल बदलकर और बिगड़कर लौटे। और तब अगर हम उनसे यह बात कहें तो यह और भी बुरी बात होगी क्योंकि तब मां-बाप उनसे कहेंगे : "ओह, ये लोग बुरे हैं, ये तुम्हें हमारे विरुद्ध कर रहे हैं।" तो होना यह चाहिये . . . मां-बाप बच्चों को यहां भेजें उससे पहले उन्हें पता होना चाहिये।

मेरा यह अनुभव बरसों से, बरसों से, इतने बरसों से रहा है, इतने बरसों से! खतरा बच्चों से नहीं है, आलस्य से नहीं है, यह बात भी नहीं है कि बच्चे विद्रोही हैं : संकट, महासंकट हैं मां-बाप।

जो लोग अपने बच्चों को यहां भेजें उन्हें समझ-बूझकर भेजना चाहिये, वे बच्चों को यहां इसलिये भेजें क्योंकि यह अन्य सभी स्थानों से भिन्न है। और बहुत-से ऐसे हैं जो नहीं आयेंगे . . .। और जो केवल इसलिये आते हैं कि यहां खर्च कम है, हां तो, वे भेजना बंद कर देंगे।

जब अध्यापक चलने को हुआ तो माताजी ने कहा :

मैं चाहूंगी . . . मैं चाहूंगी बच्चे यहां भेजने से पहले लोगों को हमारे विद्यालय की वृत्ति का पता हो, क्योंकि वह एक बुरी अवस्था होती है जब बच्चे खुश हैं पर मां-बाप खुश नहीं होते; और इससे बड़ी ऊटपटांग और कभी-कभी खतरनाक परिस्थितियां पैदा हो जाती हैं। यह बहुत जरूरी है, बहुत जरूरी!

१८ फरवरी, १९७३

'क' : आज मैं आपके सामने 'ट' का एक पत्र पढ़ूंगा। उसने अपनी कक्षाओं के बारे में पत्र दिया है। आप जानती हैं कि इस वर्ष उसने छोटे बच्चों के साथ काम शुरू किया है।

ओह !

'क' : वह लिखती है : "हम हर बच्चे के लिये पूर्ण रूप से विकसित होना संभव बनाना चाहते हैं और, सबसे बढ़कर, हम चाहते हैं कि उसकी सीखने की इच्छा सहज बनी रहे।" (पत्र में कुछ प्रस्तावित खेलों का वर्णन है, जो चीजें उनके लिये बनायी गयी हैं, उनकी तथा सामूहिक कार्यक्रम की बात है, फिर वह कहती है :) "लेकिन चूंकि बच्चों की सभी प्रवृत्तियों को खुल-खेलने का अवसर तभी मिलता है जब उन्हें पर्याप्त स्वतंत्र क्षेत्र प्राप्त हो, इसलिये कई कठिनाइयां सिर उठाती हैं, विशेष रूप से शोर-शराबे को तथा उनकी गतिविधि को संयत रखना मुश्किल होता है। अभी कुछ दिन पहले, उन्होंने मेकैनो से तलवारें और पिस्तोलें बनायी थीं।"

ओह !

'क' : (जारी रखता है) : "हमने उन्हें अभिनय के लिये एक नाटक दिया है, इस आशा से दिया है कि वे कुछ समय के बाद ठंडे पड़ जायेंगे। लेकिन हिंसा की इच्छा, लड़ाई—या जासूसी कहानियों तक—की पसंद के लिये क्या किया जाये ?"

तुम्हारे पास लिखने के लिये कुछ है ?

'क' : जी हां।

जबतक मनुष्य अपने अहंकार और उसकी कामनाओं के वश में है तबतक हिंसा जरूरी है . . .। ठीक है ?

'क' : जी हां, माताजी।

लेकिन हिंसा का उपयोग केवल आत्म-रक्षा में, जब किसी पर आक्रमण हो तब किया

जाना चाहिये। जिस लक्ष्य की ओर मानवजाति गति कर रही है और जिसे हम चरितार्थ करना चाहते हैं, वह है एक ऐसी प्रकाशमान समझ की अवस्था जिसमें हर एक की और साथ ही समग्र सामंजस्य की आवश्यकताओं का ख्याल रखा जाता है।

'क': जी हां, माताजी।

भविष्य को हिंसा की जरूरत न होगी, क्योंकि उसमें दिव्य 'चेतना' का राज होगा जिसमें हर चीज दूसरी के साथ सामंजस्य में रहती और एक दूसरे को पूरा करती है।
यह काफी है ?

'क': जी। अभी आपने जो कहा है, उसे मैं पढ़े देता हूं, माताजी। (पढ़ता है)

यह ठीक है ?

'क': जी हां, माताजी। बिलकुल ठीक।
तो, एक सामान्य रीति से, वह पूछती है कि जब इस तरह की चीजें सिर उठायें, जब बच्चे इस प्रकार की बातों में व्यस्त हों तो : 'हमें बीच में पड़ना चाहिये, या तबतक प्रतीक्षा करनी चाहिये जबतक कि इस प्रकार की गति दबकर लुप्त न हो जाये ?

तुम्हें . . . तुम्हें बच्चों से प्रश्न करने चाहिये और उनसे अचानक पूछना चाहिये : "क्या तुम्हारे दुश्मन हैं ? कौन हैं ये दुश्मन ?" तुम्हें यह कहना चाहिये . . .। तुम्हें उनसे थोड़ा बोलवाना चाहिये . . .। चूंकि वे देखते हैं . . . सेना में एक बल और एक सुन्दरता है जिसे बच्चे बहुत जोर से अनुभव करते हैं। लेकिन उसे बनाये रखना चाहिये। सिर्फ, सेनाओं का उपयोग आक्रमण करने और जीत लेने के लिये नहीं करना चाहिये, बचाव करने और . . .

'क': रक्षा।

. . . और रक्षा। ठीक है।
पहले उसे यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये : अभी के लिये, हम ऐसी अवस्था में हैं जब हथियारों की जरूरत है। हमें यह समझ लेना चाहिये कि यह एक संक्रमण अवस्था है—यह अंतिम नहीं है, लेकिन हमें उस ओर बढ़ना चाहिये।
शांति--शांति, सामंजस्य—को चेतना के परिवर्तन के स्वाभाविक परिणाम के रूप में होना चाहिये।